आचार्य कुन्दकुन्द

संस्कृत टीका
आचार्य जयसेन

हिन्दी टीका
आचार्य ज्ञानसागर

पद्यानुवाद
आचार्य विद्यासागर

प्राप्ति स्थल

ज्ञानोदय नवयुवक सभा
लार्डगंज जैन मंदिर, जबलपुर (म. प्र.)

संतोषकुमार जयकुमार जैन
कटरा बाजार, सागर (म. प्र.)

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव
के पावन वर्षारम्भ पर

समयसार आचार्य कुन्दकुन्द
ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर (म. प्र)
प्रथम संस्करण–१९६९

द्वितीय (संशोधित) संस्करण १९८७

देय–**तीस रुपये**

मुद्रक—**अनिल मुद्रणालय, जबलपुर**

SAMAYSAR BY ACHARYA KUNDKUNDA

प्रथम संस्करण से

आज के भौतिकता-प्रधान युग में भी हमारे पुण्योदय से हमें अध्यात्म की अजस्र धारा परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थराज समयसार के रूप में उपलब्ध है। इस ग्रन्थराज को पढ़कर असंख्य जीवों ने अपना कल्याण किया है और भविष्य में करते रहेंगे। श्री आचार्य चारित्र विभूषण ज्ञानमूर्ति १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के अजमेर के विगत चातुर्मास में सिद्धकूट चैत्यालय नशिया में ग्रन्थराज समयसार का प्रवचन उनके द्वारा हुआ। पूज्य गुरुदेव ने विशेष दृष्टि समयसार को समझने की हमें दी। इस दृष्टि से कुछ मतभेद होते हुए भी उसका समादर हुआ। महाराजश्री ने समयप्राभृत के श्लोकों की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका का हिन्दी रूपान्तर किया और अपने हिन्दी विशेषार्थों में यह नई दिशा स्वाध्यायप्रेमियों को दी है। जयसेनस्वामी ने समयसार ग्रन्थ मुख्यतया वीतराग–निर्विकल्प-समाधि में स्थित साधुजनों के कल्याणार्थ रचा है, जब कि पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने गुणस्थान की परिपाटी के परिपेक्ष्य में उसे घटित नहीं किया है।

श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बाल ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में शिक्षा प्राप्त की और पंडित भूरामल जी शास्त्री के रूप में अनेक ग्रन्थों की पांडित्यपूर्ण रचना की है जिनकी साहित्यिक छटा देखते ही बनती है। इनमें से कतिपय ग्रन्थ जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, दयोदय, भद्रोदय, सम्यक्त्वसार शतक एवं विवेकोदय हैं। आचार्य श्री १०८ वीरसागर जी के संघ में स्थित मुनिराजों एवं त्यागियों को आपने विधिपूर्वक पढ़ाया है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के आप उद्भट विद्वान हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट धार्मिक विषय को आप बड़े सरल शब्दों से सुस्पष्ट करते हैं। अपने आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा ली और उनके प्रमुख शिष्य हुए। आप आगमानुकूल मुनिचर्या की बड़ी कठोरता से पालन करते आ रहे हैं और इस वृद्धावस्था में भी उसमें कहीं शिथिलता का लवलेश भी दिखाई नहीं देता। किंचित् विश्रामकाल के अतिरिक्त दिनरात का आपका समय ध्यान, अध्ययन एवं अध्यापन में ही व्यतीत होता है। आचार्य समन्तभद्र द्वारा रत्नकरंड श्रावकाचार के निम्नलिखित श्लोक में साधु के जिस स्वरूप का वर्णन है वह हमें आचार्य ज्ञानसागरजी में पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

नवयुवक मनोज्ञ मुनि १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा समारोह के अवसर पर ग्रन्थ प्रकाशन हेतु समाज से कुछ धनराशि एकत्रित हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य महानुभावों ने भी इस शुभकार्य में

अपना योगदान दिया। इस धनराशि से इस अनुपम ग्रन्थराज का प्रकाशन हो सका। एतदर्थ सब दानी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

सबसे अधिक हम १०८ स्व. आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के आभारी हैं जिनके पास अजमेर से कतिपय व्यक्ति ग्रन्थ प्रकाशन के लिये आशीर्वाद लेने हेतु प्रतापगढ़ गये। तब आचार्य श्री ने स्वयं बड़ा उत्साह एवं हर्ष प्रकट कर तथा ब्र० पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार सा०, एवं बहुश्रुत विद्वान मुनिराज श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज ने इस कार्य की अत्यन्त सराहना करके हमारे उत्साह की अभिवृद्धि की। न मालूम भविष्य की किस अंधकारग्रस्त परिस्थिति का संकेत पाकर स्व० आचार्य श्री ने अपना आंतरिक हर्ष प्रकट कर तथा अपने ग्रन्थ का वेष्टन ही आशीर्वाद रूप में देकर इन व्यक्तियों को विदा किया और कहा कि इस कार्य को अविलम्ब सम्पन्न किया जावे। हमें क्या पता था कि उनके इस शीघ्रता के संकेत में क्या रहस्य छिपा था।

ब्रह्मचारी प्यारेलाल जी ने अथक परिश्रम करके ग्रन्थराज की प्रेस-कापी तैयार की एवं प्रूफ संशोधन का कठिन कार्य भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ। हमारे शब्द कोष में शब्द नहीं है कि जिनके द्वारा हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें।

ग्रन्थराज की अनुक्रमणिका के तैयार करने में ब्र० पं० रतनचन्दजी सा० मुख्तार सहारनपुर ने अपना अमूल्य समय दिया। हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

ग्रन्थ के संशोधन आदि कार्य में नगर के प्रतिष्ठित विद्वान् पं० विद्याकुमार जी सेठी का सहयोग सदैव मिलता रहा। हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

ग्रन्थराज के प्रकाशन के विभिन्न अंगों का समन्वय करने में मेरे मित्र श्री छगनलालजी पाटनी ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। एतदर्थ वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। सूरज प्रिण्टर्स के व्यवस्थापक श्री इन्द्रचन्द जी पाटनी एवं पदमकान्त जैन के अथक परिश्रम एव तत्परता को भी इस समय हम स्मरण करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। इनके सिवा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जिन-जिन महानुभावों का ग्रन्थराज के प्रकाशन में हमें सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबके प्रति अत्यन्त विनम्रतापूर्वक हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

इन दो शब्दों के साथ पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सुदीर्घ जीवन के लिए परमप्रभु देवाधिदेव अरहंतदेव से प्रार्थना करते हुए हम इस ग्रन्थराज को समाज एवं विद्वन्मंडली के समक्ष रखते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

मनोहरलाल जैन
एम. ए., एल-एल. बी., बी. टी.
प्रधानाध्यापक
राजकीय उच्च. माध्यमिक विद्यालय
श्रीनगर (अजमेर)

श्रीनगर (अजमेर)
१-७-६९

सम्प्रति

मैंने कई लोगों से कहते सुना आचार्य विद्यासागरजी को कि, 'समयसार, वह भी हिन्दी में पढ़ना है तो आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज की टीका से पढ़ो'। गुरोराज्ञा या आचार्य-निर्देश मान कर कतिपय श्रावकों ने उसे मँगा कर उसका अध्ययन किया, किन्तु कुछ समय बाद प्रथम संस्करण की प्रतियाँ भी दुर्लभ हो गईं। फलतः स्वाध्याय में विघ्न आने लगा। वर्षों के अभाव के बाद कुछ श्रावकों एवं स्वयं आचार्य श्री की मनोभावना हुई कि इसका पुनः मुद्रण क्यों न हो जाए ?

समयसार जैसे ग्रन्थराज का प्रकाशन सहज नहीं, उस पर भी पूर्व मुद्रित प्रति में अशुद्धियों की बहुलता। इस कारण इसे डा० पन्नालाल जी साहित्याचार्य को दे दिया गया। उन्होंने इसे शुद्ध करने का सार्थक पुरुषार्थ किया। शुद्धि की योजना में मुद्रित, हस्तलिखित एवं ताडपत्रीय, सभी प्रकार की २८ पुस्तकों का संचय किया। हस्तलिखित प्रतियों में अधिकांश वे ही प्रतियां चुनी गयीं, जिनसे अभी तक प्रकाशन होता रहा है अथवा पुरातन हों। जैसे— टीकमगढ़ से पं० ठाकुरदास जी की, दिल्ली से पञ्चायती मन्दिर की आदि। इन प्रतियों में भी पर्याप्त शुद्ध पाठ न होने के कारण निरन्तर असुविधा रही। अतः ताडपत्रीय प्रति का भी सहारा लेने की भावना हुई। जो कि शक सं० १७०४ में लिखित श्रवणबेलगोला की थी। यह प्रति ही सर्वप्राप्त प्रतियों में सर्वाधिक प्राचीन एवं शुद्ध प्रति थी। अतः इसे ही आदर्श प्रति मानकर शुद्धिकरण किया। प्रसन्नता है कि इसमें ऐसे भी शुद्ध पाठ नजर आये जो अद्यावधि सम्पादित प्रतियों में अलभ्य हैं। शेष प्रतियों से गृहीत पाठ टिप्पण में दिये गये हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि प्रतियों की बहुलता में सभी पाठभेद ले पाना सम्भव नहीं था अतः बहुलक पाठ ही संग्रहीत हैं। प्राकृत भाषा में बहुविकल्पक रूपों की सिद्धि होना भी पाठ लेने में परेशानीकारक लगी, इससे वे ही पाठ गृहीत किये गये जो अर्थवैषम्य या पदवैषम्य को प्रकट करते थे।

प्रस्तुत प्रति में प्राकृत के मूलपाठ की योजना आदर्श प्रति तथा आचार्य जयसेन द्वारा पद खण्डन में उद्धृत पदावली से मानी गयी किन्तु जहाँ पदखण्डन का अभाव है वहाँ टीकागत छायानुरूप पदों-शब्दों से स्वीकृत की गयी है। हस्तागत प्रति में आचार्य जयसेन द्वारा उल्लिखित ४३९ गाथाओं को ही मूलरूप में माना गया है। जिसकी परिगणना उनके द्वारा कथित उत्थानिका पदों से की गयी है। उनके अनुसार प्रत्येक अधिकारों में कथित व प्राप्त गाथाएँ निम्नानुसार हैं —

	कथित गाथाएँ	मुद्रित प्रतियों में प्राप्त गाथाएँ
पीठिका	१४	१४
नवपदार्थाधिकारारम्भ	१	१
जीवाधिकार	२८	२८
अजीवाधिकार	३०	३०
कर्तृकर्माधिकार	७८	७९
पुण्यपापाधिकार	१९	१९
आस्रवाधिकार	१७	१७
संवराधिकार	१४	१४
निर्जराधिकार	५०	५०
बन्धाधिकार	५६	५६
मोक्षाधिकार	२२	१९
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	१४+९६=११०	१४+९६=११०
	४३९	४३७

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कथित गाथाओं की अपेक्षा लब्धगाथाओं में न्यूनता है। इसलिए सम्भावित गाथाओं की खोज की तथा पाया मोक्षाधिकार में तीन गाथाएँ कम हैं तथा कर्तृकर्माधिकार में 'जइ जीवेण सहच्चिय' गाथा नं० १४७/१३९ अतिरिक्त भी है, कारण इस पर जयसेनाचार्य की टीका नहीं है, तथा ताडपत्रीय प्रति में भी इसका उल्लेख नहीं है। इस तरह इस गाथा को मूलगाथाओं से हटा देने पर तथा मोक्षाधिकार में तीन गाथाएँ जोड़ देने पर उनकी संख्या कथितक्रमानुरूप हो जाती है। मोक्षाधिकार की तीन गाथाओं के योग के साथ प्रस्तुत प्रति में एक संशोधन और किया गया है, वह है टीका सम्बन्धी। मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों में गाथा नं० ३१८, ३१९, ३२० और ३२१ आदि की टीका में आत्मख्याति ही उपलब्ध है तात्पर्यवृत्ति नहीं। यह पाठकों का सौभाग्य ही मानें जो हमें परिश्रमसाध्य तात्पर्यवृत्ति मिली उसे आत्मख्याति के स्थान पर समायोजित किया गया। यह विषय विद्वानों की दृष्टिपथ का विषय हो विमर्श योग्य भी होगा।

संशोधन के क्रम में अधिकारों के नामकरण भी आचार्य जयसेन के निर्देशानुसार किये गये हैं। ज्ञातव्य है कि उन्होंने मात्र दश अधिकार ही परिगणित किये हैं। इससे स्पष्ट है कि पीठिका एवं स्याद्वादाधिकार अधिकाररूपेण भिन्न हैं। आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा गृहीत एवं आचार्य जयसेन द्वारा अटीकायित गाथाओं को पादटिप्पण में अर्थ व पद्यानुवाद सहित दिया गया है। प्रस्तुत प्रति में गाथाओं का क्रम भी आदर्शप्रति के ही अनुरूप रखा गया है।

संशोधन की इस प्रमुख वार्ता के बाद आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र एवं जयसेन के परिचय, समय निर्णय एवं व्यक्तित्व-कृतित्व के बारे में कथनीय हो सकता है। लेकिन हम इस कथनीय विषय को यहाँ आवश्यक नहीं मान रहे हैं, यतः डा. ए. चक्रवर्ती, डा. ए. एन. उपाध्ये, पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार', पं. कैलाशचन्द जी, पं. नाथूराम प्रेमी एवं पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य प्रभृति विद्वानों ने इस विषय में विस्तृत विमर्श किया है, जो सर्वत्र उपलब्ध है। अतः उसे यहाँ देना पिष्ट-पेषण करना ही होगा। विषय-वस्तु का संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त मधुर संभाषण आचार्य विद्यासागर जी ने अन्तरघटना में किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य जयसेन, आचार्य ज्ञानसागर एवं आचार्य विद्यासागर जी, इन चार आचार्यों के विचारों को संकलित किया गया है। जिसमें पाठकगण एक ही विषय में इन मनीषी

आचार्यों के विचारों–चिन्तन में सूक्ष्मता-सहजता-जिनशासनगत सम्यगुपदेश की परम्परा में अद्भुत सामंजस्य देख सकें और पा सकें इनकी अनुभूति में अनुपम समरसता।

अन्त में कृतज्ञता ज्ञापन की बात और कर दूँ जो आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो सकती है–है। इस क्रम में सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के मूलकर्त्ता को स्मृति में ला रहा हूँ। उनके प्रति कृतज्ञता क्या होगी ? सिवा इसके कि इस अकथनीय / अनुभवनीय व गहरी साधनाओं / सम्यगवधारणाओं की विषय-वस्तु 'समयसार' को जीवन में लयकर अपने को धन्य-धन्यतम करें और करें सार्थक अपने साधकपने को। समयसार की इन गहराईयों को आम पाठक तक छू जाने वाला बनाने वाले आचार्यद्वय जयसेन और ज्ञानसागर जी की कृतज्ञता शब्दों से परे होगी, मात्र इसके कि उनके द्वारा कथिताशयानुरूप ही इसको जानें-मानें-कहें। इसी तरह के गुणानुवाद से हम अपने को कृतज्ञ मानते हैं। सिन्धु को बिन्दु में अवगाहित करा देने वाले युवा व मनोज्ञ मुनि आचार्य विद्यासागर जी की तो पाठकों पर असीम कृपा ही है जो उन्होंने इसके प्रकाशन की चिन्ता व्यक्त की तथा अपने शब्द (कुन्दकुन्द का कुन्दन व अन्तर घटना) इसमें प्रकाशन हेतु स्वीकार किये। इस दुरूह ग्रन्थ को सहज गेय/ज्ञेय बनाकर उन्होंने दुर्मेधस पाठकों को सुगम कर अनुपम उपकार किया है।

कृतज्ञता ज्ञापन के इन क्षणों में पाण्डुलिपि के संशोधन में पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के मिले सहयोग को विस्मृत नहीं कर सकते, साथ ही श्रवणबेलगोला के पं. देवकुमार जी शास्त्री भी अविस्मृत ही हैं यतः ताडपत्रीय प्रति से शुद्धिकरण की व्यवस्था में मुख्यतः इनका ही सहयोग था। ताडपत्रीय प्रति की देवनागरी लिपि की फोटो प्रति कराकर कुन्दकुन्द भारती ने श्री सुरेशचन्द जी हौजखास दिल्ली द्वारा उपलब्ध करायी एतदर्थ साधुवाद। इस समय हमें अपने निकट सहयोगी भाई ब्र. जिनेश जी शास्त्री एवं भाई डा. जिनेन्द्र जी भी याद आ रहे हैं, जिनकी मददगारी का कोई जवाब नहीं।

इस बहुमूल्य ग्रन्थ के प्रकाशन में 'ज्ञानोदय प्रकाशन' कतई समर्थ नहीं होता यदि हमें 2/3 भाग आर्थिक सहयोग सागर के तीन साधुमना व्यक्तियों ने प्रकाशन पूर्व ही प्रति सुरक्षित कराकर न दिया होता तो। अतः उनकी उदारता की याद अपरिहार्य ही है। दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र एवं भाई अभिनन्दन अनिल मुद्रणालय के पार्टनर व उनके सहयोगी-समूह को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिनके कारण ही इस ग्रन्थ को साफ-सुथरा बना सकने का योग मिला और अन्त में उन सभी महानुभावों का ऋणी हूँ जिन्होंने इस कार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुदान दिया।

'ज्ञानोदय प्रकाशन' ने इस कार्य का भार उठाकर हजारों-हजार पाठकों की कमी को दूर करने का जो प्रयास किया, उसका सम्यगवलोकन-सिंहावलोकन मैं अपने पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि वे स्वयं देखें और पायें कि इसके प्रयास ने आपका कितना विश्वास हासिल किया है और आगे कितनी योजनाएँ आपके दिल में पैदा कर दी हैं।

मैं चाहता हूँ कि आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दि महोत्सव के पुनीत अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द के नाम के साथ-साथ उनके ग्रन्थों का भी आम व्यक्तियों तक प्रचार-प्रसार किया जाए, जिससे देश, धर्म और व्यक्तियों के बीच पड़ती दरारों को भरा जा सके। साथ ही इनके उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखा निर्माण कर इन्हें नवजीवन–आध्यात्मिक जीवन प्रदान किया जा सकें।

पिसनहारी, जबलपुर
२५-६-८७

राकेश जैन

निश्चय से क्यों नहीं ? इसका उत्तर	६२	५९
निश्चय और व्यवहार के विरोध का परिहार	६३-६५	६०-६१
जीव का वर्णादि से पार्थक्य	६६ ७३	६२-६९
कर्तृकर्म महाधिकार		
आत्मा और आस्रव में भेद न जानना कर्मबंध का प्रमुख कारण	७४-७५	७०-७२
भेदज्ञान से ही कर्ममुक्ति-सर्वमुक्ति	७६-७९	७२-७९
ज्ञानी व अज्ञानी आत्मा का लक्षण और उनके स्वकर्तृत्व का निरूपण	८०-८५	७९-८४
आत्मा और कर्म के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिकपना	८५-८८	८५-८६
आत्मा के कर्तृकर्म और भोक्तृभोग्यभाव	८९-९०	८७-८९
द्विक्रियाकारित्व का प्रसंग तथा निषेध	९१-९८	९०-९६
पर के अकर्तृत्व का ज्ञान, कर्तृत्वमुक्ति का कारण	९९-१०४	९७-१०४
जीव अपने योग और उपयोग का कर्ता है अन्य पदार्थ का नहीं	१०५-११५	१०५-११५
मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म के कर्त्ता	११६-११९	११६-११८
उपयोग के समान क्रोधादिक से आत्मा की अभिन्नता में दोष	१२०-१२२	११९-१२१
इसी सन्दर्भ में सांख्यादि मतों का निदर्शन	१२३-१३०	१२२-१२९
निस्सङ्ग और जितमोह साधु का स्वरूप	१३१-१३३	१३०-१३२
ज्ञानी ज्ञानमयभाव का व अज्ञानी अज्ञानमयभाव का कर्त्ता, इसका सकारण कथन	१३४-१४६	१३२-१४१
पुद्गलकर्म का परिणमन जीव से पृथक्	१४७	१४२
कर्म आत्मा से बद्धस्पृष्ट है या नहीं	१४८-१४९	१४३-१४५
स्वसमय का ज्ञाता पक्षातिक्रान्त होता है	१५०-१५१	१४५-१४८
पुण्यपापाधिकार		
शुभाशुभकर्मों का स्वभाव सदृष्टान्त	१५२-१५६	१४९-१५२
राग बन्ध का तथा विराग मोक्ष का कारण	१५७	१५३
ज्ञान मोक्ष का हेतु	१५८	१५४
परमार्थ में अस्थित पुरुषों का व्रत-तप बालव्रत-तप हैं	१५९-१६०	१५५-१५६
परमार्थ से बाह्यपुरुष पुण्याकांक्षी होता है	१६१	१५७-१५८
मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप	१६२	१५८-१५९
परमार्थाश्रित मुनियों के कर्मक्षय	१६३	१६०
दृष्टान्तपूर्वक मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूपमल का वर्णन	१६४-१६६	१६१
कर्म सम्यग्दर्शनादि गुणों के आच्छादक हैं	१६७-१७०	१६२-१६४
आस्रवाधिकार		
आस्रव का स्वरूप	१७१-१७२	१६५-१६७
सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव व बन्ध नहीं	१७३	१६७-१६८
राग, द्वेष मोह ही आस्रव है	१७४	१६९
निर्जीर्ण कर्म का फलाभाव	१७५	१७०
ज्ञानी के नवीन द्रव्यास्रव का अभाव	१७६-१७७	१७०-१७२

ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन बन्ध का हेतु	१७८-१७९	१७२-१७४
द्रव्य प्रत्यय के रहते भी ज्ञानी निरास्रवी	१८०-१८३	१७४-१७७
राग, द्वेष, मोह रूप आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं	१८४-१८५	१७७-१८०
अज्ञानी के पूर्वबद्ध प्रत्यय नवीन कर्मबन्ध के हेतु	१८६-१८७	१८१-१८२

संवराधिकार

कर्मसंवर का हेतु उपयोग को उपयोगमय जानना	१८८-१९०	१८३-१८५
कर्मोदय से तप्त ज्ञानी सुवर्णवत् अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता और अज्ञानी च्युत होता है	१९१-१९२	१८५-१८६
शुद्धात्मा एवं अशुद्धात्मा को जानने वाले क्रमशः शुद्धता व अशुद्धता पाते हैं	१९३-१९६	१८७-१८९
परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे ?	१९७-१९८	१९०-१९१
संवर का क्रम	१९९-२०१	१९१-१९४

निर्जराधिकार

सम्यग्दृष्टि के कार्य निर्जरा के निमित्त	२०२	१९५-१९६
भाव निर्जरा का स्वरूप	२०३	१९७-१९८
ज्ञानी के ज्ञान एवं वैराग्य की सामर्थ का स्वरूप	२०४-२०६	१९९-२०१
सम्यग्दृष्टि ज्ञायकभाव को अपना मानता है	२०७-२१०	२०२-२०५
रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता	२११-२१२	२०५-२०६
ज्ञानी भोगाङ्काक्षी नहीं होता	२१३-२१४	२०७-२०९
ज्ञानी परद्रव्य को न अपना मानता है और न उसे ग्रहण करता है	२१५-२१७	२१०-२११
भेदज्ञान का स्वरूप	२१८-२२८	२१२-२२१
वीतरागी कर्मबन्ध से रहित होता है	२२९-२३८	२२१-२२५
सराग परिणामों से बन्ध व वीतराग परिणामों से मोक्ष होता है	२३९-२४२	२२६-२२८
सम्यग्दृष्टि के निःशङ्कितादि आठ अङ्गों का वर्णन	२४३-२५१	२२८-२३६

बन्धाधिकार

बन्ध के कारण रागादि भाव हैं	२५२-२५६	२३७-२३९
वीतराग सम्यग्दृष्टि के बन्ध का अभाव	२५७-२६१	२४०-२४१
अज्ञानी और ज्ञानी की विचारधारा	२६२-२६५	२४२-२४६
मिथ्याध्यवसान बन्ध का कारण	२६६-२६८	२४६-२४७
कोई किसी को दुःखी सुखी करता है ऐसा बहिरात्मा मानता है	२६९-२७३	२४८-२५०
अध्यवसान बन्ध का कारण	२७४-२८६	२५०-२५८
अध्यवसान से रहित मुनि कर्मबन्ध से अलिप्त रहते हैं	२८७-२८८	२५९-२६०
अध्यवसान के नामान्तर	२८९	२६१
व्यवहारनय, निश्चयनय द्वारा प्रतिषिद्ध	२९०	२६२
अभव्य व्रतादि को पालते हुए भी अज्ञानी होता है	२९१	२६४
श्रद्धानहीन ज्ञान मोक्षसाधक नहीं	२९२-२९३	२६४-२६५
व्यवहार व निश्चय का स्वरूप तथा प्रतिषेध्य प्रतिषेधक भाव	२९४-२९५	२६५-२६७

ज्ञानी के आहारकृत बन्ध नहीं	२९६-२९९	२६८-२६९
रागादि उत्पत्ति के कारणों का सदृष्टान्त वर्णन	३००-३०४	२७०-२७३
ज्ञानी रागादि का अकर्त्ता क्यों ? इसका उत्तर	३०५-३०७	२७३-२७६
मोक्षाधिकार		
बन्ध के कारणों के अभाव में ही मोक्ष होता है	३०८-३१४	२७७-२८१
बन्ध से विरक्त ही कर्म से मुक्ति पाता है	३१५	२८१
जीव तथा बन्ध के पृथक्करण के साधन	३१६-३२३	२८२-२८६
परभावों से जीव सापराध होता है	३२४-३२६	२८७-२८८
अपराध के एकार्थी शब्द	३२७	२८८-२८९
निश्चय व व्यवहार की दृष्टि में प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादि का स्वरूप	३२८-३२९	२९०-२९२
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार		
द्रव्य निजगुणपर्यायों से अनन्य अभिन्न होता है	३३०-३३३	२९३-२९५
ज्ञानावरणादि का आत्मा के साथ बन्ध होना अज्ञान के माहात्म्य से ही सम्भव	३३४-३३७	२९६-२९८
अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता व ज्ञानी ज्ञाता होता है	३३८	२९८
निरपराध जीव निःशङ्क रहता है	३३९	२९९
अभव्य शास्त्रज्ञ होकर भी अज्ञानी	३४०	२९९-३००
रागरहित ज्ञानी कर्मफल का ज्ञाता है भोक्ता नहीं	३४१-३४३	३००-३०७
एकान्त से आत्मा को कर्त्ता मानने वालों के मोक्ष नहीं	३४४-३५०	३०८-३१३
निश्चयनय से आत्मा व पुद्गलकर्म कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं	३५१-३५४	३१४-३१६
शुद्धनय से जीव कर्मों का अकर्त्ता व अशुद्धनय से रागादि का कर्त्ता होता है	३५५-३५९	३१७-३२०
कर्म की निमित्तता और आत्मा की उपादानता	३६०-३७२	३२०-३२८
'दर्शन-ज्ञान-चारित्र' गुणों का सहेतु वर्णन	३७३-३७८	३२८-३२१
परमार्थ से अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य के गुणों का विघातक नहीं	३७९	३३२
कर्तृकर्म का भेद व्यवहार में है निश्चय में नहीं	३८०-३८६	३३३-३३६
ज्ञान ज्ञेय को जानकर भी उससे तन्मय नहीं होता	३८७-३९६	३३७-३४२
निश्चय प्रतिक्रमणादि का स्वरूप	३९७-४००	३४२-३४५
निंदा स्तुति आदि के पौद्गलिक वचनों को सुनकर ज्ञानी रोष-तोष नहीं करता	४०१-४१०	३४५-३५१
कर्मफल को निजरूप में वेदने वाला पुनः कर्मबन्ध करता हैं	४११-४१३	३५२-३५६
शास्त्र व वर्णादिक आत्मा से भिन्न है	४१४-४२८	३५७-३६३
अमूर्तिक आत्मा आहारादि को ग्रहण नहीं करता	४२९-४३१	३६३-३६५
लिंग मोक्ष के साधन नहीं, मात्र रत्नत्रय ही हैं	४३२-४३५	३६६-३६९
मोक्षमार्ग में रत रहने का उपदेश	४३६	३६९-३७०
बाह्यलिंगों में आत्मबुद्धि रखने वाले समयसार के ज्ञाता नहीं	४३७	३७०-३७१
व्यवहारनय बाह्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग में सहकारी मानता है निश्चयनय नहीं	४३८	३७१-३७४
समयसार को परमार्थ से पढ़ने का फल	४३९	३७५-३७८
स्याद्वादाधिकार		
स्याद्वाद का स्वरूप, उसकी विस्तृत विवेचना और ग्रन्थकर्त्ता का जयघोष		३७८-३८२

समयसार

व्याख्यानरूपेण **'ववहारोऽभूदत्थो'** इत्यादिसूत्रद्वयम् । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा !

अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्धेन मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्धेन तु समयसारग्रन्थव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं ॥१॥

'वंदित्तु' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **वंदित्तु** निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वन्दित्वा कान् ? **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किंविशिष्टान् ? **पत्ते** प्राप्तान् । कां ? **गदिं** सिद्धपरिणतिम् । कथंभूताम् ? **धुवं** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वराम् । **अमलं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनशुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलाम् अथवा **अचलम्** इति पाठान्तरे द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेनस्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलाम् । **अणोवमं** निखिलोपमानरहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वस्वभावसहितत्वेन अनुपमाम् । एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति ।

भावणा'' इत्यादि दो सूत्र हैं । इसके आगे पाँचवें स्थल में निश्चय-व्यवहार नामक दोनों नयों का व्याख्यान करते हुए **"ववहारोऽभूदत्थो"** इत्यादि दो गाथायें हैं । इस प्रकार पाँच स्थलों में चौदह गाथाओं के द्वारा समयसार ग्रंथ की पीठिका का व्याख्यान करने में समुदाय पातनिका है ।

अब सबसे प्रथम भगवान्कुन्दकुन्द गाथा के पूर्वार्द्ध में मंगल के लिए इष्ट-देवता को नमस्कार और उत्तरार्द्ध में समयसार के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय मन में धरकर पहला सूत्र कहते हैं—

अर्थ—अविनाशी निर्मल और उपमा रहित गति में विराजमान सब सिद्धों को नमस्कार करते हैं। भव्यजीवो ! मैं श्रुतकेवलियों द्वारा वर्णन किए हुए समयसार ग्रन्थ को कहूँगा ॥१॥

अब पदच्छेद करके अर्थ किया जाता है—

टीका—वंदित्तु निश्चयनय से तो अपने आप में ही आराधकभाव को स्वीकार करने रूप निर्विकल्पसमाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव–नमस्कार के द्वारा और व्यवहार नय से वचनात्मक द्रव्य–नमस्कार के द्वारा वंदना करके किनको ? **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिनका ऐसे सम्पूर्ण सिद्धों को **गदिं पत्ते** जो सिद्ध गति को प्राप्त हो गये हैं। **धुवं** जो सिद्धगति टंकोत्कीर्ण–एक–ज्ञायक–स्वभावरूप से अडिग है या अविनश्वर है **अमलम्** भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित होने के कारण तथा शुद्धस्वभाव सहित होने से निर्मल है अथवा **अचलम्** द्रव्य क्षेत्र, कालादि पंच प्रकार संसार परिभ्रमण से रहित तथा अपने स्वरूप में निश्चल होने से चलपने से रहित है। **अणोवमं** संसार में कोई भी उपमा नहीं होने से वह उपमा रहित है, ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध से सिद्धों को नमस्कार करके व उत्तरार्द्ध से संबंधाभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिए प्रतिज्ञा करते हैं कि **वोच्छामि**

मैं वन्दना कर उन्हें, शिवको, पधारे, जो सिद्ध हैं अतुल अव्यय सौख्य धारें ।
भाई ! वही समयसार सुनो सुनाता, जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ॥१॥

वोच्छामि वक्ष्यामि । किं **समयपाहुडं** समयप्राभृतं सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं । **इणं** इदं प्रत्यक्षीभूतं । **ओ** अहो भव्याः कथंभूतं ? **सुदकेवली भणिदं** प्राकृतलक्षणबलात्केवली-शब्ददीर्घत्वम् । श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितम् । अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेव-कथितमिति । सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यन्ते व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थः, व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति, तयोस्सम्बन्धो व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धः । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयस्तयोः सम्बन्धोऽभिधानाभिधेयसम्बन्धः । निर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥१॥

अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति—

कहूँगा **समयपाहुडं** समयप्राभृतग्रन्थ को सम्यक्–समीचीन अय-बोध, ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा । अथवा समम्–एकीभावेनायनम्-गमनं "समयः" अर्थात् एकमेकरूप से जो गमन उसका नाम समयः प्राभृत अर्थात् सार–शुद्धावस्था, इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुआ समय-प्राभृत । अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समयप्राभृत । **इणं ओ** अहो भव्यो ! वह समय-प्राभृत हमारे सामने है । **सुदकेवली भणिदं** प्राकृत भाषा के नियम अनुसार केवली शब्द दीर्घ है । श्रुत में–परमागम में जो केवली हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा कहा गया है अथवा श्रुतकेवली जो गणधरदेव उनके द्वारा कहा गया है ।

अब संबंध, अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं–व्याख्यान तो वृत्ति ग्रन्थ [टीका] व्याख्येय–व्याख्यान के प्रतिपादक सूत्र, इन दोनों का संबंध व्याख्यानव्याख्येय संबंध है । सूत्र तो वाचक हैं और सूत्र का अभिधेय–वाच्य है इन दोनों का संबंध 'अभिधान-अभिधेय' संबंध है । निर्विकार स्वसंवेदन–ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना इसका 'प्रयोजन' है ॥१॥

विशेषार्थ—इसमें आचार्य देव ने आराध्य–आराधक भाव की उपयोगिता, वाणी की प्रामाणिकता और अपने आपका ग्रन्थकर्तृत्व ये तीन बातें बतायी हैं । आराधक तो हम लोग संसारी छद्मस्थ हैं और आराध्य श्री सिद्धभगवान् हैं । उनकी आराधना करके हमलोग अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं । आराधना दो प्रकार की है (१) व्यवहार आराधना (२) निश्चय आराधना । वचन विकल्पात्मक व्यवहार आराधना है और निर्विकल्प समाधि में तन्मय होकर शुद्धात्मा का ध्यान करना निश्चय आराधना है । छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना होती है और सातवें से आगे निश्चय आराधना है । इन दोनों प्रकार की आराधनाओं के द्वारा छद्मस्थ आत्मायें अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को क्रमशः ढीला करते हुए नष्ट कर देती हैं ।

वाणी की सार्थकता—भगवान् अर्हन्तदेव की वाणी अथवा द्वादशांग के ज्ञाता–श्रुतकेवली गणधरादिक की वाणी प्रमाणभूत होती है जिसका संबंध इस ग्रन्थ से है और जिसके द्वारा हम सरीखे संसारी आत्माओं का भला होता है । इस ग्रन्थ के कर्त्ता स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य देव हैं जिनकी प्रामाणिकता को लेकर हमलोगों की इस ग्रन्थ के पढ़ने में अभिरुचि होती है ।

आगे गाथा के पूर्वार्द्ध से स्वसमय और उत्तरार्द्ध से परसमय को कहता हूँ ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्य देव आगे का सूत्र कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं[1] च, तं जाण परसमयं ।।२।।

'जीवो चरित्त' इत्यादि **'जीवो'** शुद्धनिश्चयेनशुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो **वा** जीवः । **चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण** स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा **भवति** तदा काले तमेव जीवं-हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि । तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणत-जीवपदार्थं हे शिष्य ! स्वसमयं जानीहि । **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं** पुद्गलकर्मोपदेशस्थि ं च तमेव जानीहि परसमयम् । तद्यथा–पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाःपूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रया-भावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यम् ।।2।।

अर्थ—समय शब्द का अर्थ ऊपर जीव बताया गया है वह मूल में दो प्रकार है एक स्वसमय और दूसरा परसमय । जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होकर [तद्रूप बनकर] रहता है वह स्वसमय [मुक्त जीव] है व जो पौद्गलिक कर्मोपदेशों में स्थित होकर रहता है वह परसमय [संसारी जीव] है ।।२।।

टीका—जीवो जो शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव रूप निश्चय प्राण के द्वारा तथा अशुद्धनिश्चयनय से क्षायोपशमिकरूप अशुद्ध-भाव-प्राणों द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से यथासंभव द्रव्यप्राणों द्वारा जो जी रहा है, आगे जीता रहेगा और जो पूर्व में जीता था, वह जीव है । **चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण** वह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस समय उसे स्वसमय समझो । अर्थात् विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूतिरूप वीतरागचारित्र है, इस प्रकार कहे गये लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत-जीव-पदार्थ को हे शिष्य ! तू स्वसमय समझ । **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं** पुद्गल कर्मोपदेश में स्थित उसी जीव को तू पर समय समझ । अर्थात् पुद्गल कर्मोदय के द्वारा उत्पन्न हुए जो नारकादि नामवाली संज्ञायें हैं उनमें पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय न होने से जो स्थित हैं उसे उस काल में परसमय समझो । इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानने योग्य है ।।२।।

विशेषार्थ—यह उपर्युक्त लेख तो तात्पर्यवृत्तिकार का है, आत्मख्याति में भी यही लिखा है कि जब यह सर्व पदार्थों के स्वभाव के प्रकाश करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेद-ज्ञान-ज्योति के उदय होने से सब परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप

जो शुद्धबोधव्रत दर्शन में समाता, होता निजी समय जीव वही सुहाता ।
रागादि का रसिक वो निजको भुलाया, माना गया समय में समया पराया ।।२।।

1—पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं, इति पाठान्तरः ।

अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबन्धेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं, न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानन्तरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयति,—इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्,

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे ।
बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

एयत्तणिच्छयगदो—स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः **समओ** समयशब्देनात्मा, कस्माद्धेतोः ? सम्यगयते गच्छति परिणमति । कान् ? स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः **सव्वत्थसुंदरो** सर्वत्र समीचीनः । क्व ? **लोगे** लोके अथवा सर्वत्रैकेन्द्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति । **बंधकहा** कर्मबन्धजनितगुणस्थानादिपर्यायाः । **एयत्ते** एकत्वे तन्मयत्वे या बन्धकथा प्रवर्तते **तेण** तेन पूर्वोक्त-जीवपदार्थेन सह सा **विसंवादिनी** विसंवादी कोऽर्थः ? विसंवादिनी कथा । प्राकृतलक्षणबलात् पुल्लिङ्गे

आत्मतत्त्व से एकरूप होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय है । और जब अनादि अविद्या रूप मूल वाले कंद के समान मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शनज्ञान स्वभाव में निश्चितवृत्ति रूप आत्मस्वरूप से छूट पर–द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भावों में एकरूप होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल के कार्माण प्रदेशों में स्थित होने से पर द्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा परिणमन करता है, तब परसमय है ।

अब अपने गुणों के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त हुआ ऐसा शुद्धात्मा ही उपादेय है और कर्मबंध के साथ एकमेक हुआ आत्मा हेय है । अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है इस अभिप्राय को मनमें धरकर इस सूत्र के पश्चात् इसी सूत्र की आवश्यकता है ऐसा निश्चयकर विवक्षित सूत्र कहते हैं इस प्रकार की उत्थानिका सर्वत्र जानना चाहिये––

अर्थ––जो जीव एकत्व के साथ निश्चितरूप से एक होकर रहता है वह इस संसार में सब ठौर सुन्दर है अर्थात् सबको सुहावना है । किन्तु उस एकत्व में बंध की कथा विसंवाद करने वाली है—अर्थात् एकाकीपन में बंध कभी संभव ही नहीं है, बंध सदा दो में होता है ॥३॥

टीका––एयत्तणिच्छयगदो अपने ही शुद्धगुण और पर्यायों में परिणमता हुआ अथवा अभेद रत्नत्रय में परिणमता हुआ एकता के निश्चय में प्राप्त हुआ **समओ** आत्मा-समय शब्द से आत्मा लेना योग्य है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सम्यक् अयते गच्छति परिणमति कान् स्वकीयगुणपर्यायान्' अर्थात् जो भले प्रकार अपने ही गुण और पर्यायों को परिणमन करे सो समय अर्थात् आत्मा **सव्वत्थ सुंदरो** सब ही ठिकाने सबको सुहावना है **लोगे** इस संसार में–सब ही एकेन्द्रियादि–अवस्था में शुद्धनिश्चयनय से सुन्दर है उपादेय है । **बंधकहा** किन्तु कर्म बंध से होने वाली गुणस्थानादिरूप पर्यायों से **एयत्ते** तन्मय होकर रहने में बंध कथा प्रवर्तती है **तेण** पूर्वोक्त जीव

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्त्ता, एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्ता ।
पै बन्धकी वह कथा दुखकारिणी है, अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिणी है ॥३॥

स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । विसम्वादिनी असत्या **होदि** भवति । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थः । ततः स्थितं स्वसमय एवात्मनः स्वरूपमिति ॥३॥

अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति—"सुदपरिचिदाणुभूदा" इत्यादि—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ॥४॥

सुदा श्रुता अनन्तशो भवति । **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनन्तशो भवति । **अणुभूदा** अनुभूतानन्तशो भवति । कस्य ? **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य । का सौ ? **कामभोगबन्धकहा** कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बन्धः सम्बन्धस्तस्य कथा । अथवा बन्धशब्देन प्रकृतिस्थत्यनुभागप्रदेशबन्धास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते । कामभोगबन्धानां कथा कामभोगबन्धकथा, यतःपूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव । **एयत्तस्य** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य ।

पदार्थ के साथ **विसंवादिणी** विसंवाद पैदा करने वाली अर्थात् गड़बड़ पैदा करने वाली **होदि** होती है वह असत्य है अर्थात् प्रशंसा योग्य नहीं है क्योंकि वह शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकता इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्यदेव ने बताया है कि संसारी आत्मा के साथ कर्मों का बंध है जो आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रकट नहीं होने देता । इसकी कथा यहाँ न करके यहाँ तो आत्मा के शुद्ध-स्वरूप की कथा की जा रही है ।

अब एकाकीपन को प्राप्त हुए शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुलभ नहीं है ऐसा कहते हैं—

अर्थ—काम, बन्ध और भोग की कथा तो सबही जीवों के सुनने में भी आई है, परिचय में भी आई है तथा अनुभव में भी आई है किन्तु सबसे पृथक् होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नहीं है ॥४॥

टीका—सुदा अनन्तवार सुनी गई है **परिचिदा** अनन्तवार परिचय में आई है **अणुभूदा** अनन्त वार अनुभव में भी आई है **सव्वस्स वि** सब ही संसारी जीवों के **कामभोगबंधकहा** काम शब्द से स्पर्शन और रसना, इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय लिये गये हैं । उनके बंध या संबंध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध एवं उसका फल नरनारकादिरूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम, भोग और बंध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत-परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नहीं, किन्तु सुलभ है । **एयत्तस्स** परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्पसमाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का **उवलंभो** उपलम्भ संप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले

हैं काम भोग विधिबन्धन की कथायें, भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथायें ।
एकत्व की निज कथा सुखदा अकेली, अत्यन्त दुर्लभ करूँ उस संग केली ॥४॥

उवलंभो उपलम्भः प्राप्तिर्लाभः। **णवरि** केवलं अथवा नवरि किन्तु **ण सुलभो** नैव सुलभः। कथंभूतस्यैकत्वस्य ? **विहत्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य। कथं न सुलभ इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥४॥

अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते--

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

तं तत्पूर्वोक्तम्। **एयत्तविहत्तं** एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः। **दाएहं** दर्शयेऽहम्। केन ? **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयमतिविभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति। **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेयं तदा। **पमाणं** स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं भवद्भिः। **चुक्केज्ज** यदि च्युतो भवामि। **छलं ण घेत्तव्वं** तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ॥ ५ ॥

अथ कोऽयं शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

आना **णवरि** वह केवल **ण सुलभो** सुलभ नहीं है **विहत्तस्स** कैसे एकत्व का ? रागादिसे रहित एकत्व का। क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया है ॥४॥

एकत्व सुलभ नहीं है अतः उसका कथन किया जाता है :--

अर्थ— मैं [कुन्दकुन्द आचार्य] अपने आपके ज्ञान से उस एकत्व-विभक्त का अर्थात् शुद्धात्मा का वर्णन कर बतलाऊंगा। यदि मैं बतला सकूं तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना ॥५॥

टीका--तं एयत्तविहत्त उस पूर्वोक्त एकत्वविभक्त शुद्धात्माका जो कि अभेदरत्नत्रयके साथ एकमेक होकर रहता है एवं मिथ्यात्व तथा रागादिसे रहित है ऐसे उस परमात्मा के स्वरूप को **दाएहं** दिखलाता हूँ **अप्पणो सविहवेण** अपने आपकी बुद्धि के वैभव से अर्थात् आगम, तर्क और परमगुरुओं के उपदेश के साथ होने वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा। **जदि दाएज्ज** यदि बतला सकूँ तो **पमाणं** अपने स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा तौलकर हे भव्यो ! आप लोग उसे स्वीकार करना। **चुक्केज्ज** यदि भूल जाऊँ तो **छलं ण घेत्तव्वं** दुर्जन के समान उलटा अभिप्राय नहीं ग्रहण कर लेना ॥५॥

विशेषार्थ--आचार्य देव ने इस गाथा में यह बात कही है कि भले आदमी को जो भी बात कहना हो वह आगम-परम्परा, युक्ति का बल और परमगुरुओं के आदेश व उपदेश के साथ अपने विचार में भी अच्छी प्रकार तौलकर कहना चाहिए।

अब शुद्धात्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं--

---

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता, एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता।
भाई ! दिखा यदि सका उरमें सुधारो, हो काश ! भूल इसमें छल हा ! न धारो ॥५॥

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धा णादा[1] जो सो दु सो चेव ॥६॥

गाथार्थ :- [यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न भवति] नहीं और [न प्रमत्तः] प्रमत्त भी नहीं है,– [एवं] इस प्रकार [शुद्धं] इसे शुद्ध [भणन्ति] कहते हैं; [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [सः एव] वही है, अन्य कोई नहीं।

विद्यन्ते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोऽपीत्युपदिशति—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

अर्थ—जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुए है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते हैं ॥६॥

टीका—णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जिसमें शुभ और अशुभ रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। यहाँ पर प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरतगुणस्थान तक ६ गुणस्थान और अप्रमत्त शब्द से अप्रमत्तादि अयोगकेवली पर्यन्त ८ गुणस्थान समझने चाहिए इनसे जो अतीत हैं **जाणगो दु जो भावो** वह केवल ज्ञायकभाव को प्राप्त हुआ ही शुद्धात्मा है। **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनय के जानने वाले कहते हैं **णादा जो सोदु सो चेव** कि उसे ज्ञाता कहो या शुद्धात्मा, एक ही बात है ॥६॥ इस प्रकार छः स्वतन्त्र गाथाओं द्वारा प्रथमस्थल पूर्ण हुआ।

आगे, जैसा कि जीव के प्रमत्तादिगुणस्थानों का विकल्प व्यवहारनय से है, शुद्धद्रव्यार्थिक-निश्चयनय से नहीं, उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भी विकल्प बताते हैं—

अर्थ—व्यवहार नाम अभेद में भेद कर बताने का है। इसके द्वारा ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र पृथक्-पृथक् बताये जाते हैं। किन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र कोई पृथक् न होकर उन सबसे समाविष्ट एक केवल ज्ञायक शुद्धात्मा ही है ॥७॥

गाथार्थ :- [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्] चारित्र, दर्शन, ज्ञान–यह तीन भाव [व्यवहारेण] व्यवहारसे [उपदिश्यते] कहे जाते हैं; निश्चयसे [ज्ञानं अपि न] ज्ञान भी नहीं है, [चरित्रं न] चारित्र भी नहीं है, और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [ज्ञायकः शुद्धः] शुद्ध ज्ञायक ही है।

१—सुद्धं णाओ इति पाठान्तरः।

ववहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिनो जीवस्य। किम् ? **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपम्। **णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनम्। तर्हि किमस्तीति चेत् ? **जाणगो** ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थः। यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि अभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषय-भेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥ ७ ॥

अथ यदि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचरित्राणि न सन्ति तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न—

टीका - ववहारेण सद्भूतव्यवहारनय से **उवदिस्सदि** कहा जाता है **णाणिस्स** कि ज्ञानी जीव के **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्र, दर्शन और ज्ञान है जो कि उसके स्वरूप में है। किन्तु **ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनय से तो न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। तो फिर क्या है ? कि **जाणगो** ज्ञायक मात्र है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव है **सुद्धो** जो कि रागादि रहित शुद्ध है। सार यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहार के द्वारा जो दहति अर्थात् जलाती है वह दाहक, पचति अर्थात् पचाती है वह पाचक, जो प्रकाश करती है वह प्रकाशक इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वही अग्नि तीन प्रकार भिन्न-भिन्न कर बतलाई जाती है, वैसे ही जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो आचरण करता है वह चारित्र। इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा विषय-भेद से वह जीव तीन प्रकार भिन्न-भिन्न कहा जाता है ॥७॥

विशेषार्थ—गाथा नं. २ में बताया गया था कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है अर्थात् शुद्ध आत्मा है एकत्वविभक्त है, इस कथन को लेकर शिष्य के मन में जिज्ञासा पैदा हुई कि आपके बताने में ही दर्शन-ज्ञान-चरित्र के द्वारा उसमें भेद है। इस शंका के निवारण करने के लिए आचार्य देव ने यहाँ बतलाया है कि वास्तव में तो आत्मा अनन्तगुणों का अखण्ड-पिंड-एक-ज्ञायकमात्र है। इसमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को भिन्न-भिन्न कर बतलाया गया है वह सद्भूतव्यवहारनय से बतलाया गया है। सद्भूतव्यवहारनय का काम है कि जो गुण, गुणी के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न-भिन्न कर बतलाये।

अब शिष्य कहता है कि जब शुद्धनिश्चयनय से दर्शन-ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से भिन्न नहीं हैं तो फिर उन्हें भिन्न-भिन्न क्यों कहा जाता है, एक परमार्थ रूप अखण्ड आत्मा का ही वर्णन करना चाहिए, व्यवहार की [भेद करने की] आवश्यकता ही क्या है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

जह णवि सक्कं यथा न शक्यः । कोऽसौ ? **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छः । किम् कर्तुम् ? **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण सम्बोधयितुम् । कथम् ? **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना । तथा दृष्टान्तो गतः । इदानीं दार्ष्टान्तिमाह—**तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनयेन विना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यमिति । अयमत्राभिप्रायः । यथा कश्चिद् ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव । तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेति भणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रान्त्या निरीक्षत एव । यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा सन्तुष्टो भूत्वा जानातीति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी अनार्य (अनाड़ी) पुरुष को उसकी भाषा में बोले बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के बिना नहीं हो सकता अर्थात् परमार्थ को समझाने के लिए व्यवहारनय का अवलंबन लिया जाता है ॥८॥

टीका—जह अणज्जो जैसे कि अनार्य पुरुष को **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा या म्लेच्छभाषा में बोले बिना **गाहेदुं णवि सक्कं** अर्थ ग्रहण नहीं कराया जा सकता । यह तो दृष्टांत हुआ, अब दार्ष्टांत पर आते हैं । **तह ववहारेण विणा** उसी प्रकार व्यवहारनय के बिना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता । यहाँ यह अभिप्राय है कि कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छों की बस्ती में चला गया, वहाँ किसी म्लेच्छ ने जब उन्हें नमस्कार किया तब उस ब्राह्मण या यति ने उसे 'स्वस्ति' इस प्रकार आशीर्वाद दिया तो 'स्वस्ति' का अर्थ जो "नहीं नष्ट होना है" उसको नहीं जानने के कारण वह मेंढे के समान इधर-उधर देखता है कि ये क्या कह रहे हैं । उसी प्रकार यह अज्ञानी [व्यवहारी] प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर आत्मा शब्द का क्या अर्थ है, इसको न जानता हुआ भ्रम में पड़कर इधर-उधर देखने लगता है कि ये क्या कह रहे हैं ? किन्तु जब किसी निश्चय और व्यवहार इन दोनों के अर्थ को जानने वाले पुरुष से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है ऐसा समझाया जाने पर वह सन्तुष्ट होकर समझ जाता है ॥८॥

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा भेद-अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ व्यवहारनय की उपयोगिता बतलाई है कि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन नहीं किया जा सकता और न उसे समझाया ही जा सकता है । अतः

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा, कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ।
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया, जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥८॥

अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति—

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।९।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
सुदणाणमाद सव्वं[1] जह्मा सुदकेवली तह्मा ।।१०।।(युगलम्)

जो यःकर्त्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन, **अहिगच्छदि** अभि समन्ताज्जानात्यनुभवति । कम् ? **अप्पाणं** आत्मानम् । **इणं** इमं प्रत्यक्षीभूतं **तु** पुनः । किम्विशिष्टम् ? **केवलम्** असहायं । **सुद्धं** रागादिरहितं । **तं** पुरुषं । **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिनम् । **इसिणो** परमऋषयः । **भणंति** कथयन्ति । **लोगप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम् ।

निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है । इसके साथ यह भी बतलाया है कि उस व्यवहारनय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि हैं, जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के तत्त्व को जानने वाले हैं ।

अब जैसा पूर्व गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय के द्वारा ही परमार्थ को जाना जा सकता है उसी के अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं—

अर्थ— जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ-भगवान् निश्चय-श्रुतकेवली कहते हैं । और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन-भगवान् द्रव्य-श्रुतकेवली कहते हैं ।

टीका—**जो हि सुदेणहिगच्छदि** जो जीव कर्त्ता करणता को प्राप्त हुए निर्विकल्पसमाधि-रूप स्वसंवेदनज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है **इणं अप्पाणं** इस प्रत्यक्षीभूत अपने आपकी आत्मा को, **केवलं** सहाय रहित, **सुद्धं** रागादि से रहित अनुभव में लाता है, **तं सुदकेवलिं** उस पुरुष को निश्चय-श्रुतकेवली **भणंति** कहते हैं । कौन कहते हैं ? **लोगप्प-दीवयरा इसिणो** लोकालोक के प्रकाशक परम-ऋषि कहते हैं । इस प्रकार इस गाथा के द्वारा

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा, शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा ।
है पूर्ण भाव-श्रुतकेवलि वो निहाला, ऐसा कहें ऋषि, करें जग में उजाला ।।९।।

जाना समस्त श्रुत को श्रुत-केवली हैं, ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं ।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से, हैं वन्द्य द्रव्य-श्रुतकेवलि वो इसी से ।।१०।।

---

[1] णाणं अप्पा सव्वं, इति पाठान्तरः ।

अथ 'जो सुदणाणं' इत्यादि—**जो** यः कर्त्ता। **सुदणाणं** द्वादशाङ्गद्रव्यश्रुतं। **सव्वं** सर्वं परिपूर्णं। **जाणदि** जानाति। **सुदकेवलिं** व्यवहारश्रुतकेवलिनं। **तमाहु जिणा** तं पुरुषमाहुः ब्रुवन्ति। के ते? जिनाः सर्वज्ञाः। कस्मादिति चेत्? **जह्मा** यस्मात्कारणात्। **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानम्। **आद** आत्मा भवति। कथम्भूतं? **सव्वं** सर्वमात्मसम्वित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा। **तह्मा** तस्मात्कारणात्। **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति। अयमत्रार्थः यो भावश्रुतरूपेण स्वसम्वेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न सम्वेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि स्वसम्वेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति? तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसम्वेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्॥ ९-१०॥

अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति—

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे॥११॥

निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया। **जो सुदणाणं** किन्तु जो पुरुष द्वादशांग-द्रव्य-श्रुत-ज्ञान को **सव्वं** परिपूर्ण रूप **जाणदि** जानता है **तं** उसे **जिणा** जिन-भगवान् **सुदकेवलिं आहु** द्रव्य-श्रुतकेवली कहते हैं। **जम्हा** क्योंकि **सुदणाणं** द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह **आद** आत्मा ही है **सव्वं** जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करने वाला और पर की परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है, **तम्हा** इसलिए **सुदकेवली** वह द्रव्य-श्रुतकेवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय-श्रुतकेवली होता है किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर रहा है, न उसकी भावना कर रहा है, केवल वहिर्विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार-श्रुतकेवली होता है।

प्रश्न—स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या? समाधान-यह है कि नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदनज्ञान पूर्व-पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्म्यध्यान होता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार-श्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ॥९-१०॥

अब गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेदरत्नत्रय की भावना का वर्णन करते हैं--

अर्थ—ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में दृढ़ता से भावना करनी चाहिए क्योंकि ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं। इसलिए आत्मा की भावना बार-बार करनी चाहिए॥११॥

सौभाग्य! बोध दृग की समुपासना हो, चारित्र की बस निरन्तर साधना हो।
तीनों अभिन्न गुण आतम के इसी से, हो जा विलीन निज-आतम में रुची से॥११॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रये भावनां खलु स्फुटं कर्त्तव्या भवति। तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ॥११॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥

यःकर्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिस्तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःख-मोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावना भावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् ॥१२॥

अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी पुनरप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले। कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

टीका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का पुनः पुनः अनुचिन्तन अवश्य ही स्पष्टरूप से करते रहना चाहिए। क्योंकि निश्चयनय से ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। इसलिए शुद्धात्मा की भावना भी हे भव्य! अवश्य करना चाहिए।

अब इस भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं—

अर्थ—जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है ॥१२॥

टीका—इस तात्पर्यवृत्ति का अर्थ मूल गाथा में आ चुका है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हुए दो गाथाओं के द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई ब्राह्मण आदि विशिष्ट-पुरुष म्लेच्छों को समझाने के समय में ही म्लेच्छभाषा को बोला करता है, अन्य काल में नहीं। उसी प्रकार ज्ञानी [संयमी] पुरुष भी अज्ञानी [असंयत] पुरुषों को प्रतिबोध देने के समय में ही व्यवहार का आश्रय लेता है और काल में नहीं, क्योंकि व्यवहार अभूतार्थ होता है ऐसा बतलाते हैं—

अर्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपनाकर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है ॥ १३ ॥

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को, भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके, सद्यः निवास करते शिव-धाम जाके ॥१२॥
भूतार्थ शुद्धनय है निज को दिखाता, भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता, सम्यक्त्व मंडित, वही मन-मैल धोता ॥१३॥

ववहारो व्यवहारनयः । **अभूदत्थो** अभूतार्थः असत्यार्थो भवति । **भूदत्थो** भूतार्थः सत्यार्थः । **देसिदो** देशितः कथितः । **दु** पुनः कोऽसौ ? **सुद्धणओ** शुद्धनयः निश्चयनयः । तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत् ? **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयम् । **अस्सिदो** आश्रितो गतः स्थितः । खलु स्फुटं । **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानम् । द्वितीयव्याख्यानेन पुनः । **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो । **भूदत्थो** भूतार्थश्च । **देसिदो** देशितः कथितः, न केवलं व्यवहारो देशितः । **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोऽपि । दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपीति व्याख्यानेन भूतार्थाभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम् । इदमत्र तात्पर्यं यथा कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकी जनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति । तथा स्वसम्वेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥१३॥

टीका—ववहारो व्यवहारनय **अभूदत्थो** अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है, **भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ** किन्तु शुद्धनिश्चयनय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है। इन दोनों नयों में किसका आश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है ? इसका समाधान करते हैं कि **भूदत्थं** भूतार्थ सत्यार्थरूप जो निश्चयनय है उसका **अस्सिदो** आश्रय लेकर उसमें पूर्णरूप से स्थिर होकर **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है इस प्रकार टीकाकार [अमृतचन्द्राचार्य] का एक व्याख्यान है। अब दूसरा व्याख्यान करते हैं। **ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो** व्यवहारनय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है, ऐसे दो प्रकार का कहा गया है। केवल व्यवहारनय ही दो प्रकार का नहीं, किन्तु **सुद्धणओ** निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार है, ऐसा गाथा में आये हुए 'दु' शब्द से प्रकट होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतकफल-निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदनज्ञानरूप भेद-भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभावपरिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है, किन्तु जो सम्यग्दृष्टि [संयत] मनुष्य होता है वह तो अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्ध-आत्मा का अनुभव करता है ॥१३॥

विशेषार्थ—यहाँ तात्पर्यवृत्तिकार ने इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक तो यह कि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है किन्तु इन्हीं आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहारनय भूतार्थ व अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार है, इसी प्रकार निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार है। उसमें भूतार्थ को आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है, किन्तु यहाँ पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिये, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् लेकर

अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति । किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषाञ्चित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषाय-दुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति-

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ॥१४॥

व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान् है ऐसा लेना चाहिये । जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ में वतलाया है ।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृतभाषा के विश्वलोचनकोश में जिस प्रकार सत्य वतलाया है उसी प्रकार उसका अर्थ 'सम' भी वतलाया है । अतः भूतार्थ का अर्थ जव कि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहने वाला अपने आप हो जाता है जिससे व्यवहारनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय इस प्रकार का अर्थ अनायास ही निकल जाता है । जो कि इतर आचार्यों के द्वारा भी सर्वसम्मत है और 'निश्चयनय को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है' यह वात भी कुन्दकुन्दाचार्य की सर्वथा ठीक बैठती है क्योंकि जव यह जीव जिस पर्याय में जाता है उस पर्यायरूप ही अपने आपको [पशु होने पर पशु, मनुष्य होने पर मनुष्य इत्यादि] मानता रहता है किन्तु जव अपने आपको पशु या मनुष्य इत्यादि रूप न मानकर, सदा शाश्वत रहने वाला, ज्ञान का धारक आत्मा मानने लगता है तव ही सम्यग्दृष्टि होता है ॥१३॥

जो पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थनय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान् हो, ऐसा नहीं है । किन्तु उन्हीं निर्विकल्प-समाधिरतों में किन्हीं २ को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय-कषायरूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् होता है । जैसे किसी को शुद्ध सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह, चौदह वानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है, ऐसा कहते हैं--

अर्थ—शुद्धनिश्चयनय शुद्ध-द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुए पुरुषों के द्वारा अङ्गीकार करने योग्य है । परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय ही कार्यकारी है ॥१४॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी, जीवे विशुद्ध-नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले, भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी संभाले ॥१४॥

सुद्धो शुद्धनयः निश्चयनयः । कथंभूतः ? **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । **णादव्वो** ज्ञातव्यो भावयितव्यः । कैः ? **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्म-भावदर्शिभिः । कस्मादिति चेत् ? यतः षोडशवर्णिकाकार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति, निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः । **पुण** पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषाम् ? **जे ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे** अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा । **ठिदा** स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः ? **भावे** जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः ॥ १४ ॥ एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पञ्चमं स्थलं गतं ।

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिका समाप्ता ।

टीका—सुद्धो सुद्धादेसो शुद्धनिश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है **णादव्वो परमभावदरसीहिं** वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है । क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान् होता है । **ववहारदेसिदो** किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहारनय है वह **पुण** पन्द्रह, चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिए प्रयोजनवान् है, **जे दु** जो लोग **अपरमे ट्ठिदा भावे** अशुद्धरूप शुभोपयोग में, जो कि असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सरागसम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत लोगों की अपेक्षा भेदरत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित हैं ॥१४॥

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान-प्रतिपादन करते हुए दो गाथाओं में पञ्चम स्थल पूर्ण हुआ । यहाँ तक १४ गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में पीठिका पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ—आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि संयत मनुष्य जब अभेदात्मक परम-समाधि में तल्लीन होकर रहता है उस समय वह शुद्धनिश्चयनय का आश्रय करने वाला है किन्तु उससे नीची अवस्था में क्या संयत, क्या संयतासंयत और क्या असंयत सम्यग्दृष्टि ये सभी व्यवहार-नय में प्रवृत्त रहते हैं उसके बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकता एवं क्षयोपशमज्ञान का धारी संयमी मनुष्य भी जब तक समाधि में स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल में वह शुभोपयोगी होता है पर संयतासंयत और सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते हैं क्योंकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुँच भी नहीं है ।

नवपदार्थाधिकाराः

अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति। विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति। तद्यथा—विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षण निर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभाविनिश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका। अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्व-विषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

कोई आसन्न भव्य जीव इस पीठिका मात्र व्याख्यान से हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभाव वाले अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसमें तल्लीन रहता है, किन्तु विस्तार रुचिवाला जीव नव अधिकारों से प्रस्तुत किये जाने वाले समयसार को जान-कर फिर आत्मभावना करता है। इसलिये विस्तार-रुचि शिष्य को लक्ष्य में रखकर जीवादि नव अधिकारों से समयसार का व्याख्यान किया जाता है। वहाँ पर सबसे पहले नव पदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है, उस गाथा में आर्त्त-रौद्र का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकल्प-सामायिक-समाधि में स्थित रहने वाले जो जीव हैं उनको, जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चयसम्यक्त्व या वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है, जो कि निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् उसे [वीतरागचारित्र को] साथ में लिये हुए रहता है और वही गुण-गुणी में अभेदरूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है, इस प्रकार एक उत्थानिका हुई। अथवा जीवादि-नवपदार्थ, जब भूतार्थनय से जाने जाते हैं तब ये ही भेद-उपचारनय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहारसम्यक्त्व के निमित्त होते हैं। निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है यह दूसरी पातनिका है। इस प्रकार दोनों पातनिकाओं को मनमें रखकर आगे का सूत्र कहते हैं—

अर्थ—निश्चयनय से निर्णय किये हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे हैं ॥ १५ ॥

ये पुण्य, पाप अरु जीव, अजीव आदि, होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों जब ये पदार्थ, सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' है यथार्थ ॥१५॥

भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन **अभिगदा** अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः सन्तः। के ते ? **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः। **सम्मत्तं** त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नवपदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम्। किञ्च,ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमात्मादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेऽपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः। परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते ॥ १५ ॥

इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता।

टीका–भूदत्थेण भूतार्थरूप निश्चयनय-शुद्धनय के द्वारा **अभिगदा** निर्णय किये हुए, निश्चय किये हुए, जाने हुए **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष स्वरूप जो नव पदार्थ हैं। वे ही **सम्मत्तं** अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से सम्यक्त्व हैं, किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से देखें, तब तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। अब शिष्य कहता है कि भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं, ऐसा जो आपने कहा उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए प्रारम्भिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं। फिर अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के काल में वे अभूतार्थ असत्यार्थ ठहरते हैं, अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते, किन्तु इस परम-समाधिकाल में तो उन नव पदार्थों में शुद्धनिश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है और जो वहाँ पर अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चयसम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है, ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे केवल परमात्मादि-तत्त्व विचारकाल में सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते हैं। वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, परम-समाधि काल में तो फिर वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं, उन सबमें भूतार्थरूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है ॥१५॥

विशेषार्थ–आचार्य देव के कहने का यहाँ पर सार यह है कि जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तथा पुण्य व पाप ये नव पदार्थ प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। ये सब आत्मा की ही भिन्न-भिन्न प्रकार की परिणतियां हैं जो कि प्रारम्भिक अवस्था में तो भिन्न-भिन्न जानकर स्वीकार की जाती हैं, किन्तु आगे चलकर निर्विकल्प अवस्था में ये सब ओझल होकर केवल एक शुद्धात्मा ही दृष्टिगोचर होता है, स्पष्ट प्रतीति में आता है जो कि उपादेय है। इस प्रकार ये नव पदार्थों के अधिकार की गाथा हुई।

जीवाधिकारः

तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकारः कथ्यते। तथाहि-सहजानन्दैक-स्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाण**मित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बन्धमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्त्तेति तृतीया चेत्येवं **कम्मे णोकम्महि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसम्बन्धनिरपेक्षस्वतन्त्रं गाथात्रयम्। तदनन्तरमिन्धनाग्निदृष्टान्तेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थम् **अहमेद**मित्यादि चतुर्थस्थले सूत्रत्रयम्। अतः परं शुद्धात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थम् **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि पञ्चमस्थले सूत्रत्रयम्। अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका। तदनन्तरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयम्। अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्म-संवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयम्। एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलम्। ततः

उन नव अधिकारों में सबसे पहले २८ गाथाओं से जीवाधिकार का वर्णन है। वहाँ पर भी सहजानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से **जो पस्सदि अप्पाणं** इत्यादि सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथायें हैं पश्चात् दृष्टांत और दार्ष्टांत से भेदाभेदरत्नत्रय की भावना को मुख्य करके **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि तीन गाथायें दूसरे स्थल में हैं। तत्पश्चात् जीव को अप्रतिबुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा है तथा बंध-मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली दूसरी गाथा है और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामों का ही कर्त्ता है इस प्रकार का कथन करने वाली तीसरी गाथा है। इस प्रकार **कम्मे णोकम्मम्हि य** इत्यादि तीसरे स्थल में परस्पर के संबंध से निरपेक्ष तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर ईंधन और अग्नि के दृष्टांत द्वारा अप्रतिबुद्ध के लक्षण का कथन करने के लिये '**अहमेदं**' इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पाँचवें स्थल में शुद्धात्म-तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण अभेदरत्नत्रय की भावना के विषय में जो जीव अनभिज्ञ है उसको समझाने के लिए **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व को नहीं जानता हुआ जीव, जो 'देह को ही आत्मा है, देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है' इस प्रकार का पक्ष रखता है, उसके स्वरूप का कथन करने के लिये **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्ष के रूप में एक गाथा है। इसके अनन्तर व्यवहार से पूज्य पुरुषों की देह का स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, जो इस प्रकार दोनों नयों में भेद है उसके प्रतिपादन की मुख्यता से **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथायें हैं। इसके आगे परम उपेक्षा है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के संवेदन स्वरूप निश्चयस्तुति को मुख्यता से **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार आठ गाथाओं में छट्ठा स्थल है। इसके पश्चात् सातवें स्थल में निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञान

परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरमनन्तज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मक-स्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकम् । एवं दण्डकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरन्तरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा

अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिका-वार्द्धिसुवर्णोष्ण्यरहितजलवत्पञ्चविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयति—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥

जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानाति । कं ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम् । कथंभूतम् ? **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्म-नोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत् । **अणण्णयं** अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् । **णियदं** नियतमवस्थितं निस्तरङ्गोत्तरङ्गावस्थासु समुद्रवत् । **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् । **असंजुत्तं** असंयुक्तमसम्बद्धं रागादि-

---

ही विषयकषायादि पर-द्रव्यों का प्रत्याख्यानस्वरूप है, ऐसा कथन करते हुए **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि चार गाथायें हैं । तत्पश्चात् अनंतज्ञानादि है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो अभेदरत्नत्रयात्मक स्वसंवेदन स्वरूप है, इस प्रकार उपसंहार की मुख्यता से **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि एक सूत्र गाथा है । इस प्रकार दण्डकों के सिवाय २८ सूत्रों से उत्पन्न हुए सात स्थलों से जीवाधिकार की समुदाय पातनिका हुई ।

अब पहली गाथा में तो यह बतलाते हैं कि संसार अवस्था में भी शुद्धनय से आत्मा अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इन पांच विशेषणों से युक्त है । जैसे कि कमलपत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है । इस प्रकार का कथन किया गया है—

अर्थ— जो आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है ॥१६॥

टीका—जो पस्सदि अप्पाणं जो शुद्धात्मा को जानता है, किस प्रकार ? **अबद्धपुट्ठं** जल में रहकर भी उससे अस्पृष्ट रहने वाले कमलपत्र के समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित **अणण्णयं** जैसे स्थास, कोश, कुशूल, और घटादि पर्यायों में मृत्तिका बनी ही रहती है, वैसे ही नरनारकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से आत्मा ही बनी रहती है । **णियदं** निस्तरंग और उत्तरंग [ज्वारभाटा] अवस्था में परिणमता हुआ समुद्र, समुद्र ही रहता है उसी प्रकार आत्मा सब

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से ।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें, वे ही 'विशुद्धनय' हैं, जिन यों पुकारें ॥१६॥

विकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति । **तं सुद्धणयं वियाणीहि** तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः ।। १६ ।।

अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं[1] पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१७।।

जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति । कं ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम् । किंविशिष्टम् ? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्टम् । अत्र बद्धशब्देन संश्लेषरूपबन्धो ग्राह्यः । स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत् । **अणण्णं** अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत् । **अविसेस** अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत् नियतमवस्थितं समुद्रवत् असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति । नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति । कथं लभ्यत

अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला है, **अविसेसं** जैसे गुरुता, स्निग्धता और पीतत्वादि धर्मों को स्वीकार किये हुए होकर भी स्वर्ण अभिन्न है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से अभिन्न है । **असंजुत्तं** जैसे जल वास्तविकता में उष्णता रहित होता है उसी प्रकार आत्मा रागादि विकल्प वाले भावकर्मों से भी रहित है । इस प्रकार जो आत्मा को जानता है **तं सुद्धणयं वियाणीहि** अभेदनय के द्वारा शुद्धनय का विषय होने से व शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय में परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिये ।।१६।।

विशेषार्थ—आचार्य देव का कहना है कि जो जीव [संयमी] जिस समय अपने आपको अबद्ध, अस्पृष्ट आदि पाँच भावात्मक अनुभव करता है उस समय वह स्वयं ही शुद्धनय स्वरूप है ।

अब आगे की गाथा में बतलाते हैं कि जो पहले हम शुद्धात्मा की अनुभूति का वर्णन कर आये हैं, वह ही निर्विकार-स्वसंवेदन-ज्ञान की अनुभूति है—

अर्थ जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदिरूप से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतमय द्वादशांगरूप पूर्ण जिन-शासन का जानकार होता है ।।१७।।

टीका—जो पस्सदि अप्पाणं जो शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है कि **अबद्धपुट्ठं** आत्मा अबद्धस्पृष्ट है । यहाँ बंध शब्द से संश्लेषरूप बंध और स्पृष्ट शब्द से संयोग मात्र का ग्रहण है । जो आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मों से जल में रहने वाले कमल के समान अस्पृष्ट है, **अणण्णं** घटादिक में मिट्टी के समान अपनी पर्यायों में अनन्य होकर रहता है निश्चयनय से परद्रव्य के संयोग से रहित है, **अविसेसं** कुण्डलादिक में स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है, अवस्थित है, जैसे कि शीतल जल अग्नि के संयोग से रहित है । यहाँ पर गाथा में नियत और असंयुक्त शब्द यद्यपि नहीं है तो भी सामर्थ्य से

आत्मा अबद्ध स्थिर-शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से ।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्ष-जेता, सूत्रार्थ का कथक आगम-पूर्ण-वेत्ता ।।१७।।

1 अपदेस संतमज्झं इति पाठान्तरः ।

इति चेत् सामर्थ्यात् । तदपि कथं ? 'श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः' इति वचनात् । स पुरुषः **पस्सदि** पश्यति जानाति । किं तत् ? **जिणसासणं** जिनशासनम् अर्थसमयरूपं जिनमतं । **सव्वं** सर्वं द्वादशाङ्गपरिपूर्णम् । कथम्भूतम् ? **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् । सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति यावत् । तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यत इति । अयमत्रभावः यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां । ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्माऽप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगन्धशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खण्डखण्डज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप एव इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति । किञ्च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम् ॥१७॥

ले लिये गये हैं क्योंकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्र में नहीं कही हुई बात भी प्रसंग से स्वीकार करली जाती है, ऐसी कहावत है । वह **पस्सदि जिणसासणं सव्वं** द्वादशांगरूप सम्पूर्ण अर्थात्मक जिनशासन को जानता है । कैसे जानता है ? **अपदेससुत्तमज्झं** "अपदिश्यते अर्थो येन"—जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाये वह अपदेश है इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है जिससे कि यहाँ पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्ति रूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है उसे ग्रहण करना, इस प्रकार जो द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो वह अपदेश-सूत्र-मध्य कहा जाता है । इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है फिर भी वह अज्ञानियों को फल, साग और पत्र साग आदि परद्रव्यों के संयोग से भिन्न-भिन्न स्वाद वाली जान पड़ती है, पर ज्ञानियों को तो वह एक खारी रस वाली ही प्रतीत होती है । उसी प्रकार आत्मा भी जो कि एक अखण्ड-ज्ञान स्वभाव वाली है वह निर्विकल्पसमाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियों को तो स्पर्श, रस, गंध, शब्द और नीलपीतादि वर्णमय ज्ञय पदार्थ के भेद से खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप जान पड़ती है, किन्तु जो ज्ञानी [निर्विकल्प-समाधि में स्थित] हैं उनको वही आत्मा एक अखण्ड-ज्ञानस्वरूप प्रतीत होती है । इस प्रकार अखण्ड-ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के जान लेने पर समस्त जिनशासन जान लिया जाता है. ऐसा समझकर समस्त मिथ्यात्वरागादि विभाव-भावों को दूर करके इस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह लिया गया है । ऐसा ही आगे जहाँ भी ये शब्द आयें तो उनका यही अर्थ लेना ॥१७॥

विशेषार्थ—लूण की डली जब साग इत्यादि में मिलाकर खाते हैं तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है । उसी प्रकार जो बाहरी विषय-कषायों में फँसे हुए हैं व रागादि रूप परिणत हैं उनको केवल शुद्धात्मा का अनुभव न होकर, रागादि मिश्रित ही अनुभव होता है । किन्तु जो बाहरी पदार्थों से सर्वथा दूर हटकर निर्विकल्प-समाधि में तल्लीन रहते हैं

अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति—

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१८॥

आदा शुद्धात्मा । **खु** स्फुटं । **मज्झ** मम भवति । क्व विषये ? **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये । योगे कोऽर्थः ? निर्विकल्प-समाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबन्धशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः । एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥ १८ ॥ इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते—

तद्यथा प्रथमगाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—

उन्हीं को शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यहाँ पर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प-समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प-समाधि में स्थित लिया गया है। ऐसा ही अन्य स्थान में भी समझना चाहिये ।

अब आगे की गाथा में यह कहा जाता है कि शुद्धात्म-भावना में परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि में समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादि प्राप्त होते हैं ।

अर्थ—मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एवं संवर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा ज्ञानी का विचार होता है ।

टीका—आदा खु मज्झ स्पष्ट रूप से मेरी तो एक शुद्धात्मा है । **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सब ही भावनाओं में एक आत्मा ही है। योग का क्या अर्थ है ? यहाँ योग से निर्विकल्पसमाधि को लिया गया है जिसको परमसामायिक या परमध्यान भी कहते हैं। उस परम समाधि में भोगाकांक्षा, निदान, बंध और शल्य आदि भाव से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथा हुईं ॥१८॥

अब भेदाभेदरूप रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही जा रही हैं। उसमें पहली गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेदरत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते हैं—

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यानगुण में लसता गुरो मैं ।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का, है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१८॥

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१९॥

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं । **ताणि पुण जाण तिण्णिवि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि । **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव । **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः । अयमत्रार्थः—पञ्चेन्द्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्प-समाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति ॥१९॥

अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिदूण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥

अर्थ—साधक को अपनी प्रारंभिक अवस्था में दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न २ रूप से भली प्रकार समझ कर स्वीकार करना चाहिए, किन्तु निश्चयनय को अंगीकार करने पर तो ये तीनों आत्मस्वरूप होते हैं ॥१९॥

टीका—दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य सदा ही इनकी उपासना करना चाहिये, अपने उपयोग में लाना चाहिये । **ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो** किन्तु शुद्धनिश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्म स्वरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों होते हैं ॥१९॥

अब उपर्युक्त भेदाभेदरत्नत्रय की भावना को दृष्टान्त और दार्ष्टांत से आगे दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं—

अर्थ— जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला जीव पहले राजा को राजा जानकर उस पर भरोसा करता है, फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है । उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीव रूपी

साधू चरित्र, दृग-बोध-समेत पाले, आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा ले ।
ज्ञानी नितान्त निजमें निज को निहारे, तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ॥१९॥

ज्यों निर्धनी धनिक की कर खोज पाता, आस्था धनार्थ उसमें फिर है जमाता ।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा, पश्चात् सहर्ष उसकी करता सुसेवा ॥२०॥

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥२१॥(युगलम्)

जह यथा । **णाम** अहो स्फुटं वा । **कोवि** कोऽपि कश्चित् । **पुरिसो** पुरुषः । **रायाणं** राजानं । **जाणिदूण** छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा । **सद्दहदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति । **तो** ततो ज्ञानश्रद्धानानन्तरं । **तं तं** राजानं । **अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति । कथंभूतः सन् ? **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको जीवितार्थी । **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टान्तगाथा गता । एवं अनेन प्रकारेण । **हि** स्फुटं । **जीवराया** शुद्धजीवराजो । **णादव्वो** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । **तह य** तथैव । **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः । **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनानुभवनीयः । **पुणो** पुनः । **सो चेव** स चैव शुद्धात्मा । **दु** पुनः । **मोक्खकामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टान्तिः । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिन्तयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतम् ॥२०–२१॥

राजाको जानकर उस पर भरोसा करते हुए प्रयत्न पूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिये ॥२०–२१॥

टीका––जह णाम को वि पुरिसो जैसे कोई भी पुरुष **रायाणं जाणिदूण सद्दहदि** छत्र चमर आदि राज चिह्नों से राजा को जानकर 'यही राजा है' ऐसा निश्चय करता है, **तो तं अणुचरदि** तदनन्तर उसका आश्रय लेता है, उसकी आराधना करता है **अत्थत्थीओ पयत्तेण** पूर्ण प्रयत्न से, क्योंकि वह धन का इच्छुक है । इस प्रकार दृष्टान्त हुआ । **एवं हि** इसी प्रकार **जीवराया** शुद्ध जीवराजा **णादव्वो** निर्विकार-स्वसंवेदन-ज्ञान से जानने योग्य है । **तह य** वैसे ही **सद्दहेदव्वो** नित्यानन्द स्वभाव वाला रागादि रहित ही शुद्धात्मा है ऐसा निर्णय करने योग्य है **अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु** तथा वही शुद्धात्मा आश्रय करने योग्य है––निर्विकल्प-समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है **मोक्खकामेण** मोक्ष के इच्छुक द्वारा, इस प्रकार यह दार्ष्टांत हुआ । तात्पर्य यह है कि हम संसारी आत्माओं का भेदाभेदरत्नत्रयात्मक भावनारूप परमात्म-चिंतन के द्वारा ही वांछित सिद्ध हो जाता है तो फिर इधर-उधर के शुभाशुभविकल्प जाल से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेदरत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

विशेषार्थ––यहाँ पर आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मुमुक्षु हैं, दुःखों से दूर होकर रहना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि संसार की इतर सब बातों को भूलकर केवल एक शुद्धात्मा को जानें, पहचानें और उसी में तल्लीन होकर रहें, बस यही एक कल्याण का मार्ग है ॥२०-२१॥

भाई ! इसी तरह आत्म-गवेषणा हो, श्रद्धा-समेत उसको फिर देखना हो ।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो, ध्यातव्य! मात्र मन में शिव-कामना हो ॥२१॥

अथ स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा–स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किन्तु कियत्कालपर्यन्तं इति न ज्ञायते एवं पृष्टे सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति —

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

कम्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च। **णोकम्मह्मि** य शरीरादिनोकर्मणि च। **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः। **अहकं च कम्मणोकम्मं** अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः, यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन। **जा** यावन्तं कालं। **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता। **खलु** स्फुटं। **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावजिनपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः। **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा। **हवदि** भवति। **ताव** तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः स्वयम्बुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभन्ते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवद-विकारा भवन्तीति भावार्थः ॥२२॥

आगे स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कही जाती हैं।

अब जिस जीव को आपा-परके भेद का ज्ञान नहीं है वह अज्ञानी होता है यह तो हम समझे, किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

अर्थ— जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'मैं कर्म-नोकर्म हूँ और ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं' ऐसी प्रतीति होती रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है ॥२२॥

टीका—कम्मे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म **णोकम्मह्मि य** तथा शरीरादि नोकर्म में **अहमिदि** 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है **अहकं च कम्मणोकम्मं** अथवा 'ये कर्म व नोकर्म मेरे हैं', इस प्रकार प्रतीति होती है। जैसे कि घड़े में वर्णादि गुण, और घटाकार परिणत पुद्गल स्कंध होते हैं। अतः वर्णादिक में जब तक घट इस प्रकार की अभेद प्रतीति होती है। **जा एसा खलु बुद्धी** उसी प्रकार कर्म-नोकर्म के साथ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है। **अप्पडिबुद्धो हवदि ताव** तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध स्वसंवेदन से रहित बहिरात्मा [बाहिरी बुद्धिवाला] होता है। यहाँ पर भेदविज्ञान-मूलक जो शुद्धात्मानुभूति है वह स्वयंबुद्धों को तो अपने आप और बोधितबुद्धों को दूसरे के द्वारा प्राप्त होती है। जब यह शुद्धात्मानुभूति जिनको प्राप्त होती है वे जीव, संसार के विद्यमान शुभाशुभ बाहिरी पदार्थों में अर्थात् आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों में दर्पण के समान निर्विकार होकर रहते हैं।

हूँ कर्म देहमय ये मुझसे न न्यारे, किंवा शरीर मम है, वसु कर्म सारे।
भाई सदैव रटता जड़ मूढ़ ऐसा, दीखे उसे परम आतम गूढ़ कैसा ? ॥२२॥

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बन्धो भवतीत्याख्याति —

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो, हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥२३॥

जीवेव स्वशुद्धजीवे वा। **अजीवे वा** देहादौ वा। **संपदि समयम्हि** वर्त्तमानकाले। **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणतः। **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवे वा। **बंधमोक्खो** अजीवे देहादौ बन्धो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः। **हवदि** भवति। **समासेण णिद्दिट्ठो** संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति। अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्त्तव्या। तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ॥२३॥

अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति —

विशेषार्थ—जब तक संसार के शरीर आदि सभी पदार्थों में अहंकार या ममकार रूप बुद्धि बनी रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [अज्ञानी] रहता है। किन्तु बाह्य-पदार्थों में अहंकार-ममकार हटने पर जब यह आत्मा स्वयं आत्मनिमग्न हो जाता है तब यह प्रतिबुद्ध [ज्ञानी] बनता है।

जब इस जीव की शुद्धजीव में रागादि रहित परिणति होती है तब मोक्ष होता है और जब अजीवरूप देहादिक में रागादि सहित परिणति होती है तब बंध होता है, यह कहते हैं–

अर्थ—जीव तथा अजीव-देहादिक में जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है तभी मोक्ष तथा बंध होता है, ऐसा कथन संक्षेप से श्री सर्वज्ञदेव ने किया है ॥ २३ ॥

टीका—जीवेव अपनी शुद्ध आत्मा में **अजीवे वा** अथवा देहादिक इतर पदार्थों में **संपदि समयम्हि** वर्तमान समय में **जत्थ उवजुत्तो** जहाँ पर उपयुक्त रहता है अर्थात् उपादेय बुद्धि से तन्मय होकर रहता है, **तत्थेव** वहीं पर अजीव में या जीवमें **बंधमोक्खो हवदि** अजीवरूप देहादिक में परिणत होने पर बंध और शुद्ध जीव में परिणत होने पर मोक्ष होता है, **समासेण णिद्दिट्ठो** ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने संक्षेप से कहा है। ऐसा जानकर यहाँ सहजानन्द एक स्वभाव वाले निज आत्मा में रमण करना चाहिये और उससे विलक्षण जो परद्रव्य हैं उनसे विरक्त होकर रहना चाहिये, ऐसा आचार्यदेव का अभिप्राय है ॥२३॥

आगे अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है ऐसा बतलाते हैं—

साम्याभिभूत बन आतमलीन होना, पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलौना।
स्वच्छन्द हो विषय में मन को लगाना, है कर्मबन्ध गहना, प्रभु का बताना ॥२३॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥२४॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति। भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वम्। **ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात्। **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां। **कत्तारं** कर्त्तेति। कर्तारम् इति कर्मपदं कर्त्तेति कथं भवतीति चेत्, प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च। अत्र रागादीनां जीवः कर्त्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः ॥२४॥ एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

अथ यथा कोऽप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिन्धनं भवति इन्धनमग्निर्भवति अग्निरिन्धनमासीत् इन्धनमग्निरासीत् अग्निरिन्धनं भविष्यति इन्धनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेऽपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति—

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध-भावों को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहारनय से वह पुद्गल-कर्मों का कर्त्ता होता है ॥ २४ ॥

टीका—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स जिस रागादि भाव को आत्मा करता है उस समय उस भाव का अर्थात् परिणाम का करने वाला होता है। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध-भावों का और शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-भावों का कर्त्ता होता है, क्योंकि उन भावों के रूप में परिणमन करना ही कर्त्तापना है। **ववहारा** अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से **पोग्गलकम्माण** पुद्गलमय द्रव्यकर्मादि का **कत्तारं** कर्त्ता होता है। यहाँ कत्तारं यह कर्मपद कर्ता के अर्थ में आया है, सो प्राकृत में कहीं-कहीं कारक व्यभिचार और लिंग व्यभिचार देखा जाता है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादि भावों का कर्त्ता जीव को कहा गया है वे भाव संसार के कारण हैं इसलिये संसार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुष को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावों से रहित और शुद्धद्रव्य तथा गुण-पर्याय स्वरूप निज परमात्मा में भावना करना चाहिये ॥२४॥

इस प्रकार स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में तीन गाथायें हुईं।

आगे कहते हैं कि कोई भोला प्राणी, अग्नि ही ईंधन है ईंधन वही अग्नि है, अग्नि ही पहले ईंधन था, और ईंधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही ईंधन होगा और ईंधन ही अग्नि होगी, इस प्रकार कहा करता है। वैसे ही जो सदा देहरागादि रूप पर द्रव्यों को अपनी आत्मा में जोड़ता है वह अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा अर्थात् बाह्यदृष्टि वाला अतएव मिथ्याज्ञानी होता है—

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्ता, होता विशुद्धनय से शुचि-भाव कर्ता।
मोहाभिभूत विविधों विधि-बन्धनों का, कर्ता अवश्य व्यवहारतया जड़ों का ॥२४॥

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि[1] ॥२६॥
एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढ़ो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढ़ो ॥२७॥ (त्रिकलम्)

अहमेदं एदमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदम् अहं भवामि । **अहमेदस्सेव हि होमि मम एवं** अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदम् । **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं । **सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सच्चित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रपमुकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्तं

अर्थ— आत्मा अपने आप से भिन्न सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त मुकुट-कुण्डलादिक, और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में, मैं सो यह है, यह है सो मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा, इस प्रकार का संयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ़ अर्थात् मोहभाव का धारक होता है किन्तु जो मोह रहित अर्थात् संयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुआ इन सब विकल्पों से दूर रहता है ॥२५-२६-२७॥

टीका—अहमेदं एदमहं 'मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ' इस प्रकार अहंकार भाव **अहमेदस्सेव होमि मम एदं** यह मेरा है और मैं इसका हूँ, इस प्रकार ममकारभाव **अण्णं जं परदव्वं** इसी प्रकार देह से भिन्न जो परद्रव्य हैं **'सच्चित्ताचित्तमिस्सं' वा** वे सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार हैं । उनमें गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त, साभरण-स्त्री आदि मिश्र हैं । अथवा तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त, और उपकरण

जो भी सचेतन-अचेतन द्रव्य सारा, संसार में लस रहा निज भाव द्वारा ।
मैं हूँ रहा यह, रहा यह ही यहाँ मैं, मेरा रहा यह, रहा इसका अहा मैं ॥२५॥
मैं भी रहा विगत में, इसका यथा था, मेरा रहा नियम से यह भी तथा था ।
मैं भी नितान्त इसका, यह भी बनेगा, मेरा भविष्य भर में क्रम यों चलेगा ॥२६॥
ऐसा सदैव पर को निज मान लेता, होता तभी दुखित हो वह मूढ़ नेता ।
पै मूढ़ता न करते मन-अक्षजेता, वे धन्य-धन्य मुनि हैं निज तत्व-वेत्ता ॥२७॥

---

[1] एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि, एयस्स अहं पि होस्सामि; इति द्वितीयचतुर्थपादयोः पाठान्तरः ।

रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मादि, मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयम् । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम्, अचित्तं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणत-संसारिजीवस्वरूपमिति वर्त्तमानकालापेक्षया गाथा गता । **आसीत्यादि** । **आसि मम पुव्वमेदं** आसीत् मम पूर्वमेतत् । **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** अहमिदं चैव पूर्वकाले । **होहिदि पुणोवि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम । **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । **एदमित्यादि** । **एदं** इमं **तु** पुनः । **असंभूदं** असद्भूत कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्यारूपं । **आदवियप्पं** आत्मविकल्पमशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं । **करेदि** करोति । **संमूढो** सम्यङ्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा । **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनयं । **जाणंतो** जानन् सन् । **ण करेदि** न करोति । **दु** पुनः कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्याविकल्पं । **असंमूढो** असंमूढः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः ।

किञ्च यथा कोऽप्यज्ञानी अग्निरिन्धनमिन्धनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकान्तेनाभेदेन वदति तथा देहरागादि-परद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मेति । एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसम्वेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति । यथा कोऽपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कार्येति कुर्वाणः सन् राजाराधको न

सहित छात्रादि मिश्र हैं । अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त, द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र हैं । अथवा विषय-कषाय रहित निर्विकल्प-समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचित्त, और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादि रूप परिणत जो संसारी जीव का स्वरूप, वह मिश्र है । इस प्रकार वर्त्तमानकाल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई । अब **आसि मम पुव्वमेदं** ये सब मेरे पहले थे, **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** मैं भी इनका पहले था, **होहिदि पुणोवि मज्झं** ये सब आगे भी मेरे होंगे **अहमेदं चावि होस्सामि** और मैं भी आगे इनका होऊँगा । इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई । **एदं तु** इस प्रकार **असंभूदं** असद्भूत तीन काल सम्बन्धी परद्रव्यों से संसर्ग लिए हुए मिथ्यारूप **आदवियप्पं** अपने आपके विचार को अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय से होने वाले जीव के [रागादिरूप] परिणाम को **करेदि** जो करता है, **संमूढो** वह मोह को लिये हुए अज्ञानी बहिरात्मा होता है । किन्तु **भूदत्थं** जो भूतार्थ निश्चयनय को **जाणंतो** जानता हुआ **ण करेदि दु तं** तीन काल में होने वाले उपर्युक्त परद्रव्य सम्बन्धी मिथ्या-विकल्प को नहीं करता हैं वह **असंमूढो** मोहभाव रहित सम्यग्दृष्टि, अन्तरात्मा, ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेदरत्नत्रय की भावना में निरत होता है ।

जैसे कि कोई भी भोला प्राणी कहे कि तीनों कालों में अग्नि ही ईंधन है और ईंधन ही अग्नि है, ऐसा एकांत अभेदरूप से कहता है वैसे ही देह-रागादि परद्रव्य ही इस समय मैं हूँ, पहले भी मैं परद्रव्य-रागादिरूप था और आगे भी परद्रव्य रागादिरूप होऊँगा, ऐसा कहता है वह अज्ञानी बहिरात्मा है, किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव इससे विपरीत विचार वाला है । इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीव का लक्षण जानकर निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिये । इसी बात को फिर दृढ़ करते हैं कि जैसे

भवति तथा परमात्माऽऽराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ॥२५-२७॥

अथाप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं व्यवसायः क्रियते; —

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२८॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२९॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥३०॥

कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता। उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादिभाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है, तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता, यह इसका निचोड़ है ॥२५-२७॥

इस प्रकार अप्रतिबुद्ध के लक्षण के कथन रूप में चतुर्थ स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

विशेषार्थ—पाठक देख रहे हैं कि इन गाथाओं में जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में अहंकार रखने वाले को अप्रतिबुद्ध बतलाया है उसी प्रकार उनमें ममकार रखने वाले को भी अप्रतिबुद्ध बताते हुए उन सबसे दूर हटकर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही प्रतिबुद्ध, ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है।

आगे इस अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है—

अर्थ – अज्ञान से ठगी हुई बुद्धिवाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् गहने इत्यादि पुद्गल-द्रव्य को अपना कहता है, नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई! जब सर्वज्ञ भगवान् ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है? जिससे कि तू पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा-मेरा कहता है।

कर्मों जड़ात्मक तनों वचनों कुलों को, रागादिकों सुतसुतादिजनों धनों को।
अज्ञान से भ्रमित हो 'अपने' बताता, संसार को अबुध और अरे! बढ़ाता ॥२८॥

हे मित्र! जीव उपयोगमयी रहा है, सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है।
तू ही बता जड़ बना वह जीव कैसा? मेरा जिसे कह रहा बन अंध जैसा ॥२९॥

हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई, हो जाय पुद्गल सचेतन जीव थाई।
निःशंक हो कह सको जड़ है हमारा, ऐसा परन्तु कब हो! प्रभु ने पुकारा ॥३०॥

अण्णाणेत्यादि-व्याख्यानं क्रियते-**अण्णाणमोहिदमदी**-अज्ञानमोहितमतिः । **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् । कथंभूतम् ? **बद्धमबद्धं च** बद्धं संबद्धं देहरूपम् अबद्धं च असम्बद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि । **तहा** तथा । **जीवे** जीवद्रव्ये । **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्वरागादिबहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं भणतीत्यर्थः । इति प्रथमगाथा गता । अथास्य बहिरात्मनः सम्बोधनं क्रियते–रे दुरात्मन्! **सव्वण्हु** इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्टः । **जीवो** जीवपदार्थः । कथम्भूतो दृष्टः ? **उवओगलक्खणो** केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं । **कह** कथं । **सो** स जीवः । **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि । **जं** येन कारणेन । **भणसि** भणसि त्वं । **मज्झमिणं** ममेदं पुद्गलद्रव्यम् । इति द्वितीया गाथा गता । **जदि** इत्यादि––**जदि** यदि चेत् । **सो** स जीवः । **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः । **जीवो** जीवः । **जीवत्तं** जीवत्वं । **आगदं** आगतं प्राप्तम् । **इदरं** इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं । **तो सक्का वुत्तुं** ततः शक्यं वक्तुं । **जे** अहो अथवा यस्मात्कारणात् । **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति । न चैवं यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति । तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति । रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति । एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं

हां, यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाये तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाये, तब तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, पर ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता, अतः तेरा यह कहना भूल भरा है ।२८-३०।।

टीका—अण्णाणमोहिदमदी अज्ञान से मोहित हो रही है––विगड़ रही है बुद्धि जिसकी ऐसा जीव **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** कहता है कि यह शरीरादि पुद्गलद्रव्य मेरा है । कैसा है वह पुद्गल द्रव्य ? **बद्धमबद्धं च** बद्ध अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित देह और अबद्ध देह से भिन्न पुत्र-कलत्रादि । **तहा जीवे बहुभावसंजुत्तो** उनमें यह संसारी जीव मिथ्यात्वरागादिरूप विकारी भावों को लिये हुए है इसलिये उन देह-पुत्र-कलत्रादि पर-द्रव्य को मेरा है, इस प्रकार कहता है । यह पहली गाथा का अर्थ हुआ । आगे की गाथा में इसी अज्ञानी को समझाया जा रहा है कि हे दुरात्मन् ! **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान से देखा हुआ **जीवो** जीव नामा पदार्थ **उवओगलक्खणो णिच्चं** सब ही काल में मात्र ज्ञान और दर्शन उपयोग लक्षण वाला है फिर **कह सो पुग्गलदव्वीभूदो** वह पुद्गल-द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता **जं भणसि मज्झमिणं** जिससे कि तू पुद्गलद्रव्य मेरा है–ऐसा कहता है । इस प्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई । **जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो** यदि वह जीव पुद्गल-द्रव्यरूप हो जाये तो **जीवत्तमागदं इदरं** शरीरादि पुद्गलद्रव्य भी जीवपने को प्राप्त हो जाये **तो सक्का वुत्तुं जे** तो तू फिर कह सकता है कि **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** यह पुद्गल द्रव्य मेरा है किन्तु ऐसा होता नहीं । तात्पर्य यह है कि जैसे वर्षा काल में लवण पिघलकर जलरूप हो जाता है और ग्रीष्मकाल में वही जल घन होकर लवण हो जाता है, वैसे ही कभी भी चेतनता को छोड़कर जीव यदि पुद्गल द्रव्य रूप परिणत हो जाये और पुद्गल द्रव्य अपने मूर्त्तपने को व अचेतनपने को छोड़कर चेतनरूप और अमूर्त्त बन जाये तो तेरा कहना सत्य हो सकता है, किन्तु हे दुरात्मन् ! ऐसा कभी होता नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष-विरोध आता है । फलस्वरूप हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जीव तो इस

त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् । इत्यप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं पञ्चमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥२८–३०॥

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्टस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति––

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

जदि जीवो ण सरीरं हे भगवन् यदि जीवः शरीरं न भवति । **तित्थयरायरियसंथुदी चेव** तर्हि "द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलावित्यादि" तीर्थङ्करस्तुतिः, "देसकुलजाइसुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च । **सव्वावि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या । **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देहः । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः । एवं

जड़स्वरूप देह से भिन्न है जो कि अमूर्त्त और शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाला है। इस प्रकार देह और आत्मा में परस्पर भेद जानकर मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के [अहंकार और ममकाररूप] विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार-चैतन्य-चमत्कार-मात्र निज-परमात्म-तत्त्व में भावना करनी चाहिये। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को संबोधने के लिए पाँचवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥२८–३०॥

आगे पूर्वपक्ष [जीव व शरीर को एक मानने] के परिहार रूप में आठ गाथायें कही जाती हैं। वहाँ पहली गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप से उसका परिहार है तथा तीन गाथाओं में निश्चय-स्तुति रूप से पूर्वपक्ष का परिहार है, इस प्रकार छट्ठे स्थल की समुदाय पातनिका है।

अब सबसे प्रथम अज्ञानी शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर में एकपना नहीं है तो तीर्थंकरों की और आचार्यों की जो स्तुतियाँ शरीर को लेकर की गई हैं वह सब व्यर्थ ठहरती हैं?

अर्थ—हे भगवन् ! यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं है तो भक्त-लोगों के द्वारा की गई तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है, अतः आत्मा और शरीर एक हैं, ऐसा मानना ही चाहिए ॥३१॥

टीका–हे भगवन् ! **जदि जीवो ण सरीरं** यदि जीव शरीररूप नहीं है **तित्थयरायरिय-संथुदी चेव** तो "द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ" इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गई तीर्थंकर की स्तुति और "देसकुलजाइसुद्धा" इत्यादि आचार्यों की स्तुति **सव्वावि हवदि मिच्छा** सब ही मिथ्या ठहरती है। **तेण दु आदा हवदि देहो** इसलिये आत्मा ही शरीर है या शरीर ही आत्मा है–ऐसा

मानो कि जीव यदि देहमयी नहीं है, तो देव की, सुगुरु की स्तुति ना सही है।
भाई अतः समझलो तन आतमा है, ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ॥३१॥

पूर्वपक्षगाथा गता ।।३१।। हे शिष्य ! यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति--

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।।३२।।

ववहारणयो भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते । किं ब्रूते ? **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीवो देहश्च भवति खल्वेकः । **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थः एको भवति । यथा कनककलधौतयोः समावर्त्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः । ततः कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः ।। ३२ ।। तथाहि--

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।३३।।

मेरा दृढ़ विश्वास है । इस प्रकार यह पूर्व पक्ष की गाथा हुई ।।३१।।

अब आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि हे भाई ! तूने कहा सो ठीक नहीं बैठता, क्योंकि तू निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर जो साध्य-साधक भाव है उसको नहीं जानता—

अर्थ— व्यवहारनय [जो कि संयोग मात्र को लेकर चलता है] कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं. किन्तु निश्चयनय [जो तादात्म्य संबंध को ही स्वीकार करता है] से जीव और देह किसी काल में भी एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं ।।३२।।

टीका - ववहारणयो भासदि व्यवहारनय कहता है कि **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीव और देह अवश्य ही एक है। **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह दोनों परस्पर कभी किसी काल में भी एक नहीं होते हैं । जैसे चाँदी और सोना मिली हुई दशा में व्यवहारनय से परस्पर एक हैं फिर भी निश्चयनय से वे अपने रूप, रंग को लिए हुए भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही जीव और देह का व्यवहार है । इसलिये व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोष कारक नहीं है ।।३२।।

इसी को फिर स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जीव से अन्य इस पुद्गलमयी देह की स्तुति-गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली

है 'भिन्न' निश्चयतया तन जीव मानो, है एकमेक व्यवहारतया सुजानो ।
हो दृष्टि में यदि विराग अमूर्त-मा की, होती शरीर स्तुति से स्तुति आतमा की ।।३२।।
जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही, वे वंदनादि करके मुनि वीतमोही ।
हैं मानते नमित वंदित केवली हैं, बाह्योपचारवश ही हमसे बली हैं ।।३३।।

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः। **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवानिति। यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो, न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादि-देहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः ॥३३॥

अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढ़यति--

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥३४॥

तं णिच्छये ण जज्जदि तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते। कथमिति चेत्? **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यतः कारणाच्छरीरगुणाः शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवन्ति। तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति। यथा शुक्लवर्णरजतशब्देनसुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावं

भगवान् की स्तुति व वंदना कर ली ॥३३॥

टीका--इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्तवन करके मुनि **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** व्यवहार से ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति और वंदना कर ली। तात्पर्य यह है कि जैसे चाँदी के साथ मिले हुए स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव में सोना सफेद नहीं होता। उसी प्रकार अमुक केवली भगवान् श्वेत, लाल, या कमल के रंग वाले हैं इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है, किन्तु निश्चय से नहीं ॥३३॥

आगे इसी को दृढ़ करते हैं कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान् का स्तवन नहीं होता--

अर्थ--किन्तु उपर्युक्त बात निश्चयनय में घटित नहीं होती, क्योंकि शरीर के पुद्गलमयी गुण केवली के नहीं हो सकते। अतः निश्चयनय में तो जब केवली के ज्ञानादि गुणों का स्तवन करता है, तभी केवली भगवान् का स्तवन समझा जाता है ॥३४॥

टीका--तं णिच्छये ण जुज्जदि पूर्वोक्त प्रकार से देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नहीं है, क्योंकि **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** शरीर के गुण जो शुक्ल, कृष्णादि हैं वे केवली के अपने गुण नहीं हो सकते। तब केवली का स्तवन कैसा होता है? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** जो जीव केवली के अनंतज्ञानादिक गुणों का वर्णन करता है वही वास्तव में केवली भगवान् का स्तवन करने वाला होता है। भावार्थ यह है कि

होती शरीर स्तुति केवलि की नहीं है, औचित्य देह गुण केवलि में नहीं हैं।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्वधी की, जो भी करे स्तुति वही स्तुति, केवली की ॥३४॥

केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः ॥३४॥

अथ शरीरप्रभुत्वेऽपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन । तत्र दृष्टान्तमाह—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३५॥

यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेऽपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेऽप्यनन्तज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतम् ॥ ३५ ॥

अथानन्तरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिनो जितेन्द्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिः परिहारं ददाति—

जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३६॥

जैसे शुक्लवर्ण-वांली चाँदी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं बन सकता; वैसे ही केवली के शरीर में होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन को चिदानन्द एक स्वभाव वाले केवली भगवान् का स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता ॥३४॥

आगे आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय से नहीं माना जा सकता । इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टांत देते हैं–

अर्थ—जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता, इसी तरह देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती ॥३५॥

टीका—जैसे प्राकार, उपवन और खाई आदि के वर्णन से—किसी राजा के नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं हो सकता है, वैसे ही केवली भगवान् के श्वेतादि शरीर के गुणों का वर्णन करने पर केवली के अनन्तज्ञानादि गुणों का वर्णन नहीं हो जाता ॥३५॥ इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रूप से चार गाथायें पूर्ण हुईं ।

अब यदि देह के गुणों का वर्णन करने से निश्चयस्तुति नहीं होती है तो, वास्तविक स्तुति क्या है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों को स्वसंवेदन-भेद-ज्ञान के बल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है वही जितेन्द्रिय है, इस प्रकार निश्चयस्तुति होती है । यही बात आगे की गाथा में कहते हैं—

अर्थ—निश्चय में तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं, जो इन्द्रियों को वश में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है ॥३६॥

होता नहीं नगर वर्णन से कदापि, भूपाल का स्तवन जो बुध है प्रतापी ।
तो देह का विशद वर्णन तू करेगा, कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ? ॥३५॥
पूरा किया दमन इन्द्रिय-काय का है, देखा चखा स्वयम का रस बोध का है ।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता, ऐसा कहें जिन निजामृत के समेता ॥३६॥

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं यः कर्त्ता द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियपञ्चेन्द्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति सञ्चेतयति। **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः। के ते ? ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति। किञ्च, ज्ञेयाः स्पर्शादिपञ्चेन्द्रियविषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योऽसौ जीवेन सह संकरः संयोगः सम्बन्धः स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिबलेन योऽसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः ॥ ३६ ॥

अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण कथयति। अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह—

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति ॥३७॥

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः पुरुष उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति। **त जिदमोह साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति कथयन्तीति। इयं द्वितीया स्तुतिरिति।

टीका—जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं जो जीव द्रव्येन्द्रिय–भावेन्द्रियरूप पंचेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्ध-ज्ञानचेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, संचेतता है, अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है, **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** उस पुरुष को ही निश्चयनय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं। भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पाँचों इंद्रियों के विषय तो ज्ञेय हैं और उनको जानने वाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ हैं और उनका जीव के साथ जो संकर है–संयोग सम्बन्ध है वही दोष है, उस दोष को जो परम समाधि के बल से जीत लेता है वही जिन है। यह पहली निश्चयस्तुति हुई ॥३६॥

आगे उसी निश्चयस्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य [संसारी जीव] भावक [मोहकर्म] इन दोनों में जो संकर दोष है उसका परिहार करने अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा आत्माजित-मोह है, ऐसा कथन करते हैं--

अर्थ - जो मोह को दबाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के जानने वाले उस साधु को मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं ॥३७॥

टीका--जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो पुरुष उदय में आये हुए मोह को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर शुद्ध-ज्ञानगुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है और अनुभव करता है, **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया**

संमोह को शमित भी जिनने किया है, आधार ज्ञान गुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित-मोह सुधी कहाते, विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥३७॥

किंच, भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह सङ्करः संयोगः संबंधः स एव दोषः। तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति स जिनः, सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्यैकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शन-सूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनेनैव प्रकारेणान्यान्यव्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥३७॥

अथ भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीण-मोहरूपेणाह—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३८॥

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत्। कस्य? साधोः शुद्धात्मभावकस्य। **तइया हु खीणमोहो भण्णदि**

विंति उस साधुको परमार्थ के जानने वाले 'जितमोह' अर्थात् मोह से रहित जिन, इस प्रकार कहते हैं। यह दूसरी निश्चय स्तुति है। भावार्थ–यहाँ कोई पूछता है कि आपने पातनिका में बतलाया था कि भाव्य-भावक में परस्पर जो संकर दोष है उसका निराकरण करने से दूसरी स्तुति होती है, सो यह बात यहाँ कैसे घटित होती है? उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादि रूपमें परिणत आत्मा और भावक रागरूप करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म इन दोनों भाव्य-भावकों का जो शुद्ध जीव के साथ संकर अर्थात् संयोग सम्बन्ध है वही हुआ दोष उसको जो साधु स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परास्त कर देता है वह जिन है। यह दूसरी स्तुति हुई ॥३७॥

इसी प्रकार यहाँ मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियसूत्र के द्वारा पृथक्-पृथक् लेकर व्याख्यान करना चाहिये और इसी प्रकार और भी असंख्यातलोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासंगिक रूप से समझ लेना चाहिये।

अब भाव्य-भावक भाव के अभावरूप तीसरी निश्चयस्तुति कही जाती है अथवा यों कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीणमोह है, ऐसा कथन किया जाता है—

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है, उस साधु का जब मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय उसे निश्चय के ज्ञाता गणधरादिक क्षीण-मोह जिन कहते हैं ॥३८॥

टीका—जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथा में कहे हुए क्रम से जिसने मोह को परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा की अनुभूति करने वाले साधु के निर्विकल्प

जीता विमोह मुनि ने, जिससे अभागा, कोई पता नहिं कहाँ कब मोह भागा।
वो ही नितान्त मुनिपुंगव क्षीण-मोही, ऐसा जिनेश कहते, तज मोह मोही ॥३८॥

सो णिच्छयविदूहिं तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते । कैः ? निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैर्गणधरदेवादिभिः । इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति । भाव्यभावकभावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्—भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः । एवं रागद्वेष इत्यादि दण्डको ज्ञातव्यः ॥३८॥ इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तदनन्तरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतम् ।

अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते । तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम् । तदनन्तरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम् । एवं

समाधि में जब मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है, **तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** उस समय [तीन] गुप्तिरूप समाधिकाल में वह साधु क्षीणमोहजिन होता है ऐसा परमार्थ के जानने वाले गणधरादिक देव कहते हैं । इस प्रकार तीसरी निश्चयस्तुति हुई । भाव्यभावक भाव के अभावरूप से यह स्तवन कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं–भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा और भावक राग उत्पन्न करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म है । इन दोनों भाव्य-भावकों का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका अभाव, विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चयस्तुति हुई ॥३८॥

यहाँ पर भी उपर्युक्त गाथा में बताये हुए रागद्वेषादिरूप जो दण्डक हैं वे सब यहाँ भी लगा लेना ।

विशेषार्थ––यहाँ पर आचार्य महाराज ने **जिन** शब्द की तीन प्रकार से निरुक्ति की है । (१) जो समस्त परद्रव्यों से दूर होता हुआ इन्द्रियों को पूर्णरूप से जीतता है; अतएव अपनी आत्मा में निमग्न है वह जिन है । (२) जो मोह को सर्वथा उपशम कर आत्मानुभव में मग्न होता है वह जिन है । (३) जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया वह साधु जिन है । इस प्रकार आचार्य देव ने जिन शब्द का अर्थ साधु अवस्था से ही प्रारम्भ किया है, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्था में जिन गणना अभीष्ट नहीं हैं ।

इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथा में देह और आत्मा को एक मानने रूप पूर्वपक्ष किया । फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया । फिर तीन गाथाओं से निश्चय स्तुति के कथन से उसी का विशेष समाधान किया । इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसके परिहार रूप आठ गाथाओं का छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान है, वही है लक्षण जिसका, ऐसे प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथायें कही जाती हैं । तिनमें स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कथन करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त रूप दूसरी गाथा है । फिर मोह के त्यागरूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थ के त्यागरूप से दूसरी गाथा है, ऐसी दो गाथाएँ हैं । इस प्रकार सातवें स्थल की चार गाथाओं में समुदाय पातनिका हुई ।

सप्तमस्थले समुदायपातनिका। तथाहि—तीर्थङ्करावार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन्! रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति। कोऽर्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।

णाणं सव्वे भावे[1] पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३९॥

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति—निराकरोति। **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मन्तव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति। इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति ॥ ३९ ॥

यहाँ यदि जीव और देह को एक नहीं माना जायेगा तो 'तीर्थंकर व आचार्य की जो स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है' इस प्रकार पूर्वपक्ष के बल से जीव और देह में एकपना मानना ठीक नहीं है ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! रागादिकों का प्रत्याख्यान किस प्रकार किया जाये? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

नोट—इसी प्रकार और स्थान पर भी प्रश्नोत्तररूप पातनिका जहाँ पर आवे वहाँ सभी स्थानों पर 'इति' शब्द का ऐसा ही अर्थ लेना।

अर्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है अतः वास्तव में ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ॥३९॥

टीका—णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण 'जानाति इति ज्ञानं' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अतः स्वसंवेदन ज्ञान ही आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है तब उन्हें छोड़ देता है, उनसे दूर हो जाता है। **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** इसलिये निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिये, जानना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि परम समाधि कालमें स्वसंवेदन ज्ञान के बलसे आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है, वह अनुभव ही निश्चय-प्रत्याख्यान है ॥३९॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और प्रत्याख्यान दोनों एक ही वस्तु हैं। वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि जब भेदज्ञान होता है कि ये सब पर-वस्तुएँ मेरे से भिन्न

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे, यों जान, ज्ञान इनको जड़ से निकारे।
हो प्रत्यख्यान फलतः निज 'ज्ञान' प्यारा, मेरा उसे नमन हो शत-कोटि वारा ॥३९॥

---

[1] -सव्वे भावे जम्हा इति पाठः।

अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुंचदे णाणी ।।४०।।

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति । **तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्ध्या विमुञ्चति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति । अयमत्र भावार्थः—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रान्त्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्राञ्चलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलाञ्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुञ्चति । तथायं ज्ञानी जीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुञ्चति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एवं गाथाद्वयं गतम् ।।४०।।

हैं तो उन्हें उसी समय छोड़ देता है । ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी वस्तु को पर जानते हुए, अपने आपके लिए हानिकारक तो जाने फिर भी उसे छोड़े नहीं । यदि नहीं छोड़ता है तो समझो उसके जानने में ही कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है । इसी को आचार्यदेव स्वयं आगे की गाथा में स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह जानकर कि यह परद्रव्य है, उसे वह छोड़ देता है । उसी प्रकार जो आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हें छोड़ ही देता है, वह ज्ञानी कहलाता है ।।४०।।

टीका—जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि जैसे कोई भी पुरुष जब वस्त्र-आभरण आदि वस्तु को 'यह परद्रव्य है' ऐसा स्पष्ट रूप से जान लेता है तब उसे छोड़ देता है । **तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी** उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सब ही परभावों को अर्थात् पर्यायों को अपने स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जानकर उन्हें विशेषरूप से अर्थात् मन वचन-कायरूप त्रिशुद्धि द्वारा छोड़ देता है, तब ही वह स्वसंवेदन ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं । भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रम से दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे ले आया और पहनकर सो गया । पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकड़कर खींचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्र के विशेष चिह्न को देखकर जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है । उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक [शुद्धात्मा] ही है, ऐसा समझाया जाने पर, उनको पर जान छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है [वही ज्ञानी है] । इस प्रकार दो गाथायें पूर्ण हुईं ।।४०।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव के कथन का सार यह है कि जो प्रत्याख्यानी है—सब पर-

---

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता, जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता ।
रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता, ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ।।४०।।

अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥४१॥

णत्थि मम कोवि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादि परभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रञ्जयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः । **बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को** बुध्यते जानाति । स कः कर्त्ता ? ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव । किं बुध्यते ? यतः कारणादहमेकस्ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि निर्मोहो भवामि । अथवा बुध्यते जानाति, किं जानाति ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः । **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवन्ति वदन्ति जानन्ति वा । के ते ? समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषाः इति । किञ्च विशेषः यत्पूर्वं स्वसम्वेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति । एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥४१॥

वस्तुओं को त्यागकर पृथक् हो जाता है एवं अपने शुद्धात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता है वही ज्ञानी होता है ।

आगे शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादिक के परित्याग का प्रकार बतलाते हैं—

अर्थ—मोह-पर को अपनाना, उससे मेरा कोई भी संबंध नहीं है. उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हूँ इस प्रकार के जानने को सिद्धान्त के जानकार लोग निर्मोहपना कहते हैं ॥४१॥

टीका—णत्थि मम कोवि मोहो शुद्धनिश्चयनय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला जो मैं, उसको रंजायमान करने के लिए रागादि परभाव कभी समर्थ नहीं हैं। इसलिये द्रव्य और भावरूप कोई भी मोह मेरा नहीं है। **बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को** किन्तु ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप लक्षणवाला होने से मेरा आत्मा तो इस प्रकार जानता है कि मैं तो केवल उपयोग स्वरूप ही हूँ । अतएव मैं तो मोह से दूर हूँ, निर्मम हूँ, इस प्रकार जो अपने आपको केवल विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी जानता है **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** उसे ही शुद्धात्मा के स्वरूप को जानने वाले लोग मोह से निर्ममत्व हुआ [शुद्धात्मस्वरूप हुआ] बतलाते हैं, जानते हैं । सार यह है कि आचार्यदेव ने स्वसंवेदनज्ञान को ही प्रत्याख्यान बतलाया था उसी का यह निर्मोह रूप से विशेष व्याख्यान है । यहाँ पर जहाँ मोह पद लगाया है उसी के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्र क्रम से लगाकर व्याख्यान करना चाहिये । इसी प्रकार अन्य भी असंख्यात-लोक-परिमित जो विभावभाव हैं उन्हें भी समझना चाहिये ॥४१॥

मेरा न मोह पर से, उपयोग मेरा, ऐसा सदा समझता बस मैं अकेला ।
साधू उसे परम निर्मम हैं बताते, शास्त्रानुसार निज जीवन हैं बिताते ॥४१॥

अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति ।।४२।।

णत्थि मम धम्म आदी न सन्ति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति । **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी । तर्हि किमहम् ? **उवओग एव अहमिक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहम् । अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण ? यतोऽहं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्डशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेऽपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि । **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवन्ति कथयन्तीति । किञ्च इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।।४२।। इति गाथाद्वयं गतम् । एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तम् ।

अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं

आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरी आत्मा का स्वरूप नहीं हैं ।

अर्थ – मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूँ धर्मादि [अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीवद्रव्य] द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं । इस प्रकार जो जानता है उसे, सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि पर-द्रव्यों से निर्ममत्व हुआ कहते हैं ।।४२।।

टीका—णत्थि मम धम्म आदी धर्मास्तिकाय आदि जो समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं, वे सब मेरे नहीं हैं, **बुज्झदि** ऐसा ज्ञानी जीव जानता है । वह जानता है कि **उवओग एव अहमिक्को** मैं तो केवल विशुद्धज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी हूँ अथवा वह जानता है कि ज्ञान-दर्शन-उपयोगमय होने से मैं तो उपयोग के साथ अभिन्न हूँ, उपयोगमयी हूँ, क्योंकि मैं एक टंकोत्कीर्ण-ज्ञायक-स्वभाव हूँ इसलिये व्यवहारनय से परद्रव्य के साथ दधि-खांड और शिखिरिणी के समान भले ही मेरे साथ एकता हो, फिर भी शुद्धनिश्चयनय से यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये मैं तो इन सब पर-द्रव्यों से निर्मम हूँ । **तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** ऐसे शुद्धात्मतत्त्व या शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव करने वाले को सिद्धान्त के जानकार पुरुष परद्रव्य से निर्मम हुआ कहते हैं । यहाँ परद्रव्य से निर्ममपना बताया गया है, वह भी उसी का विशेष व्याख्यान है जो पूर्व में कह आये हैं कि स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा समझना चाहिये ।।४२।।

इस प्रकार दो गाथायें कही गईं । इस प्रकार समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवाँ स्थल पूर्ण हुआ ।

अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान तो सम्यक्त्व, उसी शुद्धात्मा में

धर्मादि द्रव्य मम ना, उपयोग मेरा, जो जानता स्वयम को नित मैं अकेला ।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन-का सुत्यागी, ऐसा कहें समयविज्ञ सुधी विरागी ।।४२।।

स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।४३।।

अहं अनादिदेहात्मैक्यभ्रान्त्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोऽपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः । पुनरपि कथम्भूतः ? **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः । **खलु** स्फुटं । पुनरपि किंरूपः ? **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः । पुनरपि किंविशिष्टः ? **दंसणणाणमइओ** केवलदर्शनज्ञानमयः । पुनरपि किंरूपः ? **सदारूवी** निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्त्तः । **णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि** । इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परद्रव्यं किमपि । यदेकत्वेन रञ्जकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति । कस्मात् ? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ।। ४३ ।।

स्वसंवेदनरूप ज्ञान-सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा में वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान को स्थिर करके रखना सो सम्यक्चारित्र है । इस प्रकार निश्चयरत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है, यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं—

अर्थ—ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि मैं एकाकी हूँ शुद्ध हूँ अर्थात् पर-द्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ, अतः इन सब बाह्य पर-द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है ।।४३।।

टीका—अहं अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था [सही बात को नहीं समझने वाला था] किन्तु जिस प्रकार हाथ में रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा में मग्न होकर सो जाता है फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम-गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में तल्लीन हो रहा हूँ एवं वीतराग-चेतनामात्र-ज्योति स्वरूप हूँ । **इक्को** यद्यपि व्यवहारनय से नरनारकादिरूप पर्यायों से अनेक-रूप हूँ, **खलु** ऐसा स्पष्ट है । **सुद्धो** शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यावहारिक जीवादि नव पदार्थों से मैं भिन्न हूँ अथवा रागादि विभाव भावों से भिन्न हूँ । **दंसणणाणमइओ** केवल दर्शन-ज्ञानमय हूँ, **सदारूवी** निश्चयनय से रूप, रस, गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ । **णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि** इस प्रकार इन पर-द्रव्यों में से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है, जो कि एकत्व रूप से रंजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके । क्योंकि मैं तो परम-विशुद्ध-ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ, अर्थात् परम समाधि में तत्पर होकर अपने आप में लीन हो रहा हूँ ।।४३।।

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग-बोधमयी सुधा से, मैं एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी, मेरा नहीं जड़मयी यह देह रूपी ।।४३।।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** स्थलसप्तकेन **जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि** सप्तविंशतिगाथाः । तदनन्तरमुपसंहार-सूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः ।

इति प्रथमरङ्गः ।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी **तात्पर्य** नाम की समयसार की व्याख्या में सात स्थलों से 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि २७ गाथाएँ व उसके पीछे एक उपसंहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओं से प्रथम जीवाधिकार समाप्त हुआ ।

* इस प्रकार प्रथम रंग समाप्त हुआ । *

अजीवाधिकारः

अथानन्तरं शृङ्गारसहितपात्रवज्जीवाजीवाविवेकीभूतौ प्रविशतः। तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यन्तमजीवाधिकारः कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणंता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं तदनन्तरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथाष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा —

अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥४४॥

अवरे अज्झवसाणे, सु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४५॥

अब इसके आगे शृङ्गार किये हुए नाटक-पात्र के समान जीव और अजीव दोनों एक रूप होकर आते हैं। यहाँ तीन स्थलों से तीस गाथाओं पर्यन्त अजीवाधिकार कहा जाता है। उनमें पहले स्थल में **अप्पाणमयाणंतो** इत्यादि दस गाथाओं पर्यन्त तो मुख्यता से यह बतलाते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से देह और रागादि परद्रव्य जीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उन दस गाथाओं में से भी परद्रव्य को आत्मा मानने रूप पूर्वपक्ष की मुख्यता से प्रथम पाँच गाथायें हैं, तत्पश्चात् एक गाथा से उसका निराकरण है। उसके आगे आठ प्रकार के कर्म भी पुद्गल द्रव्य हैं ऐसा एक गाथा से कथन किया गया है, फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथाएँ कही हैं। इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई।

अब देह व रागादि जो परद्रव्य है, वह नियम से जीव है ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—

अर्थ—आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं। उनमें से कितने ही अध्यवसान [रागादि] को और कोई कर्म को ही जीव कहते हैं। तथा कोई अध्यवसानों में भी तीव्रता, मन्दता

सम्मोह से भ्रमित हैं जड़ मूर्ख नामी, कर्त्तव्य-मूढ़ कुछ हैं कुमतानुगामी।
वे राग-रोषमय भाव विभाव को ही, स्वीकार 'जीव', तजते निज भाव को ही ॥४४॥

लो तीव्र-मंद अनुभाग निबंधनों को, है 'जीवरूप', कहते कुछ हैं तनों को।
सम्मोह का यह विपाक यथार्थ में है, जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ में है ॥४५॥

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४६॥

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४७॥

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥४८॥ (पंचकम्)

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई आत्मानमजानन्तः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** । यथाङ्गारात् काष्ण्यंभिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदन्तीति । अथ **अवरे अज्झवसाणे सु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति** अपरे केचनैकान्तवादिनः रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमन्दतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति

को लिये हुए जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं। अन्य कोई नोकर्म को [चलते-फिरते शरीर को] ही जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई कर्म के फल को जो तीव्र-मंद-रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है वह जीव है, ऐसा इष्ट करते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मों के परस्पर संयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की आत्मा के विषय में अज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे वस्तुस्थिति के जानने वाले नहीं किन्तु मन्दबुद्धि हैं ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञदेव तथा गणधरादि ऋषियों ने कहा है ॥ ४४–४८॥

टीका—अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई जो आत्मा को तो जानते नहीं हैं किन्तु आत्मा से भिन्न शरीरादि पर-द्रव्य को ही जीव नाम से कहते हैं, ऐसे कितने ही परात्मवादी मोही जीव हैं। उनमें से कोई **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** जैसे अंगारे से कोयले का कालापन कोई भिन्न नहीं है वैसे ही रागादिभावों से भिन्न जीव नहीं है, किन्तु रागादिरूप अध्यवसान भाव या कर्म ही जीव है, ऐसा कहते हैं। **अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति** कुछ एकांतवादी लोग रागादि अध्यवसान भावों में जो तीव्रता-मन्दतारूप तारतम्य लिए

कोई कहे कि उदयागत कर्म को ही, विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही।
तो तीव्र-मंद विधि के फल को 'निजात्मा' हैं अन्य लोग कहते बनते दुरात्मा ॥४६॥

रे ! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है, पा कर्म योग यह जीव बना तथा है।
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे, है जीव, मूढ़ इस भाँति सदैव रोवे ॥४७॥

मंदातिमंद मति-बाल, अनात्म को ही, माने निजातम सदा तज तत्त्व बोधि।
ये सर्व मात्र भव-कानन पंथ पंथी, ऐसा कहे मुनि सुधी, तज ग्रंथ ग्रंथी ॥४८॥

तीव्रमन्दानुभावगस्तं जीवं मन्यन्ते । **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहित-परमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यन्ते । अथ—**कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छन्ति । **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छन्ति । कथम्भूतः स चानुभागः ? **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति । अथ—**जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्मणी शिखिरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छन्ति । **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति** अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छन्ति । कस्मात् ? अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः । अथ **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः । **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पञ्चगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ॥ ४४–४८ ॥

अथ परिहारं वदति —

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४९॥

हुए अनुभव होता है तत्स्वरूप शक्ति समूह को प्राप्त होने वाला ही जीव है, ऐसा कहते हैं । **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** वैसे ही चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेदविज्ञान से शून्य हैं वे शरीरादि नोकर्म को ही जीव मानते हैं । **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** कुछ कर्म के उदय को ही जीव कहते हैं । **कम्माणुभागमिच्छंति** व कुछ लता, दारू, अस्थि और पाषाणादि रूप जो कर्मों का फल है उसे जीव कहते हैं। वह अनुभाग **तिव्वत्तणमंदत्तण-गुणेहि जो सो हवदि जीवो** तीव्रता-मंदतारूप स्वभाव से अपना फल देता है, वही जीव है । **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीव और कर्म इन दोनों को शिखिरिणी के समान मिले हुए को ही कुछ लोग जीव कहते हैं । **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति** जैसे आठ काठों का परस्पर संयोग होकर एक खाट बन जाती है, वैसे ही आठ कर्मों के संयोग से जीव हो जाता है । ऐसा कुछ लोग कहते हैं क्योंकि आठ कर्मों के संयोग से भिन्न शुद्ध-जीव की उपलब्धि नहीं है । **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की कल्पना करने वाले मंदबुद्धि वाले जीव हैं, जो कि देहरागादिरूप परद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं । **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** इसलिये वास्तविक कथन करने वाले सर्वज्ञ-भगवान् ने ऐसा कहा है कि ये लोग इन देहरागादि परद्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होने से परात्मवादी हैं । इस प्रकार पूर्वपक्ष का कथन करने वाली पाँच गाथायें हुईं ॥४४–४८॥

अब उपर्युक्त जो जीव का स्वरूप बतलाया है उसका परिहार करते हैं—

अर्थ—केवली भगवान् ने बतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्यकर्म के संबंध से होने वाली हैं । इसलिये ये सब जीव नहीं कही जा सकतीं ॥ ४९ ॥

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे, हैं मूर्त से उदित हैं जड़ के पिटारे ।
आश्चर्य 'जीव' फिर रे बन जाये कैसे ? हैं केवली वचन ये गज-मोति जैसे ॥४९॥

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः। **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति** केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यन्ते न कथमपि। किञ्च विशेषः—अङ्गारात् काष्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो। नास्तीति यद्भणितं तदयुक्तम्। कथमिति चेत्? रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः। किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टान्तः। किं च अङ्गारदृष्टान्तोऽपि न घटते। कथमिति चेत्? यथा सुवर्णस्य पीतत्वं अग्नेरुष्णत्व स्वभावस्तथाङ्गारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति। रागादयस्तु विभावाः स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक् कर्तुं शक्यते इति। यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितम् अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टान्तसहितहेतुः। किञ्च देहात्मनोरत्यन्तं भेदः इति पक्षः भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतुः, जलानलवदिति दृष्टान्तः॥ ४९॥ इति परिहारगाथा गता।

टीका—एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ये सभी देहरागादिरूप कर्म-जनित अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्यकर्म के उदय रूप परिणाम से उत्पन्न हुई हैं। इसलिये **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति** सर्वज्ञ भगवान् ने इन्हें कर्मजनित बतलाया है, अतः निश्चयनय से इन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है—कभी नहीं कहा जा सकता। देखो, अंगारे से कालेपन के समान जीव भी रागादि से भिन्न नहीं है ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, यह बात हम अनुमान से सिद्ध कर दिखाते हैं। देखो, शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है—यह पक्ष हुआ, क्योंकि परमसमाधि में स्थित पुरुषों के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानंद-एक-स्वभाव वाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है—यह हेतु हुआ। कीट-कालिमादि से भिन्न स्वर्ण के समान, यह दृष्टान्त हुआ। किं च पूर्वपक्षकार ने जो अंगार का दृष्टांत दिया है यहाँ वह घटित नहीं होता। क्योंकि जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि का उष्णपना स्वभाव है वैसे अंगारे का भी कृष्णपना स्वभाव है, उसे पृथक् नहीं कर सकते। किन्तु रागादिक तो डांक के द्वारा स्फटिक में आई हुई उपाधि के समान जीव के विभाव-भाव हैं, इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के बल से जीव से पृथक् किया जा सकता है—दूर हटाया जा सकता है। इसी प्रकार जो यह कहा गया है कि आठ काठों के संयोग से खाट नाम की वस्तु बन जाती है, उसी प्रकार आठ कर्मों के संयोग से जीव उत्पन्न हो जाता है, सो भी ठीक नहीं है। इस बात को भी सिद्ध करने के लिए अनुमान देते हैं। देखो, शुद्ध जीव आठ कर्मों के संयोग से भिन्न वस्तु है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि परम समाधि में स्थित रहने वाले महापुरुषों के द्वारा आठ कर्मों के संयोग से पृथग्भूत शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले जीव की उपलब्धि हुई देखी जाती है—यह हेतु हुआ। जैसे कि आठ काठ के संयोग से बनी हुई खटिया पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है—यह दृष्टांत हुआ। और सुनो, देह और आत्मा में परस्पर अत्यन्त भेद है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है, जिससे वे दोनों भिन्न-भिन्न पहचाने जा सकते हैं—यह हेतु हुआ। जैसे कि अग्नि और पानी—यह दृष्टांत हुआ। इस प्रकार परिहार गाथा पूर्ण हुई ॥४९॥

अथ चिद्रूपप्रतिभासेऽपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवन्तीति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवन्ति कथयन्ति । कथम्भूतं ? यत्कर्म **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वात् दुःखमिति । कथम्भूतस्य कर्मणः ? विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य । इदमत्र तात्पर्यम् । अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागादयोऽप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति ॥ ५० ॥ अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ।

अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागो द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रन्थान्तरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति —

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥५१॥

जब कि रागादि अध्यवसानभावों में चिद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे देते हैं--

अर्थ—ये आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं, क्योंकि उदय में आये हुए सभी कर्मों का फल दुःख स्वरूप होता है ॥५०॥

टीका—अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति कर्म आठ प्रकार के होते हैं, वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ जिन-भगवान् बतलाते हैं क्योंकि **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स** उदय में आये हुए इन कर्मों का फल आकुलता को लिये हुए दुःखरूप होता है । तात्पर्य यह है कि आठों प्रकारके कर्मों का कार्य, अनाकुलता है लक्षण जिसका, ऐसे पारमार्थिक सुख से विलक्षण है–आकुलता का उत्पादक है अतः वह दुःखरूप है और रागादि भाव भी आकुलता के उत्पादक होने से दुःख स्वरूप ही हैं । इस कारण से वे भी पुद्गल के कार्य ही हैं, इसलिये शुद्धनिश्चयनय से पौद्गलिक हैं । इस प्रकार आठ कर्मों को पुद्गलमय बताने वाली यह गाथा पूर्ण हुई ॥५०॥

इस पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि अध्यवसानभाव पुद्गलमय ही हैं तो फिर जीव रागी, द्वेषी, मोही होता है, इस प्रकार अन्य ग्रंथों में इनको जीव स्वरूप क्यों कहा गया है? इसका उत्तर आगे देते हैं—

अर्थ—ये सब रागादि अध्यवसानमयी भाव जीव हैं, ऐसा जिनवर भगवान् ने जो उपदेश दिया है वह

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित्स्वरूपी, है कर्म अष्टविध पुद्गलरूप रूपी ।
आता यदा उदय में बस कर्म बैरी, दे दुःख, मात्र फल हो, भव बीच फेरी ॥५०॥

जो राग-रोषमय भाव तुझे दिखाते, वे "जीव" मात्र व्यवहारतया कहाते ।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी, पी, ले तृषा झट बुझा, अति शीत पानी ॥५१॥

ववहारस्स दरीसणं व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं। यत्किं कृतम्? **उवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः। कथम्भूतः? **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यन्त इति। किं च विशेषः। यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः॥ ५१॥

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति—

व्यवहार नय का मत है॥ ५१॥

टीका—ववहारस्स दरीसणं यह व्यवहारनय का दर्शन है—मत है—स्वरूप है—जो कि **उवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं** जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है कि **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** ये सब अध्यवसानादि भाव-परिणाम भी जीव हैं। स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिर्द्रव्य का आलंबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलंबन से रहित और विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव के आलंबन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है। क्योंकि यदि व्यवहारनय को सर्वथा भुला दिया जाये तो फिर शुद्ध-निश्चय से तो त्रस और स्थावर जीव हैं ही नहीं; अतः फिर लोग निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे,—ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा, एक दूषण तो यह आयेगा। तथा शुद्धनिश्चयनय से तो जीव रागद्वेषमोह से रहित पहले से ही है अतः मुक्त ही है, ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान कोई क्यों करेगा, अतः मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, यह दूसरा दूषण आयेगा। इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निरर्थक नहीं है॥५१॥

पं० जयचन्दजी का भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर और रागद्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त किया जाये, तब शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग-द्वेष-मोह से बंध नहीं हो सकता। इस प्रकार परमार्थ से संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायेगा, ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है इसलिये व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

जब कि व्यवहार का उपदेश आवश्यक है तो फिर वह कैसे प्रवृत्त होता है सो दृष्टांत द्वारा बताते हैं—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥५२॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥५३॥ (युगलं)

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एवं बलसमुदयस्यादेशः कथनं। **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** बलसमूहं दृष्ट्वा पञ्चयोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते। निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्तिमाह—**एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** एवमेव राजदृष्टान्तप्रकारेणैव व्यवहारः। केषाम्? अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्नभावानां रागादिपर्यायाणां। **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथम्भूतो व्यवहारः? रागादयो भावाः व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे। **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्यः। कोऽसौ? जीवः। कथम्भूतः? शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः। इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥ ५२-५३ ॥ एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं

अर्थः—राजा जब कहीं जाता है तो अपने किंकरों को साथ लेकर जाता है वहाँ उस सारे समुदाय को ही 'यह राजा जा रहा है' इस प्रकार व्यवहार से कहा जाता है। वैसे ही रागद्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं अतएव कथञ्चित् जीव से भिन्न भावों सहित जीव को ही व्यवहारनय से आगम में जीव कहा गया है ॥५२-५३॥

टीका—राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा के साथ जाती हुई सेना को देखकर सारी सेना को ही यह राजा जा रहा है, **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** जो कि पाँच योजन तक फैला हुआ है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, किन्तु निश्चय से देखें तो राजा एक ही है [जो कि अधिक से अधिक दो फुट में फैला हुआ है] यह दृष्टाँत हुआ। अब दार्ष्टान्त बतलाते हैं—**एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** इसी प्रकार राजा के दृष्टाँत से मिलता हुआ ही यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न हैं उनको **जीवोत्ति कदो सुत्ते** यह रागादि भाव जीव हैं इस प्रकार परमागम में कहा गया है, **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** किन्तु वहाँ पर जीव तो निश्चित रूप से एक ही है जो कि शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाववाला है ॥५२-५३॥

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थनरूप तीन गाथायें हुईं।

इस प्रकार अजीवाधिकारमें शुद्धनिश्चयनय से देह-रागादि परद्रव्य हैं वे जीव स्वरूप

है जा रही रभस से चतुरंग सेना, भूपाल है चल रहा पर मान लेना।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता, राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ॥५२॥
संयोगजन्य रति-राग विभाव भावों, को जीव मान चलती व्यवहारता वो।
पूछो यथार्थ जिन आगम से, अकेला, है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ॥५३॥

न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोऽन्तराधिकारो व्याख्यातः ।

अथानन्तरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावना-मुख्यतया द्वादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादि-सूत्रगाथैका । अथाभ्यन्तरे रागादयो बहिरङ्गे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति तस्यैव गाथा-सूत्रस्य विशेष-विवरणार्थं **जीवस्स णत्थि वण्णो** इत्यादिसूत्रषट्कम् । ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सन्ति शुद्धनिश्चयनयेन न सन्तीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **ववहारेण दु** इत्यादि सूत्रमेकम् । तदनन्तरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्सम्बन्धो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदेहिं य संबंधो** इत्यादि सूत्रमेकम् । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्संतं** इत्यादि गाथात्रयम् । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा —

अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथम्भूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥५४॥

नहीं होते । इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिए हुए दस गाथाओं से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बताते हुए कि वर्ण-रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है, वही उपादेय है इस भावना की मुख्यता से १२ गाथाओं पर्यन्त व्याख्यान करते हैं । उन १२ गाथाओं में से **अरसमरूव** ऐसी एक गाथा है, जिसमें मुख्यता से यह बतलाया जाता है कि परम-सामायिक भावना में परिणत जो अभेदरत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्दमय सुखरूप समरसी भाव उसमें परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय है । फिर अभ्यंतररागादि और वर्णादि ये सभी जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जो एक गाथा से बताया था उसी का विशेष वर्णन करने के लिए "**जीवस्स णत्थि वण्णो**" इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं । इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे दोनों भाव व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिये हुए दोनों नयों का व्याख्यान करने के लिए **ववहारेणदु** इत्यादि एक सूत्र है । उसके आगे इन रागादिकों का जीव के साथ जो दूध और जल के समान सम्बन्ध है वह व्यवहार से है किन्तु निश्चय से नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए **एदेहिं य सम्बधो** इस प्रकार एक सूत्र है । उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टांत-दार्ष्टांत से स्पष्ट करते हुए **पंथे मुस्संतं** इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं । इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई ।

अब यदि निश्चय से जीव रागादिरूप नहीं है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो बतलाते हैं—

अर्थ—शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमें न रस है, न रूप है, न गंध है और न इन्द्रियों के गोचर ही है ।

आतमा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, आकार से रहित है सुखका पिटारा ॥५४॥

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनयेन रसरूपगन्धस्पर्शशब्दरहितं मनोगतका मक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मम्। पुनरपि किंविशिष्टम् ? शुद्धचेतनागुणम्। पुनश्च किं रूपम् ? **जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसठाणं** निश्चयनयेन स्वसम्वेदनज्ञानविषयत्वादलिङ्गग्रहणं समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि। इदमत्र तात्पर्य्यम्। शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसम्बन्धिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जननिजशुद्धात्मसमाधिसंजात सुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति। एवं सूत्रगाथा गता ॥ ५४ ॥

अथ बहिरङ्गे वर्णाद्यभ्यन्तरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति—

केवल चेतना गुणवाला है। शब्दरूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है ॥५४॥

टीका—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनय से जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द से भी रहित है और मनोगत काम-क्रोधादि के विकल्पों के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। फिर कैसा है - कि शुद्धज्ञानचेतना गुणवाला है तथा **जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनय की अपेक्षा मात्र स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने के कारण किसी भी बाह्य लिंग से ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा समचतुरस्रादि छह संस्थानों से भी रहित है। ऐसे उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि शुद्धनिश्चयनय से जीव पुद्गल-द्रव्य सम्बन्धी वर्णादि गुण और शब्दादि पर्याय इन सबसे रहित है। सब प्रकार की द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन इनसे होने वाले रागादि विकल्पों का जो विषय नहीं है तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य एवं इतर सब जीवद्रव्यों से भिन्न है। किन्तु अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन गुणों से युक्त है वही शुद्धात्मा है जो कि सम्पूर्ण पदार्थों में, सम्पूर्ण देशों में, सब ही कालों में, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेदों से विभक्त रहने वाले जन साधारण के समस्त मन, वचन और कार्य के व्यापारों में मिलना दुर्लभ है क्योंकि वह अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा मानकर पर्वत की गुफा, दराड़ इत्यादि में बैठकर विकल्प रहित, मोह रहित, तथा सब प्रकार के झंझटों से रहित जो निज शुद्धात्मा उसकी समाधि से उत्पन्न जो सुखामृतरस उसकी अनुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे शुद्ध जीव का भले प्रकार से ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार सूत्र गाथा पूर्ण हुई ॥५४॥

आगे कहते हैं कि बाह्य में शरीर के वर्णादि और अभ्यंतर में रागादि विभावभाव जो कि पुद्गल सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्धनिश्चयनय से जीव स्वरूप नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५५॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
सो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५७॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥

अर्थ—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, तथा कर्म नोकर्म ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं। कोई भी योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान, ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं। स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सब ही पुद्गलद्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम हैं ॥५५-६०॥

लो जीव के सरस गंध नहीं नहीं हैं, ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं हैं ।
संस्थान संहनन सुन्दर है न काया, आलोक धाम जिसमें तम है न छाया ॥५५॥

ये जीव के न रति राग यथार्थ में हैं, ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ में हैं ।
नो-कर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं हैं, वन्दूँ इसे बस यही शिव की मही है ॥५६॥

है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ, ना तीव्र मंद विधि स्पर्धक की कलाएँ ।
अध्यात्म और अनुभाग न थान हीन, वन्दूँ उसे रह सकूँ निज में विलीन ॥५७॥

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते, औ बन्ध-थान तक थान जहाँ न पाते ।
होते नहीं उदयथान न मार्गणायें, शुद्धात्म को हम अतः शिर तो नवायें ॥५८॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५९।।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।६०।। (षट्कम्)

वर्णगन्धरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्या स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्त्तिश्च औदारिकादिपञ्चशरीराणि, समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदायलक्षणः पक्षः, आस्था, सन्धा, प्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणाङ्गद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम् । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपपञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इति ते तस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सन्ति । अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणम् ।

टीका—रूप शब्द से कहे जाने वाले वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श तथा रस, गंध, वर्ण वाली मूर्ति व औदारिक आदि पाँच शरीर, समचतुरस्रादि छह संस्थान, और वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन ये सभी वर्णादिक धर्मी निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं । यह साध्य अथवा धर्म हुआ । धर्म और धर्मी दोनों मिलकर समुदाय रूप पक्ष हुआ । जिसको आस्था, संधा या प्रतिज्ञा नाम से भी कहा जाता है । ये सब जीव के नहीं हैं। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं, यह हेतु हुआ । इस प्रकार इस व्याख्यान में पक्ष तथा हेतु इन दो अंगों वाला अनुमान हुआ ।

इसी प्रकार राग-द्वेष-मोह अथवा मिथ्यात्व-अविरत-प्रमाद-कषाय और योग रूप पाँचों प्रत्यय एवं मूल और उत्तरप्रकृतियों के भेद से विभक्त किये जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सब भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं ।

संक्लेश-थान स्थिति बन्धन थान दो, वे, ना जीव के नहिं सुसंयम लब्धि हों वे ।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं हैं, मैं भी इसे विनत हूँ नत वे गणी हैं ।।५९।।

ये जीवथान गुणथान, न जीव के हैं, ये चूँकि सर्व जड़रूप अजीव के हैं ।
चैतन्य धाम, जड़ से अति भिन्न न्यारा, आराध्य जीव वह है मम है सहारा ।।६०।।

तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम् ।

"वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः।।"

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यन्ते, तानि च न सन्ति । लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यन्ते । गुडखाण्डशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यन्ते । निंबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? 'पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनित-मनोवचनकायवर्गणावलम्बनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूप-चतुर्विधबन्धस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ जीवेन सह कालान्त-रावस्थानरूपाणि स्थितिबन्धस्थानानि । कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमन्दोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गल-

---

परमाणु के अविभागप्रतिच्छेद रूप शक्तिसमूह को वर्ग कहते हैं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं । ये सभी जीव के नहीं हैं । अथवा कर्म की शक्ति क्रम से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो उसे स्पर्धक कहते हैं । सो ही इन तीनों का लक्षण आगम में बतलाया है–अणु की शक्ति के समूह का नाम वर्ग, और बहुत से वर्गों के समूह का नाम वर्गणा, और वर्गणाओं के समूह का नाम स्पर्द्धक, ऐसे स्पर्द्धकों को नष्ट करने वालों के द्वारा कहा गया है । इस प्रकार शुभ तथा अशुभरूप रागादिक के विकल्प जहाँ हों वे अध्यवसान कहलाते हैं । वे भी जीव के नहीं हैं । लता, दारू, हड्डी और पाषाण जैसी शक्ति को लिये हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते हैं । गुड़, खाँड, शर्करा और अमृत समान जो शुभरूप अघातिया कर्म हैं, उनके अनुभाग स्थान होते हैं । नीम, काँजी, विष और हलाहल सरीखे अनुभाग स्थान अशुभ अघातिया कर्मों के होते हैं । ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा का आलम्बन से कर्म ग्रहण करने के हेतुभूत जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन वही है लक्षण जिसका ऐसे योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का बंधस्थान, सुख-दुःख का अनुभव रूप उदयस्थान, और गति आदि मार्गणास्थान, ये सब भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं ।

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिबंधस्थान कषायों की उत्कृष्टतारूप संक्लेशस्थान, कषायों के मंद उदयरूप विशुद्धिस्थान और कषायों को क्रम से हीन करने रूप सयमलब्धिस्थान, ये सब भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । जैसा कि गाथा में बताया है–– 'बादर

द्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन 'बादरसुहमेइंदी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीय । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति' इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेन्द्रियादि चतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । कुत इति चेत् ? यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानान्ताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्र भावार्थः— सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरङ्गे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवाः इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोधः । इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतम् ॥६०॥

अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धान्तादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः अत्र तु प्राभृतग्रन्थे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानान्ता भावाः पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति ॥६१॥

एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता ।

एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, असैनी पञ्चेन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीवसमास हैं, तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । इसका भी कारण यह है कि ये सब वर्णादि-गुणस्थानपर्यंतभाव शुद्धनिश्चयनय से [देखने पर] पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं । तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेकर अन्तरंग में तो रागादिक भाव और बाह्य में शरीर के वर्ण की अपेक्षा वर्णादिक इन सबको जीव कहा है । किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहाँ पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है । इस प्रकार दोनों स्थानों पर नय विभाग की विवक्षा से कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप में छह गाथायें कहीं ॥ ५५-६० ॥

पूर्व में जो बताया था कि सिद्धान्तादि ग्रंथों में वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और इस प्राभृत ग्रन्थ में निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं--

अर्थ व टीका—स्वामी **कुंदकुंद** कहते हैं कि यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान-पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं हैं किन्तु व्यवहारनय से तो ये सब जीव के हैं । इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के समर्थनरूप यह गाथा पूर्ण हुई ॥ ६१ ॥

वर्णादिभाव इस आतम में लसे हैं, माने गये सकल वे व्यवहार से हैं ।
आत्मा अमूर्त अजरामर-निर्विकारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥६१॥

अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सन्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥६२॥

एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो एतैः वर्णादिगुणस्थानान्तैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह सम्बन्धो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मन्तव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसम्बन्धः । कुत इति चेत् ? **ण य हुंति तस्स ताणि दु** न च भवन्ति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानान्ता भावाः पर्यायाः । कस्मात्? **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्संश्लेषसंबन्धो भवतु नचाभ्यन्तराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति । नैवं, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया

विशेषार्थ—व्यवहारनय पर्यायार्थिक है, अतएव जीव के साथ पुद्गल का संयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है उसका वर्णन करता है; इसलिए वर्णादिक से गुणस्थान-पर्यन्त भावों को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर स्वभाव का ही कथन करने वाला है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि में जीव के नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में ये नहीं होते । यह सब विवक्षाभेद से है स्याद्वाद में इसका कोई विरोध नहीं है ।

निश्चय से वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

अर्थ—इन वर्णादिक भावों के साथ संसारी जीव का एक क्षेत्रावगाही संयोग संश्लेष संबंध होता है । जैसा कि दूध का जल के साथ होता है । ऐसा होने पर भी वास्तविकता में ये जीव के नहीं हो जाते क्योंकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग-गुण के कारण इनसे भिन्न ही झलकता है ॥६२॥

टीका—एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त भावों के साथ जीव का वैसा ही संयोगरूप [संश्लेषरूप] सम्बन्ध है जैसा कि परस्पर में दूध और जल का होता है, किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध इनका जीव के साथ नहीं है । इसलिये **ण य हुंति तस्स ताणि दु** ये सब वर्णादि-गुणस्थानपर्यन्त-भाव जोव के नहीं हैं किन्तु **उवओगगुणाधिगो जम्हा** जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है उसी प्रकार जीव मात्र ज्ञान-दर्शन गुण को लिये हुए है । यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि वर्णादिक जो वाहर दिखते हैं उनका तो जीव से क्षीर-नीर के समान संयोग सम्बन्ध है उसको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है किन्तु अभ्यन्तर में होने वाले रागादि-भावों का ऐसा संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता । इन रागादिकों का सम्बन्ध इस जीव के साथ अशुद्धनिश्चयनय से कहना योग्य है ? आचार्य इसका समाधान करते हैं कि हे भाई ! ठीक है, रागादिक का सम्बन्ध जीव के साथ अशुद्धनिश्चयनय से है ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का सम्बन्ध बतलाने वाले असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य-

---

वर्णादि संग रहता फिर भी निराला, आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला ।
लो क्षीर में वह भले मिल जाय नीर, पै नीर, नीर रहता बस क्षीर, क्षीर ॥६२॥

पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥ ६२ ॥

अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारेण परिहरति —

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥६३॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥६४॥

एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६५॥ (त्रिकलम्)

भेद दिखलाने के लिए कहा गया है । वास्तव में अशुद्ध-निश्चयनय भी शुद्धनिश्चय की अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

अब प्रश्न हो सकता है कि यह पुरुष काले-वर्णवाला है और यह धवल-वर्णवाला है ऐसा जो व्यवहार है, वह व्यर्थ ठहरेगा ? इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा में व्यवहार की सार्थकता दिखलाते हैं अथवा दूसरे प्रकार से यों कहो कि इस प्रकार आयी हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोकप्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा दूर करते हैं—

अर्थ—जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है । पर वास्तव में देखा जाये तो कोई मार्ग नहीं लुटता, किन्तु उस मार्ग में पथिक ही लुटते हैं । उसी प्रकार जीव में रहने वाले कर्मों के और नोकर्मों के वर्णों को देखकर यह वर्ण जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते हैं । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप और शरीर के आकार इत्यादि सभी व्यवहार से हैं ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं ॥६३-६५॥

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा, मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा ।
पै वस्तुतः पथ कभी लुटता नहीं है, देखा गया पथिक ही लुटता सही है ॥६३॥

देहादि का सुभग वर्ण, निहार, मानो, लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानो ।
ऐसा पुनीत जिन-शासन शस्य बोले, भाई अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ॥६४॥

संस्थान आदिक शरीर विकार सारे, ये स्पर्श रूप रस गंध गुणादि न्यारे ।
हैं जीव के पर सुनो व्यवहार से हैं ? ऐसे कहें मुनि निजातम में बसे हैं ॥६५॥

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिणो लोका भणन्ति। किं भणन्ति ? **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एष प्रत्यक्षीभूतः पन्थाश्चौरैः कर्तृभूतैः। **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पन्था मुष्यते कश्चिदपि, किन्तु पन्थानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यन्त इति दृष्टान्तगाथा गता। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदूं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टान्तेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा। **जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टान्तिगाथा गता। **एवं रसगधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिन्यायेन रसगन्धस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः। **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशन्ति कथयन्तीति नास्ति व्यवहारविरोधः। इति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥६३-६५॥ एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिर्द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः।

टीका—पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ देखकर सर्व साधारण लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि **मुस्सदि एसो पंथो** यह सामने वाला मार्ग तो चोरों द्वारा लूट लिया जाता है। किन्तु **ण य पंथो मुस्सदे कोई** मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है उसे कोई भी लूट नहीं सकता, किन्तु उस मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं यह दृष्टांत हुआ। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदूं वण्णं** उसी प्रकार अधिकरणभूत जीव में होने वाले कर्म-नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर **जीवस्स एस वण्णो जणेहिं ववहारदो उत्तो** व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान् ने ऐसा कहा है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है यह दार्ष्टांत गाथा हुई। **एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** इसी प्रकार उपर्युक्त दार्ष्टांत के न्याय से रस गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन और राग, द्वेष, मोहादिक जो पहले छह गाथाओं में बता आये हैं **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** उन सबको निश्चय के जानने वाले महापुरुष व्यवहार नय के द्वारा जीव के कहते हैं। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इस प्रकार दृष्टांत और दार्ष्टांत के द्वारा व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा पूर्ण हुईं ॥ ६३-६५ ॥

विशेषार्थ—बात यह है कि शुद्धनिश्चयनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है। यहाँ गुणस्थानादि न झलक कर मात्र ज्ञाता-द्रष्टापन है ही झलकता है और उसी का अनुमनन-चिंतन होता है। किन्तु जहाँ ध्यानस्वरूप-निश्चयनय का अवलंबन छूटा कि साधक को कर्त्तव्यशीलता पर आकर कि 'मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए ? मैं मुनि हूँ और छट्ठे गुणस्थान की अवस्था में हूँ अतः मुझे स्तवन आदि षट्-आवश्यक करना चाहिए' इत्यादि विकल्पों को अपनाना होता है। किन्तु व्यवहार सम्पन्न कर फिर ध्यानस्वरूप-निश्चय पर पहुँचता है। वहाँ थक जाने पर फिर व्यवहार में आता है। इस प्रकार अभ्यास दशा में साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर बार-बार जाना-आना होता है। इसीको लक्ष्य रखकर आचार्यदेव ने दोनों नयों का व्याख्यान किया है, और दोनों को अपने-अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है। इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्त्तव्य है।

शुद्ध जीव ही उपादेय है इस व्याख्यान को लेकर बारह गाथाओं द्वारा यह दूसरा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अतः परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादि सूत्रमेकम्। ततः परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन **जीवो चेव हि** इत्यादिगाथात्रयं। तदनन्तरमेकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यम् नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक्कं च दोण्णि** इत्यादिगाथात्रयम्। ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं, तथैवाभ्यन्तरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च **मोहणकम्म** इत्यादिसूत्रमेकम्। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—

अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६६॥

इसके आगे निश्चयनय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, इसी बात को दृढ़ करने के लिए आठ गाथाओं पर्यंत व्याख्यान करते हैं। वहां पहले व्यवहारनय से संसारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं, इस प्रकार बतलाने के लिये '**तत्थभवे**' इत्यादि रूप से एक सूत्र है। फिर '**जीवो चेव हि**' इत्यादि तीन गाथायें हैं। जिनमें यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायेगा तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायेगा यह बड़ा भारी दूषण है। फिर '**एक्कं च दोण्णि**' इत्यादि तीन गाथायें ऐसी हैं जिनमें बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमासों का जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य-संबंध नहीं है। और वर्णादिक का भी तादात्म्य संबंध नहीं है। इसके आगे '**मोहणकम्म**' इत्यादि एक गाथा सूत्र है, जिसमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य संबंध नहीं है। वैसे ही अंतरंग में होनेवाले रागादि भावों का भी तादात्म्य अटल संबंध नहीं है। इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है।

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—संसारमें स्थित जीवों के साथ वर्णादिकका संबध है, परन्तु संसार से रहित मुक्त-जीवों के साथ वर्णादिक का कोई भी संबंध नहीं है ॥६६॥

औपादिकी परिणती बदबू निराली, संसारिजीव भर में दुःख शील वाली।
संसार मुक्त शुचि आतम में अकेली, सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ॥६६॥

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी तत्र विवक्षितावविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति। **संसारपमुक्काणं** संसारविमुक्तानां। **णत्थि दु वण्णादओ केई** पुद्गलस्थवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात्। केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोऽस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादयः केऽपि ॥६६॥ इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता।

अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हु दे कोई ॥६७॥

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि यथानन्तज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत्? **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हु दे कोई** तदा किं दूषणं? विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोऽपि विशेषो भेदो नास्ति। ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥६७॥

अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसंबन्धोऽस्तीति दुरभिनिवेशेऽपि जीवाभाव एव दोष

टीका—तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी वहाँ विवक्षित-**वर्तमान** और अविवक्षित—**भूत या भावी** भव में जो संसार में स्थित हैं उन्हीं जीवों के अशुद्धनय से वर्णादिक का सम्बन्ध है, किन्तु **संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई** संसार से रहित मुक्त जीवों के, वर्णादिक जो पुद्गल के गुण हैं, उनका तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जैसा तादात्म्य-सम्बन्ध जीव के साथ केवलज्ञानादि गुणों का और सिद्धत्वादिपर्यायों का है वैसा तादात्म्य-सम्बन्ध वर्णादिक के साथ अशुद्धनय से भी जीव का नहीं है। इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का निषेध करने वाली गाथा पूर्ण हुई ॥६६॥

इस पर भी यदि जीव के साथ वर्णादिक का दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है उसे दिखलाते हैं—

अर्थः—[संसारी जीव को संबोधकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई!] यदि इन सब ही भावों में जीव को माना जायेगा तो कहने में जीव और अजीव (पुद्गल) में परस्परं कोई भेद नहीं रहता ॥६७॥

टीका—जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि जैसे अनंतज्ञान और अव्याबाध सुख आदि जीव में होते हैं वैसे ही वर्णादिगुण पुद्गल में हैं ऐसा स्पष्ट है, फिर भी यदि तू अपने मन में ऐसा समझता है कि वर्णादिक भी जीव के गुण हैं। तो **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हु दे कोई** यह बड़ा भारी दूषण आता है कि विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाववाला जीव और जड़त्वादि स्वभाववाला अजीव इस प्रकार का जो भेद है, वह तेरे मत में सर्वथा नहीं रहता एवं शुद्ध जीव का अभाव ही हो जाता है ऐसा इस सूत्र का अर्थ है ॥६७॥

अब यदि जीव के साथ में सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल संसार

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव में हों, कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो।
थोड़ा विचार कर तू तज भोग भाई, भिन्नातिभिन्न जड़ जीव पड़े दिखाई ॥६७॥

इत्युपदिशति—

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६८॥

एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६९॥ (युगलम्)

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकान्तेन भवन्तीति । **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** ततः किं दूषणं ? संसारस्थजीवा अमूर्तानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवन्ति । अथ—**एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः, नान्यः कोऽपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः । **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोऽपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोऽपि चिद्रूपः । कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वा-

---

अवस्था में ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभावरूप दूषण आता है ऐसा कहते हैं—

अर्थ—यदि संसार अवस्था में जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाये तो तेरे कहने में संसारी जीव रूपी ठहरे । अतः फिर हे भोले भाई ! पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्गल का होगा, क्योंकि दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा ॥ ६८-६९ ॥

टीका—**जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी** यदि संसार में स्थित जीवों के तेरे कहने के अनुसार पुद्गल के समान, वर्णादिक गुण एकान्त से मान लिए जायें **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** तो संसार में स्थित जो जीव हैं वे अमूर्तस्वरूप जो अनंतज्ञानादि चतुष्टयमय लक्षण को छोड़कर शुक्ल-कृष्णादि लक्षण वाले रूपीपन को प्राप्त हो जायेंगे यह दूषण आयेगा । **एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** हे भोले प्राणी ! इस प्रकार जीव के रूपीपना आ जाने पर जीव भी पुद्गल ही ठहरा, उससे भिन्न विशुद्ध-चैतन्य-चमत्कार वाला जीव तेरे अभिप्राय में कोई नहीं रहा । इतना ही नहीं कि संसारावस्था में ही जीव-पुद्गल ठहरा, परन्तु **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हुए भी यह पुद्गल ही जीवपने को

संसार में स्थिति भले इस जीव की है, संयोग जन्य वह चूँकि अजीव की है ।
तादात्म्य जीव जड़ में यदि मानते हो, तो जीव मूर्त बनता नहिं जानते हो?॥६८॥

हो जाय मूर्त जड़ जीव, अजीव होंगे, सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होंगे ।
साम्राज्य मात्र जड़ का जग में बनेगा, संसार दुःख फिर क्या, शिव क्या रहेगा? ॥६९॥

दिति भवत्येव जीवाभावः। किंच संसारावस्थायामेकान्तेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवतीति भावार्थः। ।। ६८–६९ ।। एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतम्।

अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिपर्यन्तं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा देहगता वर्णादयोऽपीत्यावेदयति—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।। ७० ।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।७१।। (युगलम्)

एकद्वित्रिचतु.पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधानाः प्रकृतयो भवन्ति। कस्य संबन्धिन्यो

प्राप्त होगा न कि उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप जीव। कारण कि वहाँ पर भी पुद्गल द्रव्य के वर्णादिक गुणों का निषेध नहीं किया जा सकेगा इसलिये जीव का अभाव हो जाएगा, और संसार अवस्था में एकान्त से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी। क्योंकि केवलज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार का ही नाम मोक्ष है जोकि वह भी जीव को पुद्गलपना प्राप्त हो जाने पर किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है, ऐसा आचार्य का तात्पर्य है ।।६८–६९।।

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध मान लेने पर [जीव और पुद्गल इन दोनों का एक ही लक्षण हो जाने से] जीव का अभाव हो जायगा, इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथाएँ हुईं।

आगे कहते हैं कि बादर और सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादि-पंचेन्द्रिय-पर्यंत जो चौदह जीवसमास हैं वे भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं तो फिर वर्णादिक जो देहगत धर्म हैं वे जीव के कैसे हो सकते हैं ?

अर्थ व टीका—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय असंज्ञी, संज्ञी, बादर और सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब नामकर्म सम्बन्धी प्रकृतियां हैं जो कि अमूर्त्त, अतीन्द्रिय, और निरंजन ऐसे परमात्मताव से विलक्षणता लिए हुए हैं। इन पूर्वोक्त पुद्गलमयी नामकर्म की

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि, ये नाम कर्म प्रकृती विकलेंद्रियादि।
संसारि-जीव बँधता इनसे यदा है, पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा है ।।७०।।

रूपाभिभूत जड़ पुद्गल कर्म द्वारा, ये जीव थान सब निर्मित हैं सुचारा।
मानो इन्हें फिर सचेतन जीव कैसा? जो है असंभव, सुसंभव होय कैसा ? ।।७१।।

नामकर्मण इति। अथ—एताभिरमूर्त्तातीन्द्रियनिरञ्जनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः पूर्वोक्ताभिर्निवृत्तिनि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवन्ति ? न कथमपि। तथाहि - यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवन्ति न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोऽपि पुद्गलस्वरूपा भवन्ति, न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः ॥७०-७१॥

अथ ग्रन्थान्तरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यन्ते तत्कथं घटत इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवो।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिताः। **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता। क्व ? सूत्रे परमागमे। कस्मात् ? व्यवहारादिति नास्ति दोषः। एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥ ७२ ॥

प्रकृतियों द्वारा निष्पन्न १४ जीवसमास हैं। अतः वे निश्चयनय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं ? कभी नहीं कहे जा सकते। जैसे—करणभूत सोने के द्वारा बनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है वैसे ही पुद्गलमय प्रकृतियों के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुद्गलद्रव्य-स्वरूप ही हैं न कि जीवस्वरूप हैं। ऐसा कहने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवस्थान ही पुद्गल हैं तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्गलाश्रित हैं, अतः फिर वे तो जीव के स्वरूप किसी भी प्रकार न होकर पुद्गल स्वरूप ही हैं। ऐसा इन दोनों गाथाओं का अभिप्राय है ॥७०-७१॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्म जीव होते हैं ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा हुआ है वह क्यों ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ— पर्याप्त अपर्याप्त, एवं सूक्ष्म और बादर ये सब देह की संज्ञायें हैं। उन्हीं को व्यवहारनय से परमागम में अभेद अपेक्षा से जीव की बताई हैं ॥ ७२ ॥

टीका—पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर कहा गया है, **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** वह पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्मपने से विलक्षण जो परमचैतन्यज्योति-लक्षण वाला शुद्धात्मा उससे पृथग्भूत जो यह देह है उसी की संज्ञा को परमागम में व्यवहार से जीव संज्ञा कही गई है, इसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये सभी निश्चय से जीव के स्वरूप नहीं है। इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥ ७२ ॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये, हैं वस्तुतः जड़मयी तन की दशायें।
संसारिजीव इनमें तन पा बसे हैं, ये जीव हैं इसलिए उपचार से हैं ॥७२॥

अथ न केवलं बहिरङ्गवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यन्तरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोऽपि न भवन्तीति स्थितं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकन्दलीकन्दायमानसन्तानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुणस्थानानि। तथा चोक्तं 'गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा'। **ते कह हवंति जीवा** तानि कथं भवन्ति जीवा? न कथमपि। कथंभूतानि? **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवमभ्यन्तरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथन-

---

अब बाहर में जो वर्णादिक हैं वे शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इतना ही नहीं किन्तु अन्तरङ्ग में होने वाले मिथ्यात्वादि गुणस्थानरूप रागादिक भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं, इसी को बतलाते हैं—

अर्थ—मोहनीय-कर्म के उदय से जो यह गुणस्थान कहे गए हैं, वे किस प्रकार से जीव हो सकते हैं? क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं शुद्ध चेतना से भिन्न हैं। ७३॥

टीका—मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा मोह रहित जो परम-चैतन्य का प्रकाश वही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मतत्त्व से विपरीत स्वरूप वाले और अनादि अविद्या कदली के कंदस्वरूप संतान से प्राप्त हुए मोहकर्म के उदय से होने वाले बताये गये हैं वे गुणस्थान हैं। जैसा कि गोमट्टसार में कहा गया है— 'गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा'। **ते कह हवंति जीवा** वे जीव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। वे गुणस्थान कैसे हैं? **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं [क्योंकि चेतना के विकार हैं] तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा वे सब सदा अचेतन हैं। अशुद्धनिश्चयनय यद्यपि द्रव्यकर्म आदि की अपेक्षा से अन्तरङ्ग में होने वाले रागादि भावों को चेतन मानकर निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव में वह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के काल में सर्वत्र लगा लेना॥ ७३॥

विशेषार्थ:—यहाँ पर रागादि भावकर्म को भी अचेतन बताया गया है सो अचेतन शब्द का अर्थ चेतना रहित भी होता है और किंचित् चेतन अर्थात् चेतनता के विकार रूप भी होता है। वहाँ ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म तो उपादान रूप में पुद्गलद्रव्य स्वरूप है अतः स्पष्ट रूप से अचेतन है; किन्तु रागादिभावों का उपादान अशुद्ध जीव होता है, केवल उनके होने में निमित्त रूप से द्रव्यकर्मरूप पुद्गल काम करता है, अतः रागादिभाव अशुद्धनिश्चयनय से विकारी

हों मोह के उदय में गुण थान सारे, माने गये परम आतम से निराले।
जो हैं अचेतन निकेतन मूर्त्त भाई, तो जीव होय किस भाँति अमूर्त्त थाई॥७३॥

रूपेणाष्टमगाथा गता ॥७३॥ एवमष्टगाथाभिस्तृतीयान्तराधिकारो व्याख्यातः। ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेऽपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं। तत्रापि समयसारव्याख्यानमात्रापि समयसार-व्याख्यानमेव। यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभङ्ग इति नास्ति पुनरुक्तम्। अथवा भावनाग्रन्थे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रन्थवद्रागिणां शृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता। 'विवक्षितो मुख्य' इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमात्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं। किंवत् ? एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपञ्चकं ज्ञातव्यम्।

चेतन के परिणाम हैं। इसलिये अशुद्धनिश्चयनय से चेतन के भाव हैं, ऐसा टीकाकार का कहना है। किन्तु शुद्धनिश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामों को ही कहता है, अतः इसके विचार में तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार अभ्यंतर में जैसे मिथ्यादृष्ट्यादि-गुणस्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं, वैसे ही रागादिक भी शुद्ध-जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा कथन करते हुए आठ गाथायें पूर्ण हुईं।

इस प्रकार आठ गाथाओं में तीसरे अन्तराधिकार का व्याख्यान किया गया।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार में बता चुके हैं वही बात इस अजीवाधिकार में क्यों कही गई, यह पुनरुक्त दोष है ? इसका आचार्य समाधान करते हैं कि पहले हम यही प्रतिज्ञा कर आये हैं कि यहाँ तक जो बात कही है उसी को विस्तार रुचि वाले शिष्यों के लिए नव अधिकारों से उसी समयसार का व्याख्यान करके बतलायेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ समयसार का व्याख्यान संक्षेप से किया था, पर यहाँ समयसार का व्याख्यान कुछ विस्तार से है। यदि उस समयसार के व्याख्यान को छोड़कर दूसरा व्याख्यान करें तो की हुई प्रतिज्ञा का भंग होता है इसलिये यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है अपितु गुण ही है। प्रत्युत यह तो भावनात्मक ग्रंथ है इसलिए इसमें परमात्मप्रकाश, समाधिशतक आदि ग्रंथों की भाँति पुनरुक्त दोष नहीं है किन्तु जैसे रागी जीवों को शृङ्गार की कथा बार-बार कही जाती है वैसे ही यहाँ पर भी एक ही बात बार-बार शिष्य को कहा जाना ठीक है। अथवा यों समझो कि वहाँ पर तो जीवाधिकार में जीव की मुख्यता है और यहाँ अजीवाधिकार में अजीव की मुख्यता है। जहाँ पर जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य समझा जाता है। अथवा वहाँ सामान्य कथन है और यहाँ पर उसी का विस्तार है। अथवा वहाँ रागादिक से जीव भिन्न होता है—ऐसा विधानात्मक व्याख्यान है किन्तु यहाँ रागादिक जीव के स्वरूप नहीं है—ऐसा निषेधात्मक व्याख्यान है। किसके समान ? जैसे एकत्व-भावना और अन्यत्व-भावना में विधि और निषेध रूप कथन है। इस प्रकार शंका का पाँच प्रकार से परिहार किया गया है।

एवं जीवाजीवौ जीवाजीवाधिकाररङ्गभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रान्ताविति ।

इति **श्रीजयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्य-वृत्तौ** स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभि**रजीवाधिकारः** समाप्तः ।। १ ।।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकाररूप-रंगभूमि में शृङ्गार सहित पात्र के समान व्यवहारनय से एकरूपता को प्राप्त हुए प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से शृङ्गार रहित पात्र के समान पृथक्-पृथक् होकर निकल गये ।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति-स्वरूप-लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या में तीन स्थलों के समुदाय से तीस गाथाओं द्वारा यह **अजीवाधिकार** समाप्त हुआ ।

कर्त्तृकर्ममहाधिकारः

अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररङ्गभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहार नयेन कर्तृकर्मवेषेण शृङ्गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दण्डकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यन्तं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका । अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादि गाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पञ्चास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका। प्रथमतस्तावत् **जाव ण वेदि विसेसतरं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन, गाथाचतुष्टयं संज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—

अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति—

अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रंगभूमि में यद्यपि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कर्त्ताकर्म-भाव रहित जीव और अजीव हैं किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वही जीव और अजीव कर्ता और कर्म के भेष में शृङ्गार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं। इस प्रकार के दण्डकों को छोड़कर ७८ [अठत्तर] गाथाओं पर्यन्त नव स्थलों से व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार पुण्य-पापादि सप्तपदार्थों की पीठिका के रूप में तीसरे अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई। अथवा यों कहो कि '**जो खलु संसारत्थो जीवो**' इत्यादि तीन गाथाओं के द्वारा पुण्यपापादि रूप सप्तपदार्थ जो कि जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, वे शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं, इस प्रकार का व्याख्यान पंचास्तिकाय-प्राभृत ग्रंथ में जो पहले संक्षेप से कह आये हैं, उन्हीं पुण्य-पापादि सप्तपदार्थों का स्पष्ट वर्णन करने के लिए ये पीठिका का समुदायरूप कथन किया जाता है यह दूसरी पातनिका हुई। वहाँ सबसे पहले **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके पाठ के क्रम से छह गाथाओं पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ दो गाथाएं तो अज्ञानी जीव की मुख्यता से और चार गाथायें ज्ञानी जीव की मुख्यता से कही गई हैं। इस प्रकार पहले स्थल में समुदाय पातनिका हुई।

वही आगे बतलाते हैं कि यह जीव क्रोधादि आस्रव भाव और शुद्धात्मा इन दोनों में जो भेद है उसको जब तक भली प्रकार नहीं जान लेता है तब तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ।।७४।।

कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ।।७५।। (युग्मम्)

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषान्तरं भेदज्ञानं शुद्धात्म-क्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः । **अण्णाणी ताव दु सो** तावत्कालपर्यन्तमज्ञानी बहिरात्मा भवति स जीवः । अज्ञानी सन्किं करोति ? **कोहादिसु वट्टदे जीवो** यथा ज्ञानमहम् इत्यभेदेन वर्त्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिज शुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोऽहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति । अथ—**कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य जीवस्य । किं फलं भवति ? **कम्मस्स संचओ होदि** परमात्मप्रच्छादककर्मणः सञ्चय आस्रव आगमनं भवति । **जीवस्सेवं बधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** तैल-अक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसम्बन्धेन मलबन्धवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मा-

---

अर्थ—आत्मभाव और आस्रवभाव दोनों में परस्पर में होने वाली विशेषता को जब तक यह जीव अपने उपयोग में ठीक प्रकार नहीं जान लेता है तब तक अज्ञानी बना रहता है, और तभी तक क्रोधादिक करने में प्रवृत्त होता है । अतः क्रोध आदि में प्रवृत्त होने वाले के नवीन कर्मों का बंध भी होता रहता है । सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन कर्म बंध होने का यही ढंग बतलाया है ।७४-७५।

टीका--जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्रवों के स्वरूप में जो विशेषता है उसको यह जीव जब तक नहीं जान लेता—समझ लेता, **अण्णाणी तावदु सो** तब तक यह अज्ञानी और बहिरात्मा बना रहता है । अज्ञानी होकर वह क्या करता है कि **कोहादिसु वट्टदे जीवो** जैसे मैं ज्ञान हूँ ,अर्थात् ज्ञान मेरा स्वभाव है' इस प्रकार ज्ञान के साथ एकता को लिए हुए है वैसे ही क्रोधादिक आस्रव भावों से रहित ऐसी निर्मल-आत्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मस्वभाव से पृथक्भूत क्रोधादिकभाव हैं उनमें भी मैं क्रोध हूँ क्रोध करना मेरा स्वभाव है; इस प्रकार एकता को लिए हुए रहता है परिणमन करता है । **कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादि-स्वरूप जो परमात्मा उससे विलक्षण जो क्रोधादिभाव उनमें प्रवर्तन करने वाले इस जीव के **कम्मस्स संचओ होदि** परमात्मस्वरूप को तिरोहित करने वाले कर्म का संचय, आस्रव, आगमन होता रहता है । **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** जैसे तेल लगाये हुए जीव के शरीर में धूलि का समागम हो जाता है, वैसे ही नूतन कर्मों का आस्रव होने पर फिर तेल के सम्बन्ध से मैल के चिपक जाने के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षण

क्रोधादि आस्रव निरे मुझसे सदा से, मैं हूँ अभिन्न निज-बोधमयी सुधा से ।
ऐसा न मूढ़ जब लौं, वह जान पाता, क्रोधाग्नि से स्वयम को तबलौं जलाता ।।७४।।
क्रोधाग्नि से यह कुधी जब लौं जलेगा, तो कर्म का चयन भी तब लौं करेगा ।
है जीव की यह रही विधि-बन्ध गाथा, सर्वज्ञ का मत यही, यह छंद गाता ।।७५।।

वाप्तिस्वरूपमोक्षविलक्षणो बन्धो भवति । जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः । किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्म प्रवृत्तिं न मुञ्चति तस्माद्बन्धो भवति । बन्धात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः । एवमज्ञानिजीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ।।७४-७५।।

अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति —

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ।।७६।।

जइया यदा श्रीधर्मलब्धिकाले **इमेण जीवेण** अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन । **अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु** यथा शुद्धात्मानस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषान्तरं भेदज्ञानं ।

वाला जो कि अपने शुद्धात्मा की प्राप्ति-स्वरूप-मोक्ष से विलक्षण है, ऐसा बंध अवश्य ही होता है । सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन-बंध का ऐसा वर्णन किया है और जब तक अपने शुद्धात्मस्वरूप को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से क्रोधादिक से पृथक् करके नहीं जानता है—अपने अनुभव में नहीं लाता है, तब तक अज्ञानी रहता है । जब तक अज्ञानी रहता है तब तक अज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाली कर्त्ताकर्मरूप प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ता है इसलिए बंध होता रहता है । बंध से संसार परिभ्रमण होता रहता है ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार अज्ञानी जीव के स्वरूप का कथन करने वाली दो गाथायें हुई ।।७४-७५।।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं—वीतरागता तो आत्मा का स्वभाव है और क्रोधादिकभाव आत्मा के कर्मजन्य विकारीभाव हैं जो कि अनादि से आत्मा में होते आ रहे हैं । एवं यह आत्मा इन बाह्य-दृश्यमान वस्तुओं पर क्रोधादिक करना मेरा काम है ऐसा समझते हुए क्रोधादिकरूप परिणमन करता रहता है तब तक यह बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति करने वाला बहिरात्मा एवं अज्ञानी होता हुआ नवीन बंध करता रहता है ।

इस कर्त्ताकर्मरूप प्रवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होती है उसे कहते हैं—

अर्थ—जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावों में जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग में भली प्रकार उतारता है अर्थात् क्रोधाधिक रूप परिणमन नहीं करता उस समय नूतन बंध नहीं होता है ।।७६।।

टीका—जइया जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्क्चारित्रात्मक रत्नत्रय-धर्म की प्राप्ति के काल में **इमेण जीवेण** इस प्रत्यक्षीभूत जीव के द्वारा **अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु** जैसा शुद्धात्मा का तथा काम-क्रोधादि आस्रवभावों का जो भेद है—परस्पर में विलक्षणपन है—वैसा ही जब जान लेता है अर्थात् अपने उपयोग में उतार लेता है। पर स्वरूप

रागात्म में निहित अन्तर जान पाता, ज्ञानी वही मुनि जिनागम में कहाता ।
पाता न आस्रव नहीं विधि-बन्ध नाता, होता समाधिरत है पर को भुलाता ।।७६।।

तइया तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति। सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति ? अहं कर्त्ता भावक्रोधादिरूपमन्तरङ्गं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्त्तृकर्मप्रवृत्ति मुञ्चति। ततः कर्त्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति। **ण बंधो** न बन्धो भवति। **से** तस्य जीवस्येति ॥ ७६ ॥

अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७७॥

जो क्रोधादिक भाव हैं उनको करने से रह जाता है। **तइया** उस समय सम्यग्ज्ञानी होता है। सम्यग्ज्ञानी होकर क्या करता है ? मैं तो करने वाला हूँ और भावक्रोधादिक जो अन्तरङ्ग में होते हैं वे मेरे कर्म हैं इस प्रकार जो अज्ञानजन्य कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है उसे छोड़ देता है, और उस कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाने पर निर्विकल्प समाधि होती है, तब **ण बंधो से** उस जीव के नूतन बंध नहीं होता ॥७६॥

विशेषार्थ—यहाँ अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है यह बतलाते हुए आचार्यदेव ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादिक भाव किसी भी रूप में करता रहता है तब तक अज्ञानी है किन्तु जब क्रोधादिरूप आर्त्त-रौद्रभाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उस समय उसके नूतन बंध नहीं होता। सारांश यह है कि जब यह अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होता है तब ही ज्ञानी होता है यही बात गोमट्टसार जीवकाण्ड में बताई है—'णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी, अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो' अर्थात् जिस संयत के सारे प्रमाद नष्ट होगये और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, वह ज्ञानी है। और जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है। यही बात 'परमात्म-प्रकाश' में भी कही है—'देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ। परमसमाहि परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ' अर्थात् जो जीव परमसमाधि में स्थित होकर देह से रहित मात्र ज्ञानमय परमात्मा का ही अनुभव करता है अर्थात् तन्मय होकर रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है।

ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी हो जाने से निर्बन्ध कैसे होता है अर्थात् बंध का निरोध कैसे करता है ? इसका उत्तर देते हैं—

aasrav ke prati Ashuchi Bhavanaa !!

अर्थ—जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को, जड़तारूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है ॥ ७७ ॥

दुःखों अनात्म-मय-कार्मिक आस्रवों को, एकान्त से अशुचियों दुखकारणों को।
अत्यन्त हेय लखके तजता विरागी, ज्ञानी वही मुनि, अतः तज राग रागी ॥७७॥

क्रोधाद्यास्रवाणां सम्बन्धि-कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं, विपरीतभावं व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः सम्बन्धिनिर्मलात्मानुभूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखण्डकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानन्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः। किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि-भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बन्धनिरोधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ॥ ७७ ॥

अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

टीका—क्रोधादि-आस्रवों के कलुषतारूप अशुचिपने को, जड़तारूप-विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षणरूप दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपनी आत्मा की निर्मल आत्मानुभूतिरूप शुचिपने को, सहज-शुद्ध-अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंत-सुखरूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त होने के अनंतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में एकाग्रतारूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक-आस्रवों की निवृत्ति करता है अर्थात् अपने आप दूर रहता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है। यहाँ सांख्यमत सरीखा ज्ञानमात्र से बंध का निरोध नहीं माना गया है [किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होता है]। किं च? हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव सम्बन्धी जो भेदज्ञान है वह रागादि आस्रवों से निवृत्त है या नहीं? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान में पानक-पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि के समान अभेदनय से वीतरागचारित्र और वीतराग सम्यक्त्व भी है ही। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है, और यदि वह भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को लिया है जो कि वैराग्य पूर्ण हो, सांसारिक विषयवासनादि रूप झंझटों से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव में तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था में होता है एवं इतर आचार्यों ने जो रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है इससे पृथक् नहीं है।

अब वह ज्ञानी आत्मा किस भावना के बल से क्रोधादि-आस्रवभावों से निवृत्त होता है सो बताते हैं—

अर्थ—ज्ञानी समाधिस्थ जीव विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और

मैं एक शुद्ध नय से दृग बोध स्वामी, हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अबद्धनामी।
नीराग भाव करता निज लीन होऊँ, शुद्धोपयोग बल से विधि-पंक धोऊँ ॥७८॥

अहं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं । **इक्को** अनाद्यनन्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः । **खलु** स्फुटं **सुद्धो** कर्त्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धः । **णिम्ममओ** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावान्ममत्वरहितः । **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः । एवं गुणविशिष्टपदार्थविशेषोऽस्मि भवामि । **तम्हि ठिदो** तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः । **तच्चित्तो** तच्चित्तः सहजानन्दैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा । **सव्वे एदे खयं णेमि** सर्वानेतान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान् कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः ॥७८॥

अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति—

जीवणिबद्धा एदे अधुवा अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥७९॥

एदे जीवणिबद्धा एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा सम्बद्धा औपाधिकाः न पुनः निरुपाधिस्फटिक-

---

ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ । अतः उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एवं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आस्रवभावों का क्षय करता हूँ । (ऐसा सोच वह उन क्रोधादिविकाररूप-आर्त्तरौद्रभावों से अपने आप दूर होकर समाधि में लग जाता है) ॥७८॥

टीका—अहं निश्चयनय से मैं स्वसंवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष शुद्ध-चिन्मात्र-ज्योतिस्वरूप हूँ, **इक्को** अनादि अनंत टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकी से उकेरे हुए के समान अटल एक ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हूँ, **खलु सुद्धो** कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट्कारक के विकल्प समूह से रहित हूँ इसलिये शुद्ध हूँ, **णिम्ममओ** मोहरहित शुद्धात्मतत्त्व उससे विलक्षण मोह के उदय होने वाले क्रोधादि कषायों का समूह, उसका स्वामी (करने वाला) न होने से मैं ममत्व रहित हूँ । **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्ष प्रतिभा-समय विशुद्धज्ञान,दर्शन से परिपूर्ण हूँ । इस प्रकार मैं तो इन गुणों से विशिष्ट हूँ । इसलिये **तम्हि ठिदो** इन उपर्युक्त लक्षण वाले शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होता हुआ तथा **तच्चित्तो** सहजानन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुखरूप-समरसीभाव के साथ तन्मय होकर **सव्वे एदे खयं णेमि** निरास्रव रूप जो परमात्मतत्त्व उससे पृथक्भूत जो काम-क्रोधादि आस्रवभाव हैं उन सब भावों को नष्ट कर रहा हूँ—दूर हटा रहा हूँ । [मैं इनको अब कभी नहीं होने दूँगा] ॥७८॥

आगे दिखलाते हैं कि जिस समय स्वसंवेदनज्ञान होता है उसी समय रागादि-आस्रवभावों का अभाव हो जाता है, एवं इन दोनों में समकालपना है—

अर्थ—जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादिक आस्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और जिनका फल दुःख ही है, ऐसा ज्ञानी जब जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है ॥ ७९ ॥

टीका—एदे जीवणिबद्धा ये क्रोधादिक आस्रवभाव जो जीव के साथ निबद्ध हैं औपाधिक रूप हैं पर संयोग से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु उपाधिरहित शुद्ध स्फटिक सरीखे शुद्ध जीव

क्रोधादि कर्म मम आतम में बंधे हैं, ना हैं शरण्य ध्रुव वे मुझसे जुदे हैं ।
हैं दुःख, दुःख फलदायक जान ऐसा, हैं छोड़ते मुनि इन्हें धर नग्न-भेषा ॥७९॥

वच्छुद्धजीवस्वभावाः । **अधुवा** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीव क्षणिकाः । ध्रुवः शुद्धजीव एव । **अणिच्चा** शीतोष्ण-ज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छन्तीत्यनित्याः विनश्वराः । नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । **तहा असरणा य** तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यन्त इत्यशरणाः, सशरणो निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव । **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवन्ति कामक्रोधाद्यास्रवाः । अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपः शुद्धजीव एव । **दुक्खफलाणि य** आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः । वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव । **णादूण णिवत्तदे तेहिं** इति भेदविज्ञानानन्तरमेव इत्थम्भूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति ॥७६॥ ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वप्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यानं पुनः अज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत इति, तन्न जीवाजीवौ यदि नित्यमेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति । यदि च एकान्तेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थः । किंतु कथञ्चित्परिणामिनौ

के स्वभाव नहीं हैं । **अधुवा** बिजली के चमत्कार के समान चंचल हैं, अत्यन्त क्षणिक हैं किन्तु शुद्ध जीव ही ध्रुव है--अटल है । **अणिच्चा** शीतोष्ण ज्वर के वेग के समान एक से रहने वाले नहीं हैं, कभी कम कभी अधिक होते हैं स्थिरता को प्राप्त नहीं होते हैं, विनश्वर हैं, किन्तु चैतन्य चमत्कार मात्र एक शुद्ध जीव ही नित्य है । **तहा असरणा य** वैसे ही अशरण हैं क्योंकि तीव्र कामवेग के समान इनको नियन्त्रित करके रखा नहीं जा सकता, किन्तु शुद्ध जीव ही निर्विकार-बोधस्वरूप-शरणभूत है । **दुक्खा** आकुलता के उत्पादक होने से काम-क्रोधादिक आस्रवभाव स्वयं दुःख स्वरूप हैं । किन्तु शुद्ध जीव ही अनाकुलत्व लक्षण वाला होने से वास्तविक सुख स्वरूप ही है । **दुःखफलाणि य** भविष्य काल में होने वाले नारकादि-दुःखों के कारणभूत होने से क्रोधादिक आस्रवभाव दुःखफल रूप हैं किन्तु शुद्ध जीव ही वास्तव में सुखफल स्वरूप है । **णादूण णिवत्तदे तेहिं** इस प्रकार के भेदज्ञान के अनंतर समय में ही जब कि मिथ्यात्वरागादि-आस्रव-भावों को उपर्युक्त प्रकार जानकर, जिस समय, मेघपटल रहित सूर्य के समान इन सबसे दूर हो जाता है उस ही क्षण में यह जीव ज्ञानी होता है । इस प्रकार भेदज्ञान के साथ आस्रव-भावों की निवृत्ति का समान काल सिद्ध होता है ॥ ७९ ॥

विशेषार्थ--आचार्यदेव ने इस गाथा में यह स्पष्ट बतलाया है कि क्रोधादिक-विकारी-भावों का न होना कहो अथवा भेदविज्ञान का होना कहो यह दोनों एक हैं और इन दोनों का काल समान है । ऐसा नहीं हो सकता कि भेदज्ञान तो हो जाय और क्रोधादिक-विकारीभाव फिर भी बने ही रहें । एवं जिसकी आत्मा में क्रोधादिक-विकारीभाव नहीं है वही ज्ञानी है ।

यहाँ शिष्य शंका करता है कि हे प्रभो ! इस प्रकरण के पूर्व में आपने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि अब पुण्यपापादि सात-पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान किया जाता है और यहाँ व्याख्यान में सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीव का स्वरूप मुख्यता से कहा गया, तब यहाँ पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं--कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि जीव और अजीव एकांतरूप से अपरिणामी ही, हों परिणमनशील

भवतः । कथञ्चित्कोऽर्थः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयनयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति । यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत् । तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति । कदाचित्पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापास्रवबन्धपदार्थानां कर्तृत्वं घटते । तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा ये द्रव्यरूपास्ते चाजीव-परिणामा इति । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा संज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्त्ता भवति । कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थम्वा बहिर्बुद्ध्या ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानबन्धरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः । यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशान्तरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं

नहीं हों तब तो दो ही पदार्थ ठहरे और यदि सर्वथा परिणमनशील ही हों—एक दूसरे के साथ सर्वथा तन्मय होकर रहने वाले हों तो एक ही पदार्थ ठहरे। इसलिए ये दोनों ही कथंचित् परिणमनशील हैं। कथंचित् का क्या अर्थ है ? इसको स्पष्ट कर बतलाते हैं कि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है तथापि व्यवहार से कर्मों के उदयके वश होकर रागद्वेषादि-औपाधिक विकारी परिणामों को ग्रहण करता है। यद्यपि स्फटिक के समान यह जीव रागादि—विकारी—परिणामों को अंगीकार करता है फिर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है जबकि इसमें कथंचित् परिणामोपना सिद्ध है। इसलिये जबतक अज्ञानी बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि की अवस्था में रहता है तबतक प्रधानता से विषय-कषायरूप अशुभ परिणाम करता रहता है किन्तु कभी कभी चिदानंद-स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किये बिना उससे शून्य केवल भोगाकांक्षा के निदानबंधस्वरूप शुभ परिणाम भी करता है। उस समय इस अज्ञान दशामें इसके द्रव्य और भावरूप पुण्यपापमय—आस्रव पदार्थका और बंध पदार्थका कर्त्तापना घटित होता है। यहाँ पर जो भावरूप पुण्यपापादि होते हैं वे जीव के परिणाम होते हैं और द्रव्य रूप पुण्यपापादि हैं वे अजीव के अर्थात् पुद्गलके परिणाम होते हैं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि अर्थात् अन्तरात्मा या ज्ञानी होता है वह प्रधानता से निश्चय—रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धोपयोगके बलसे निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखनेवाले वीतराग—सम्यग्दर्शन वाला होता हुआ निर्विकल्प-समाधिरूप परिणाममें परिणमन करता है तो उस परिणाम से द्रव्य—भावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष—पदार्थ का कर्त्ता होता है। किन्तु कभी-कभी निर्विकल्प समाधिरूप-परिणामों का अभाव हो जाने पर विषय-कषाय-रूप-परिणामों से बचने के लिए और शुद्धात्मा की भावना को पुनः प्राप्त करने के लिए बहिर्दृष्टि होते हुए भी ख्याति, लाभ, पूजा, भोग-आकांक्षा निदान बंध से रहित होता हुआ वह शुद्धात्मा है लक्षण जिनका ऐसे अर्हंत सिद्ध और शुद्धात्मा की आराधना करनेवाले और उसी का प्रतिपादन करनेवाले एवं उसी शुद्धात्मा के साधक ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का गुण-स्मरणादि-रूप शुभोपयोगरूप-परिणाम को भी करता है। इसी बात को दृष्टांत से समझाते हैं—

करोति, वार्त्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं निदानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति। एवमज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते, नास्ति विरोधः। एवं संज्ञानिजीवव्यख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमान्तराधिकारो व्याख्यातः॥ ७९॥

अतः परं यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यन्तं पुनरपि संज्ञानि जीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीवः कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसम्वेदनज्ञानेन जानाति यः स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण **'कम्मस्स य परिणामं,'** इत्यादिप्रथमगाथा। ततः परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथ कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण **'णवि परिणमदि'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं पुद्गलोऽपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण **'णवि परिणमदि'**

जैसे कोई पुरुष जिसकी स्त्री देशांतर में है उस स्त्री का समाचार जानने के लिए उसके पाससे आये हुए लोगों का सम्मान करता है, उसकी बात पूछता है, और उनको अपनाकर व उनसे प्रेम दिखलाकर उनको दानादिक भी देता है यह उसका सारा बर्ताव केवल स्त्री का परिचय प्राप्त करने के निमित्त होता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवभी जिस कालमें स्वयं शुद्धात्मा की आराधनासे रहित होता है उस समय शुद्धात्मा के स्वरूप की उपलब्धिके लिए शुद्धात्माके आराधक व प्रतिपादक ऐसे आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं उनका गुणस्मरण-दान-सन्मानादि करता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपका व्याख्यान कर लेने पर जो पुण्यपापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गलके संयोगरूप परिणामसे संपन्न हुए हैं ऐसा ज्ञान हो जानेसे उपर्युक्त पीठिका का व्याख्यान अपने आप आजाता है और इसमें कोई विरोध भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थों के अधिकारमें छह गाथाओं से प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ ॥७९॥

इसके आगे ग्यारह गाथाओं तक क्रम से उसी ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वहाँ ग्यारह गाथाओं में भी **'कम्मस्स य परिणामं'** इत्यादि प्रथम गाथा में यह बतलाया है कि जिस प्रकार कलश का उपादान रूप से कर्त्ता मिट्टी का लोंदा है, उसी प्रकार निश्चय रूप से जीव कर्म और नोकर्मों का कर्त्ता नहीं है ऐसा समझकर जो पुरुष अपने स्वसंवेदन [समाधिरूप] ज्ञान से जो अपने शुद्धात्मा को जानता है वही ज्ञानी होता है। इसके आगे प्रधानता से एक गाथा में यह बतलाया है कि यह जीव व्यवहार से पुण्य पापादिपरिणामों का कर्त्ता है निश्चय से नहीं। इसके आगे कर्मपने को अर्थात् अपने आपके परिणमन स्वरूपता को और सुख-दुःखादि रूप कर्म के फल को जानता हुआ भी यह आत्मा उदय में आए हुए पर द्रव्य को नहीं करता है इस प्रकार का कथन करते हुए **'ण वि परिणमदि'** इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इसके आगे **'ण वि परिणमदि'** इत्यादि रूप से एक गाथा सूत्र है जिसमें बतलाया है कि पुद्गल भी वर्णादिरूप अपने परिणाम का ही कर्त्ता है, किन्तु ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्त्ता नहीं है ऐसा कथन है।

इत्यादिसूत्रमेकम् । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेऽपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया **'जीवपरिणाम'** इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण **'णिच्छयणयस्स'** इत्यादिसूत्रमेकम् । ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण **'ववहारस्सदु'** इत्यादिसूत्रमेकम् । एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—

अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा जो जाणदि यथा मृत्तिका कलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति । **सो हवदि णाणी** स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति ॥८०॥ इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता ।

आगे **'जीवपरिणाम'** इत्यादि तीन गाथा हैं उनमें बतलाया है कि यद्यपि जीव और पुद्गल में परस्पर निमित्त कर्त्तापना तो है किन्तु परस्पर में उपादान-कर्त्तापन तो किसी भी दशा में नहीं है उसके आगे **' णिच्छयणयस्स'** इस प्रकार जिसमें यह बतलाया है कि निश्चय से इस जीव का कर्त्ता-कर्म-भाव और भोक्ता-भोग्य-भाव भी अपने परिणामों के साथ ही है। इसके आगे **'ववहारस्स दु'** इत्यादि एक सूत्र है जिसमें कहा गया है कि व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं में दूसरा स्थल पूर्ण होता है उसकी यह समुदाय पातनिका हुई ।

अब यहाँ सबसे प्रथम यह बताते हैं कि यह आत्मा ज्ञानी है यह बात कैसे जानी जाती है—

अर्थ—यह आत्मा उपादानरूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है, इस प्रकार जो जानता है अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है वही ज्ञानी होता है ॥८०॥

टीका—कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा जिस प्रकार कलश का उपादान कर्त्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्त्ता नहीं है । इस प्रकार **जो जाणदि सो हवदि णाणी** जो जानता है वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है ॥८०॥

विशेषार्थ—यद्यपि उपर्युक्त गाथा में 'जानाति' क्रिया पद आया है जिसका अर्थ केवल जानना मात्र होता है किन्तु आचार्यश्री ने उसे समाधि में स्थित रहने वाले के लिए प्रयुक्त

नोकर्मरूप जड़ पुद्गलकाय का भी, मोहादिकर्म रतिराग विभाव का भी ।
कर्ता न आतम रहा, इस भाँति ज्ञानी, हैं जानते हृदय से सुन सन्त वाणी ॥८०॥

अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति—

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।८१।।

कत्ता आदा भणिदो कर्त्तात्मा भणितः । **ण य कत्ता सो** न च कर्त्ता भवति स आत्मा । **केण उवाएण** केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत्, निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति । कान् ? **धम्मादी परिणामे** पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् । **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयव्यवहारनयाभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता ।।८१।।

अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति निरूपयति—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।८२।।

किया है, जैसा कि टीकाकार स्पष्ट कर बतला रहे हैं; क्योंकि आर्त्त-रौद्रभाव से रहित शुद्ध ज्ञान छद्मस्थ को उसी समय होता है । अन्य समय में तो इष्ट-अनिष्ट कल्पनापूर्वक बाह्य वातावरण में लगकर वह रागद्वेष करता ही रहता है । इसी प्रकार 'जानाति' या 'वेत्ति' क्रियायें जहाँ आयें वहाँ सब ही स्थान पर आचार्य महाराज का यही अभिप्राय समझना चाहिये ।

आगे व्यवहार से यह आत्मा पुण्य-पापादि परिणामों का कर्त्ता है, ऐसा कहते हैं—

अर्थ—किसी एक नय से व्यवहारनय से आत्मा पुण्य-पापादि परिणामों का कर्त्ता है और किसी एक नयसे निश्चयनय से आत्मा इन परिणामों का कर्त्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी होता है ।।८१।।

टीका—कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता सो आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, **केण उवाएण** किसी एक नय विभाग से अर्थात् निश्चयनय से अकर्त्ता और व्यवहारनय से कर्त्ता **धम्मादी परिणामे** पुण्य-पापादि कर्म जनित विकारी-भावों का है । इस प्रकार **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्याति-लाभ-पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है । इस प्रकार निश्चयनय से अकर्त्तापन और व्यवहारनय से कर्त्तापन का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई ।।८१।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल कर्मों को जानते हुए इस जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है—

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्गल द्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के

आत्मा अशुद्धनय से परभाव कर्ता, होता विशुद्ध नय से निजभाव कर्ता ।
धर्मानुराग तक को 'पर मान' ज्ञानी, विश्रान्त हो स्वयम में बनते न मानी ।।८१।।

जो भी अनेक विध हैं विधि आतमा में, ज्ञानी उन्हें निरखते रत हो क्षमा में ।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते, स्वीकारते न पर को पर में न जाते ।।८२।।

पुग्गलकम्मं अणेयविहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं। **जाणंतो वि हु** विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं, सः कः कर्त्ता ? **णाणी** सहजानन्दैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति न च तदाकारेणोत्पद्यते। कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धाभावात्। तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥८२॥

अथ स्वपरिणामं सङ्कल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति दर्शयति--

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥८३॥

सगपरिणामं अणेयविहं क्षायोपशमिकं संकल्पविकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं

साथ परद्रव्य की पर्यायों में उन स्वरूप न तो परिणमता है, न ग्रहण ही करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है ॥८२॥

टीका--पुग्गलकम्मं अणेयविहं उपादानकारणभूत कर्म-वर्गणा योग्य पुद्गल-द्रव्य द्वारा किया हुआ है ऐसे मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार होने वाले पुद्गल कर्म को **जाणंतो वि हु** विशिष्ट-भेदज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जानता हुआ भी **णाणी** सहजानंद स्वरूप-एक-स्वभाव-वाला निज शुद्धात्मा और रागादि-आस्रव इन दोनों के भेद का ज्ञान रखनेवाला जीव, **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** न तो परद्रव्य-पर्याय स्वरूप पूर्वोक्त कर्म के रूप में निश्चय से परिणमन ही करता है; जैसे कि मिट्टी-कलशरूप में परिणमन कर जाती है, और न तादात्म्य सम्बन्ध से ग्रहण ही करता है और न उसके आकार होकर उत्पन्न ही होता है। क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी और कलश में परस्पर तादात्म्य संबंध है वैसा तादात्म्य संबंध जीव का पुद्गल कर्म के साथ नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुद्गल कर्म को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है ॥८२॥

आगे कहते हैं कि अपने संकल्प-विकल्प-जालरूप परिणाम को जानते हुए इस जीव का उन परिणामों के निमित्त से उदय में आये हुए कर्मों के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है--

अर्थ--ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्थारूप न परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है न उस रूप उत्पन्न ही होता है, इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है ॥८३॥

टीका--सगपरिणामं अणेयविहं क्षयोपशमभाव के कारण होने वाले संकल्प-विकल्प रूप अपने परिणाम, जिसको आत्मा ने स्वयं उपादानरूप होकर किया है और जो अनेक प्रकार हैं

निष्पाप आप अपने-अपने गुणों को, ज्ञानी सदैव लखते तज दुर्गुणों को।
आधार ले न पर का पर में न जाते, वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते ॥८३॥

स्वपरिणाममनेकविधं। **णाणी जाणंतो वि हु** निर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानी जीवः स्वपरमात्मनोर्विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं पुद्गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मात्? मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणाभावादिति। एतावता किमुक्तं भवति? स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागतं कर्म जानतोऽपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥८३॥

अथ पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥८४॥

पुग्गलकम्मफलमणंतं उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षयानन्तकर्मफलं। **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन

उनको **णाणी जाणंतो वि हु** अपने परमात्मस्वरूप विशेष-भेदज्ञान के बल से स्पष्ट जानता हुआ भी वह निर्विकार-स्वसंवेदन-ज्ञानी जीव **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाये** उन पूर्वोक्त अपने परिणामों के निमित्त से उदय में आये हुए पुद्गल कर्म की पर्याय रूप में जैसे मिट्टी कलशरूप में परिणमन करती है वैसे शुद्धनिश्चयनय से न तो परिणमन ही करता है और न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है। क्योंकि मिट्टी और कलश में परस्पर जिस प्रकार उपादान और उपादेय भाव है, उसी प्रकार पुद्गल कर्म के साथ आत्मा का उपादान-उपादेय भाव नहीं है। इसलिये अपने क्षायोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदय में आये हुए कर्म को जानते हुए जीव का भी उस कर्म के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है ॥८३॥

आगे पुद्गल कर्म फल को जानते हुए ज्ञानी जीव के साथ पुद्गल कर्म के फल के कारण से फिर द्रव्य कर्म के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं—

अर्थ— ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों के अनन्त सुख-दुःख फलों को जानता हुआ भी निश्चय से पर-द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है और न उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है ॥८४॥

टीका—पुग्गलकम्मफलमणंतं पौद्गलिक कर्मों का फल जो कि उपादान कारण रूप से उदयागत द्रव्यकर्म के द्वारा किया जाता है तथा सुख-दुःखरूप-शक्ति की अपेक्षा से अनंत प्रकार का होता है, उसको **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागरूप जो शुद्धात्मा उसके संवेदन से समुत्पन्न-सुखामृत

ज्ञानी नितान्त सुख के दुख के दलों को, हैं जानते जड़मयी विधि के फलों को।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते, स्वीकारते न पर को, पर में न जाते ॥८४॥

जानन्नपि हि स्फुटं। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** वर्त्तमानसुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति। किं च विशेषः। यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते तर्हि किं करोति ज्ञानी जीवः? मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः ॥८४॥ एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्।

अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च जडस्वभावत्वादजानतः पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति—

रस उससे तृप्त होता हुआ भेदज्ञानी जीव अपने निर्मल-विवेकरूप-भेदज्ञान से स्पष्ट रूप जानता हुआ भी **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** वर्तमान सुख-दुःखरूप शक्ति की अपेक्षा का निमित्त-उपादान रूप में उदय में आया हुआ पुद्गल कर्म जो कि पर-द्रव्य पर्याय–स्वरूप है उसके रूप में जैसे मिट्टी-कलश के रूप में परिणमन करती है वैसे शुद्धनय की अपेक्षा से न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उसकी पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मृत्तिका और कलश में परस्पर जैसा तादात्म्य लक्षण संबंध है वैसा संबंध ज्ञानी जीव का द्रव्यकर्म के साथ नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब पुद्गल-द्रव्यकर्म के रूप में न तो परिणमन ही करता है, न उसे ग्रहण ही करता है और न तदाकाररूप से उत्पन्न ही होता है, तब वह ज्ञानी जीव क्या करता है? इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि वह तो मिथ्यात्व-विषय-कषाय–ख्याति-पूजा-लाभ और भोगों की आकांक्षा रूप निदान-बंध-शल्यादि-विभावपरिणामों के कर्तापन और भोक्तापन के विकल्प से रहित अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप जो कि जल के भरे हुए कलश के समान केवल एक-चिदानंद स्वभाव से परिपूर्ण है उसी का निर्विकल्प-समाधि में स्थित होकर ध्यान करता है ॥८४॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर इन तीन गाथाओं में यही बतलाया है कि ज्ञानी जीव जानने के स्वभाव वाला है। वह अपने परिणामों को ही जानता है और कर्म व कर्म के फल को भी जानता है, किन्तु अपने परिणामों को तो तन्मय होकर जानता है, पर कर्म व कर्म के फल को अपने से पृथक्रूप जानता है। अतः इनके रूप में किसी भी दशा में परिणमन नहीं करता, विकारी नहीं बनता, क्योंकि वह तो वीतराग-स्वरूप-निर्विकल्प-समाधि में तल्लीन होकर रहता है इसीलिये वह ज्ञानी नाम पाता है।

इस प्रकार "निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्मादि स्वरूप-परद्रव्य के रूप में कभी नहीं परिणमता" इस प्रकार का व्याख्यान करने वाली तीन गाथाएँ हुईं।

आगे जड़ स्वभाव होने से जो पुद्गलद्रव्य जीव के परिणाम को और अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को भी नहीं जानता उस पुद्गल का भी निश्चयनय से जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है ऐसा बतलाते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ।।८५।।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि ण उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए यथा जीवो निश्चयेनानन्तसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायरूपेणोत्पद्यते । **पुग्गलदव्वं पि तहा** तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानन्दैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति ? **परिणमदि सएहिं भावेहिं** परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणैर्धर्म्मैरिति । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति ।।८५।। एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता ।

अर्थ—उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप में कभी उत्पन्न ही होता है किन्तु अपने आपके परिणामों से ही परिणमन करता है ।।८५।।

टीका—ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए जैसे निश्चयनय से जीव अपने अनंतसुखादि स्वरूप को छोड़कर पुद्गलद्रव्य के रूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता से ग्रहण ही करता है और न उसके आकाररूप उत्पन्न ही होता है, **पुग्गलदव्वं पि तहा** उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी स्वयं तादात्म्य स्वरूप से जिस प्रकार मिट्टी-कलश रूप में परिणमन करती है, उसी प्रकार चिदानंद है लक्षण जिसका ऐसे जीव स्वरूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ ग्रहण ही करता है और न जीव के आकार ही बनता है, किन्तु **परिणमदि सएहिं भावेहिं** वह भी सदा अपने वर्णादि स्वभावरूप गुण-धर्मों के द्वारा ही परिणमन करता है क्योंकि मृत्तिका और कलश में जैसा तादात्म्य संबंध है वैसा पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ नहीं है ।।८५।।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य परिणमन-शील है, अतः परस्पर संयोगात्मक परिणमन को भी प्राप्त होते हैं फिर भी अपनेपन को नहीं छोड़ते । जैसे जीव कार्माण-पुद्गलों के संयोग से भी वर्णादिमान् नहीं होता वैसे ही संसारी जीव के साथ संबंधित होकर भी पुद्गलद्रव्य कभी भी ज्ञानादिमान् नहीं होता परन्तु जीव रागादिमान होकर भी चेतनावाला ही रहता है तो पुद्गल भी कर्मरूप से परिणमन करके भी जड़स्वरूप ही रहता है ।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव के साथ उस रूप होकर परिणमन नहीं करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता करके गाथा पूर्ण हुई ।

विज्ञान-हीन जड़ पुद्गल भी सदा से, होता सुशोभित नितान्त निजी दशा से ।
पै छोड़ के न जड़ता पर-रूप पाता, स्वीकारता न पर को, पर में न जाता ।।८५।।

अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति--

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावणं ॥८८॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति यथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिकाघटरूपेण परिणमति तथा

आगे जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी निश्चयनय से इनका आपस में कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है ऐसा कहते हैं--

अर्थ—यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक-कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्त्ता होता है किन्तु पुद्गल कर्मों के द्वारा किये गये सर्व भावों का कर्त्ता नहीं है ॥८६-८८॥

टीका--जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति जैसे कुंभकार के निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणमन करती है उसी प्रकार जीव संबंधी मिथ्यात्व व रागादि परिणामों का

हैं जीव में विकृत रागमयी दशायें, तो कर्मरूप ढलती विधिवर्गणायें ।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता, रागादिमान फलतः निज होश खोता ॥८६॥

कर्ता न जीव यह हो विधि के गुणों का, कर्ता कभी न विधि चेतन के गुणों का ।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेंगे, तो 'रागभाव' विधिभाव' न जन्म लेंगे ॥८७॥

भाई अतः समझ लो मन में सुचारा, कर्ता निजात्म, निज का निज भाव द्वारा ।
रूपादिमान जड़ पुद्गल कर्म सारे, आत्मा उन्हें न करता जिन यों पुकारें ॥८८॥

जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति । **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** यथैव च घटनिमित्तेन एवं करोमीति कुम्भकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति ।

अथ **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्न करोति । **कम्म तहेव जीवगुणे** कर्म च तथैवानन्तज्ञानादिजीवगुणान्न करोति । **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुम्भकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति ।

अथ **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानन्तसुखादिशुद्धभावानां कर्ता । तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यात्मा । कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति । **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति । एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥८६-८८॥

निमित्त पाकर कर्मवर्गणा-योग्य-पुद्गलद्रव्य भी कर्मरूप में परिणमन करता है । **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** जिस प्रकार घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मैं घड़े को बनाता हूँ'—इस प्रकार भावरूप परिणमन करता है वैसे ही उदय में आये हुए द्रव्य कर्मों का निमित्त पाकर अपने विकार रहित चेतनामात्र परिणति को प्राप्त नहीं होता हुआ जीव भी मिथ्यात्व और रागादिरूप-विभाव-परिणाम रूप परिणमन करता है । **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनों का परिणमन होता है तो भी निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म के वर्णादि गुणों को पैदा नहीं करता है । **कम्मं तहेव जीवगुणे** वैसे कर्म भी जीव के अनंत-ज्ञानादि-गुणों को उत्पन्न नहीं करता है । **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि** यद्यपि उपादान रूप से नहीं करता फिर भी घट और कुम्हार की भाँति इन दोनों जीव और पुद्गलों का परस्पर में एक दूसरे के निमित्त से परिणमन होता है । **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** इस प्रकार पूर्वोक्त दो सूत्रों में जैसा बतलाया गया है उस रूप जीव जब निर्मल-आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा शुद्ध-उपादान हैं कारणभूत जिसमें अथवा शुद्ध-उपादान का कारणभूत जो परिणाम उससे यह जीव अव्याबाध और अनंत-सुखादिरूप शुद्धभावों का कर्त्ता होता है और इससे विलक्षण एक अशुद्ध-उपादान ही है कारण जिसमें या अशुद्ध-उपादान का कारणभूत ऐसे विकारी-परिणमन के द्वारा रागादि-अशुद्धभावों का कर्त्ता होता है, जैसे मिट्टी कलश का कर्त्ता होती है । **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** किन्तु पुद्गलकर्म के किये हुए ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मपर्याय रूप जो सब भाव हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा नहीं है ।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त-कारणपना है इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥८६-८८॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्यदेव ने स्पष्ट कर बतलाया है कि वस्तु परिणमन-स्वभाववाला है, अतः साधारण परिणमन तो इसका अपने आप समयानुसार सहजतया होता ही रहता है किन्तु परिणमन-विशेष के लिए उपादान के साथ-साथ निमित्त-विशेष की भी आवश्यकता होती है। जैसे

अथ तत एतदायाति— जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पाराचार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च । एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसम्वेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति । अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति । न केवलं करोति **वेदयति पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** वेदयत्यनुभवति भुङ्क्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्म-

---

कि पुद्गल का जो कर्मरूप में परिणमन होता है वह जीव के रागादिक भावों के बिना नहीं होता। रागादिक-भावों से सब ही पुद्गलों का परिणमन न होकर कार्माण-वर्गणाओं का ही कर्म-रूप परिणमन होता है। इसी प्रकार जीव का भी जो रागादिरूप परिणमन होता है वह भी पूर्व कर्म के उदय से ही होता है। किन्तु कर्मोदय से भी रागादिरूप परिणमन उसी जीव का होता है जो शुद्धात्मा के अनुभव से अर्थात् समाधि से विमुखता रूप अज्ञानभाव को अपनाने वाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव और पुद्गल का व्यंजनपर्यायरूप विशेष परिणमन उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों के सहयोग से संपन्न होता है, किसी एक से नहीं।

इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि निश्चयनय से जीव का कर्त्ता-कर्मभाव और भोक्तृ-भोग्य-भाव अपने परिणामों के साथ ही है—सो ही कहते हैं—

अर्थ—हे शिष्य, तू ऐसा समझ कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने आपका ही कर्त्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है, दूसरे का नहीं ॥८९॥

टीका—णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि जैसे समुद्र की तरंगों के उत्पन्न होने में पवन निमित्तकारण है फिर भी निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार द्रव्यकर्मों के उदय का सद्भाव आत्मा के अशुद्ध भावों में निमित्त होता है और द्रव्यकर्म के उदय का न होना आत्मा के शुद्ध भावों में निमित्त होता है। फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा उपादानरूप से तो स्वयं आत्मा ही जब निर्विकार परम स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत होता है तब केवलज्ञान आदि शुद्धभावों को उत्पन्न करता है और अशुद्ध रूप में परिणत हुआ आत्मा ही उपादान रूप से सांसारिक सुख-दुखादि रूप अशुद्ध भावों को उत्पन्न करता है। यहाँ पर उन परिणामों के रूप में परिणमन करना ही कर्त्तापन से विवक्षित है। आत्मा केवल अपने भावों का कर्ता ही हो इतना ही नहीं है किन्तु, **वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** अपने शुद्ध-आत्मा

आत्मा सुनिश्चित स्वभाव विभाव कर्त्ता, भोक्ता स्वयं स्वयम का निज शक्ति भर्त्ता ।
जैसा सुशान्त सर हो सर ही हिलोरा, लेता उठी लहर हो जब वायु जोरा ॥८९॥

भावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च । स कः कर्त्ता ? आत्मेति जानीहि । एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥८९॥

अथ लोकव्यवहारं दर्शयति—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥९०॥

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं यथा लोके यद्यपि मृत्पिण्डः उपादानकारणं तथापि, कुम्भकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुङ्क्त इति लोकानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः । तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादानकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मनिकविधं मूलोत्तर-प्रकृतिभेदभिन्नं करोति । **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मनिकविधं इष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयस्वशुद्धात्मोपलम्भसञ्जातसुखामृतरसा-स्वादरहितानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः ॥९०॥ एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता ।

की भावना से उत्पन्न सुखरूप शुद्ध-उपादान के द्वारा अनुभव भी अपने शुद्धात्मा का ही करता है, उसी को भोगता है, और उसी का संवेदन करता है, और उसी रूप में परिणमन करता है, किन्तु अशुद्ध-उपादान से अपनी अशुद्ध-आत्मा का ही अनुभव या संवेदन करता हुआ उसी रूप परिणमन करता है-ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो । इस प्रकार निश्चयकर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई ॥८९॥

अब आगे लोक-व्यवहार जैसा होता है वैसा बतलाते हैं—

अर्थ—व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के अपने पुद्गल कर्मों का करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों को भोगता भी है ॥९०॥

टीका—ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं जैसा देखने में आता है कि घड़े का उपादान-कारण मिट्टी का पिण्ड है उसी का घड़ा बनता है तथापि घड़े को बनाने वाला कुम्हार है और जल धारण करना, उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है, ऐसा अनादिकाल से लोगों का व्यवहार चला आ रहा है । वैसा ही उपादान-रूप से कर्मों का पैदा करने वाला भी कार्माण-वर्गणा-योग्य-पुद्गलद्रव्य है, जो अनेक प्रकार के मूल-उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए नाना प्रकार ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म हैं उसका करने वाला व्यवहारनय से आत्मा है ऐसा समझा जाता है । **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** और उदय में आये हुए उसी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को व अनिष्ट जो पंचेन्द्रिय के विषय उनके रूप में आत्मा अनुभवन करने वाला होता है ऐसा अन्य विषय से रहित शुद्धात्मा के उपलम्भ से समुत्पन्न जो सुखामृत रस उसके आस्वाद से रहित रहने वाले अज्ञानी लोगों का अनादि काल का व्यवहार चला आता है ॥९०॥

कर्त्ता तथापि व्यवहारतया जड़ों का, भोक्ता सचेतन रहा विधि के फलों का ।
ऐसा न हो फिर हमें सुख क्यों न होता ? संसार क्यों फिर भला दिन-रैन रोता ॥९०॥

इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः। इतः परं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति। तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते, तस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण **जदि पुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि गाथाद्वयं भवति। तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतन्त्रम्। तदनन्तरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया **परमप्पाणं कुव्वदि** इत्यादिद्वितीयषट्कं। अतः परं तस्यैव द्विक्रियावादिनः पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवन्ति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन **ववहारस्स दु** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं निश्चयनयमुख्यतया **जो पुग्गलदव्वाणं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्। ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्वमुख्यत्वेन **जीवंहि हेदुभूदे** इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—

अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकान्तेन सम्मतमप्येकान्तनयेन मन्यते। किं मन्यते? भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात्। तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति —

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से सुख-दुख के कर्त्ता और भोक्तापन के कथन करनेवाली गाथा पूर्ण हुई।

विशेषार्थ—निश्चयनय अभिन्न-तादात्म्य सम्बन्ध या उपादान-उपेयभाव को ही ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि संयोगसम्बन्ध पर नहीं होती जबकि व्यवहारनय संयोग सम्बन्ध और निमित्त-नैमित्तिक भावों को बतलाने वाला है। इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा निश्चयनय से तो अपने भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है किन्तु व्यवहारनय से वह द्रव्यकर्मों का करनेवाला व भोगनेवाला भी है। यह व्यवहारनय समाधि-अवस्था से च्युत अज्ञान दशा में स्वीकार किया जाता है किन्तु समाधि दशा में निश्चयनय का अवलंबन रहता है।

ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करने के लिए ग्यारह गाथाओं द्वारा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् २५ गाथाओं पर्यन्त चेतन और अचेतन इन दोनों का एक ही उपादान कर्त्ता है ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादियों का निराकरण करते हुए संक्षेप से व्याख्यान करने रूप में **जदि पुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। फिर उसका विवरण करने वाली १२ गाथाओं में से "**पुग्गलकम्मणिमित्तं**" इत्यादि क्रम से प्रथम ६ स्वतंत्र गाथाएँ हैं। इसके आगे अज्ञानी जीव परद्रव्य का कर्त्ता है किन्तु ज्ञानी जीव अकर्ता है—इस प्रकार की मुख्यता से "**परमप्पाणं कुव्वदि**" इत्यादि दूसरी ६ गाथाएँ हैं। इसके आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करने के लिए उपसंहार रूप से ११ ग्यारह गाथाएँ हैं। उन ११ गाथाओं में व्यवहारनय की मुख्यता से "**ववहारस्स दु**" इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके आगे निश्चयनय की मुख्यता से "**जो पुग्गलदव्वाणं**" इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके आगे द्रव्यकर्मों का उपचार से जीव कर्त्ता है इस मुख्यता से "**जीवंहि हेदुभूदे**" इत्यादि चार गाथायें हैं। इस प्रकार समुदाय पातनिका रूप से २५ गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल है।

पहले कर्म का कर्त्तापन और भोक्तापन के बारे में जो नय विभाग कहा गया है वह अनेकांत सम्मत है। किन्तु एकान्तनय से जो ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म-रागद्वेषादि को जैसे करता है वैसे ही निश्चय से द्रव्यकर्मों को भी करता है। इस प्रकार चेतन और अचेतनकार्यों का एक ही उपादान कारण है ऐसी द्विक्रियावादियों की मान्यता को दूषित बतलाते हैं—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥९१॥

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा। **दोकिरियावादित्तं पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति। अथवा **दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो** तत्र पाठान्तरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति स पुरुषः। **सम्मं जिणावमदं** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसम्मतम्। यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥९१॥

अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंस्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति ॥९२॥

अर्थ—पुद्गल कर्मों का कर्ता भी उपादान रूप से आत्मा ही है और भोक्ता भी आत्मा ही है, इस प्रकार की मान्यता का नाम द्विक्रियावाद है। जो कि किसी भी प्रकार से जिन भगवान् के मत से सम्मत नहीं हैं ॥९१॥

टीका—जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि पुद्गलकर्मों का भी उपादान-रूप से करने वाला और भोगने वाला—अनुभव करने वाला भी आत्मा ही है तब **दो किरियावादित्तं पसजदि** चेतन और अचेतन इन दोनों क्रियाओं का एक उपादान कर्त्ता-रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसंग आता है। अथवा पाठांतर से **दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो** इसका अर्थ ऐसा होता है कि चेतन-क्रिया और अचेतन-क्रिया इन दोनों से आत्मा अभिन्न ठहरता है। **सम्मं जिणावमदं** यह व्याख्यान जिन भगवान् के द्वारा सम्मत नहीं है प्रत्युत जिन भगवान् द्वारा इसका निराकरण किया गया है। किन्तु जो उपर्युक्त द्विक्रियावादी के व्याख्यान को मानता है वह जीव निश्चयसम्यक्त्व जो कि निज-शुद्धात्मा में ही उपादेय रूप से रुचि-स्वरूप है और विकार रहित-चिच्चमत्कार-लक्षणवाला है एवं शुद्ध-उपादान-रूप कारण से उत्पन्न है ऐसे निश्चय-सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है ॥९१॥

द्विक्रियावादी जीव मिथ्यादृष्टि क्यों होता है? प्रकारान्तर से इसको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—क्योंकि द्विक्रियावादी-जन आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनों को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं ॥९२॥

आत्मा उसी तरह पुद्गल कर्म को भी, ज्यों वेदता व करता निज धर्म को भी ।
ऐसा कहो यदि अरे ! पुरुषार्थ जाता, संसार का सृजक ईश्वर-वाद आता ॥९१॥
आत्मा, स्वभाव पर पुद्गल भाव को ही, हो एकमेक करता इक साथ सो ही ।
ऐसा सदैव कहता लघु धी विकारी, मिथ्यात्व मंडित मुधा, द्विक्रियावधारी ॥९२॥

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति यस्मादात्मभावं चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वन्ति। **तेण दु मिच्छदिट्ठी दो किरियावादिणो होंति**। ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रिया-द्वयवादिनः पुरुषा मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तथाहि-यथा कुम्भकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यदोपादारूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति। घटस्य वा चेतनत्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति। तथा जीवोऽपि यदोपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति। पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति। किं च, शुभाशुभं कर्म कुर्वेऽहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति। तर्हि केषां नश्यतीति चेत्, विषयसुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानन्दैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन संज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति। तस्मिन्महाहङ्कारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बन्धो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये इदं करोमीदं न करोमीति दुरग्रहं त्यक्त्वा रागादि विकल्पजालशून्ये पूर्णकलश-वच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरन्तरभावना कर्त्तव्येति भावार्थः ॥९२॥ इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्।

अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति—

टीका—जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति जबकि आत्मा के भाव चेतनपन को और पुद्गल भाव अचेतनपन रूपादिस्वरूप-जड़भाव को इन दोनों को आत्मा ही उपादानरूप से करने वाला एक ही है, **तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति** ऐसा मानता है वह चेतन और अचेतन क्रियाओं का एक आधार मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कुम्हार अपने ही आत्मभाव को उपादान रूप से करता है वैसे ही उपादान रूप से घड़े का भी करनेवाला मान लिया जाय तब कुम्हार को घटपना या अचेतनपना प्राप्त हो जायगा अथवा घड़े को चेतनपना-कुम्हारपना प्राप्त हो जायगा। इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से कर्मों का कर्ता हो जाय तो जीव को अचेतन पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायगा अथवा पुद्गल कर्म को जीवपना व चेतनपना मानना पड़ेगा। प्रयोजन यह है कि शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला 'मैं ही हूँ' इस प्रकार का अहंकार रूप अन्धकार अज्ञानियों का नष्ट नहीं होता। तब किनका नष्ट होता है ? सो सुनो, जो जीव पंचेन्द्रिय-विषयसुख के अनुभवरूप-आनन्द से रहित किन्तु वीतराग-स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव करने योग्य तथा निश्चयनय से अपने एक स्वरूप में लवलीन चिदानंदमयी एक-स्वभावमय-शुद्ध-परमात्म-द्रव्य में तिष्ठते हुए हैं उन्हीं सम्यग्ज्ञानियों का वह अज्ञानान्धकार या अहंकार रूप भाव दूर होता है, जो कि समस्त प्रकार के शुभा शुभभावों से शून्य और निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले एवं शुद्धोपयोग की भावना के बलवाले होते हैं, उनके निर्मल भाव के द्वारा वह नष्ट होता है। उस अज्ञानरूप या अहंकाररूप विकल्प जाल के नष्ट हो जाने पर फिर कर्म का नया बंध भी नहीं होता है। ऐसा जानकर इन दृश्यमान बाह्य द्रव्यों के सम्बन्ध में 'मैं करता हूँ मैं नहीं करता हूँ' इस प्रकार के दुराग्रह को छोड़कर रागादि-विकल्प जालों से सर्वथा रहित किन्तु पूर्ण कलश के समान चिदानंदरूप शुद्धभाव से परिपूर्ण अपने परमात्म द्रव्य में [ज्ञानियों को] निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥९२॥

इस प्रकार द्विक्रियावादी के संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अब उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करते हैं—

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ।।९३।।

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं उदयागतं द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सन्करोत्यात्मनः सम्बन्धिनं सुखदुःखादिभावं परिणामं । **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं** तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्माभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव कर्मोदयजनितस्वकीय रागादिभावं वेदयत्यनुभवति । न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः ।।९३।।

अथ चिद्रूपानात्मभावानात्मा करोति तथैव चिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् परः पुद्गलः करोतीत्याख्याति–

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।।९४।।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च । **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोहः क्रोधादयोऽमी भावा

अर्थ—जैसे यह आत्मा पौद्गलिक-ज्ञानावरणादि-कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले अपने भावों को करता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से होने वाले अपने भावों को भोगता भी है ।।९३।।

टीका—पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं उदय में आये हुए द्रव्य कर्मों का निमित्त पाकर निर्विकार-स्वसंवेदन परिणाम से रहित होता हुआ यह आत्मा सुख-दुःखादि रूप अपने भावों को करता है, **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं** उसी प्रकार उदय में आये हुए द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर अपने स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वास्तविक-सुख उसका आस्वाद नहीं लेता हुआ उसी कर्मोदय-जनित अपने रागादि भावों को संवेदन करने वाला या अनुभवन करने वाला भी होता है । किन्तु द्रव्यकर्मरूप जो परभाव है उसका कर्त्ता आत्मा नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये ।।९३।।

अब यह बतलाते हैं कि चेतनरूप आत्मभावों का कर्त्ता आत्मा होता है उसी प्रकार अचेतन रूप द्रव्य-कर्मादिमय पर-भावों का कर्त्ता पुद्गल होता है—

अर्थ—मिथ्यात्वभाव दो प्रकार का है—एक जीव मिथ्यात्व दूसरा अजीव मिथ्यात्व । इसी प्रकार अज्ञान, अविरति मोह और क्रोधादिक कषायभाव ये सब भी जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं ।।९४।।

टीका—मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं जीव-स्वभाव और अजीव-स्वभाव के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है। **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** उसी प्रकार

ज्यों मोह के उदय में यह शीघ्र आत्मा, रागादिभाव करता बनता दुरात्मा ।
त्यों मोह का उदय पा निज को भुलाता, आनन्द स्वीय तजता सुख-दुःख पाता ।।९३।।
मिथ्यात्व मान मद मोह प्रलोभ द्वारा, अज्ञान औ अविरती रतिराग सारा ।
ये हैं द्विधा जड़ सचेतन भेद द्वारा, संसार मार्ग चलता इनसे असारा ।।९४।।

पर्याया: जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवन्ति मयूरमुकुरन्दवत् । तद्यथा– यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमाना नीलपीताद्याकारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव, तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमाना: सुखदु:खादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरन्देन स्वच्छतारूपेण भाव्यमाना: प्रकाशमानमुखप्रतिबिम्बादिविकारा मुकुरन्द एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्याया: पुद्गल एव अचेतना एवेति ॥९५॥

अथ कतिविधी जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥९५॥

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीव: । **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूप: शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीत-

---

अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि ये सब ही भाव अर्थात् पर्याय मयूर और दर्पण के समान जीव-स्वरूप और अजीवस्वरूप भी होते हैं । जैसे मयूर और दर्पण में मयूर के द्वारा पैदा किये हुए अनुभव में आने वाले नील-पीतादि आकार विशेष जो कि मयूर के शरीर के आकार परिणत हो रहे हैं वे मयूर ही हैं, चेतनमय हैं, वैसे ही निर्मल-आत्मानुभूति से च्युत हुए जो जीव के द्वारा उत्पन्न किये हुए अनुभव में आने वाले सुख-दु:खादि-विकल्प रूप भाव हैं, वे अशुद्ध निश्चयनय से जीवरूप ही हैं, चेतनामय हैं । और जैसे स्वच्छतारूप दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रकाशमान मुख का प्रतिबिम्बादि रूप विकार वे सब दर्पणमयी हैं अतएव अचेतन हैं उसी प्रकार उपादान–भूत कर्मवर्गणारूप पुद्गल कर्म के द्वारा किये हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म-रूप पर्याय तो पुद्गलमय ही है अतएव अचेतन ही है ॥९४॥

विशेषार्थ—कर्म के उदय के निमित्त से जो विभाव भाव होते हैं वे चेतना के विकार होने से जीवरूप ही होते हैं किन्तु इन विकारी भावों के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि कर्म रूप परिणमते हैं वे सब अजीव हैं ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो के प्रकार होते हैं ।

अब जीव और अजीव कितने प्रकार के हैं इसे बताते हैं—

अर्थ—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान कर्मवर्गणारूप हैं वे तो अजीव हैं किन्तु जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोगात्मक हैं वे जीव हैं ॥९५॥

टीका—पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं पुद्गलकर्मरूप जो मिथ्यात्व योग, अविरति और अज्ञान है वह तो अजीव है, किन्तु **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोग रूप भाव जो कि शुद्धात्मादि तत्त्वों के विषय में विपरीत जानकारीमय रूप विकार भाव है वह जीव का अज्ञानभाव है और निर्विकार–स्वसंवेदन–विपरीतात्मक अविरतिरूप विकारी

मिथ्यात्व से बन रही भव बीच फेरी, अज्ञान औ अविरती त्रय योग वैरी ।
चारों अजीव जड़ पुद्गलशील-वाले, औ चार जीवमय हैं उपयोग वाले ॥९५॥

परिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं । निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः । विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः । जीव इति कोऽर्थः ? जीवरूपा भावप्रत्यया इति ॥९५॥

अथ शुद्धचैतन्यस्वभाव जीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ॥९६॥

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य सम्बन्धित्वेनादिसन्तानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः । कथंभूतस्य तस्य ? **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्तस्य । के ते परिणामाः । **मिच्छत्त अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि–यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबन्धवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः सम्भवन्ति । अत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः ॥९६॥

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति—

परिणाम है वह जीव का अविरति भाव है, और शुद्ध-जीवादि पदार्थ के विषय में विपरीत अभिप्राय लिये हुए उपयोगात्मक विकारमय-विपरीत-श्रद्धान रूप भाव है वह जीव का मिथ्यात्व भाव है । अर्थात् ये सब जीव के विकार रूप परिणाम हैं ॥९५॥

अब जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाववाला है उसमें मिथ्यादर्शनादि विकारी भाव कैसे उत्पन्न हुए, सो बतलाते हैं––

अर्थ—अनादिकाल से ही मोह सहित उपयोगवान् आत्मा से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों भाव भी अनादि से ही चले आ रहे हैं ऐसा जानना चाहिये ॥९६॥

टीका—**उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स** उपयोग लक्षणवाला होने से यहाँ पर उपयोग शब्द से आत्मा को लिया गया है । एवं जो आत्मा मोह से युक्त है उसके संतान परम्परा से ये तीन परिणाम अनादि से चले आ रहे हैं।**मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** वे परिणाम मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव हैं ऐसा जानना चाहिये । इसी को स्पष्टतया समझाते हैं कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववाला है तथापि अनादि-कालीन मोहनीयादि कर्मबंध के वश से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप तीन विकारी-परिणाम जीव के हो रहे हैं, यहाँ पर शुद्ध जीव का स्वरूप तो उपादेय है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और मिथ्यात्वादि-विकारी भाव छोड़ने योग्य हैं ऐसा तात्पर्य है ॥९६॥

अब आत्मा के उपर्युक्त तीन-विकारी परिणामों का कर्तापन है ऐसा बतलाते हैं––

मोहाभिभूत उपयोग वरे अनादि, निम्नोक्त तीन परिणाम करें प्रमादी ।
अज्ञान औ अविरती अरु दृष्टि मिथ्या, पाया अतः न अबलौं सुख सत्य नित्या ॥९६॥

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९७॥

एदेसु य एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु **उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा। **तिविहो** कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति। परमार्थेन तु **सुद्धो** शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः। **णिरंजणो** निरञ्जनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माञ्जनरहितः। पुनश्च कथम्भूतः? **भावो** भावः पदार्थः अखण्डैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोऽपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा। **जं सो करेदि भावं** यं परिणामं करोति स आत्मा। **उवओगो** चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूपः। **तस्स सो कत्ता** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भावः ॥९७॥

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादान-

---

अर्थ—यद्यपि शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का उपयोग शुद्ध है निर्विकार है, तो भी अनादिकाल से इन उपर्युक्त तीन-भावरूप-परिणामों में से आत्मा जिस भाव को करता है उस समय उसका कर्त्ता होता है ॥९७॥

टीका—एदेसु य उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के होने पर उनके निमित्त से, **उवओगो** यहाँ उपयोग शब्द से आत्मा ही लिया है। क्योंकि ज्ञान-दर्शनमय जो उपयोग है वह आत्मा से अभिन्न होते हुए उसका लक्षण—स्वरूप है। **तिविहो** जिस प्रकार कृष्ण, नील, पीत उपाधि के द्वारा स्फटिक कृष्ण, नील, पीतरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी तीन प्रकार का हो रहा है। किन्तु वस्तुतः तो वह **सुद्धो** रागादि-भाव कर्मों से रहित शुद्ध है, **णिरंजणो** ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मरूपी अंजन रहित है। **भावो** वह आत्मपदार्थ-एक-अखंड-प्रतिभासरूप होने वाला ज्ञान-स्वभावमय होने के कारण एक प्रकार का होने पर भी पूर्वकथित मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम विकार से तीन प्रकार का होकर **जं सो करेदि भावं** उनमें से जिस किसी परिणाम को करता है, वह **उवओगो** चैतन्य परिणमन रूप उपयोग का धारक आत्मा **तस्स सो कत्ता** निर्विकार-स्वसंवेदन-ज्ञानरूप-परिणाम से च्युत होता हुआ उसी मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी-परिणाम का कर्त्ता होता है, किन्तु द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं होता ॥९७॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर बतलाया है कि आत्मा जब परमार्थ रूप होता है अर्थात् समाधिस्थ होता है तब वह रागादि-भावों से रहित व नवीन ज्ञानवरणादि कर्म के बंध से भी रहित होता है। किन्तु समाधि से च्युत होने की दशा में उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामों में से जिस किसी परिणाम को करता है उसी परिणाम का कर्त्ता रहता है। समाधि-दशा में ज्ञान का कर्त्ता होकर ज्ञानी होता है पर समाधि से च्युतावस्था में इससे विपरीत हो जाता है।

अब आत्मा के मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार विकारमय परिणाम का कर्त्तापना होने पर कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गल द्रव्य है वह अपने आप ही उपादान रूप से कर्म के रूप में परिणत

लो वस्तुतः शुचि निरंजन आतमा है, तो भी रहा त्रिविध मोहतया भ्रमा है ।
जैसा विभाव करता उपयोग भाता, कर्त्ता उसी समय है उसका कहाता ॥९७॥

रूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९८॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति । **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलदव्वं** तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति । किंवत् ? गारुडादिमन्त्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशान्तरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमन्तरेणापि विषापहारबन्धविध्वंसस्त्रीविडम्बनादिपरिणामवत् । तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमन्त्रस्य सामर्थ्येन निर्जीवविषवत्, स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः । एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् ॥९८॥

हो जाता है ऐसा कथन करते हैं--

अर्थ—(१) विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व (२) कलुषतारूप अज्ञान (३) और पर पदार्थों में प्रवृत्तिरूप अविरति इन तीन प्रकार के भावों में से आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है। किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने से पुद्गल-द्रव्य अपने आप कर्म रूप में परिणमन कर जाता है ॥९८॥

टीका--जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स जब यह आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है उस समय मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणामों में से जिस विकाररूप परिणाम को करता है उस समय वह उसी विकारी-भाव का कर्त्ता हो जाता है। **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं** और जब यह आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणाम का कर्त्ता होता है तब कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गलद्रव्य वह अपने आप उपादान रूप से द्रव्यकर्म रूप में परिणमन कर जाता है। जैसे गारुड़ आदि मंत्र को सिद्ध करने वाला एकाग्रचित्त होकर उस मंत्र को सिद्ध करता है तब उसके सिद्ध हो जाने पर विषापहार, बंध, विध्वंस या स्त्रीविडंबना आदि आदि जिस उद्देश्य को लेकर वह उस मंत्र को सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशान्तर में उस मंत्र साधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव के विनाश के काल में निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म नीरस होकर अपने आप जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि गारुड़ी मंत्र के सामर्थ्य से विष निर्विषरूप में परिणत हो जाता है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है ॥९८॥

विशेषार्थ--उपर्युक्त गाथा में जो 'स्वयं' शब्द आया है, वह पुद्गल के कर्म रूप परिणमन करने के विषय में जीव के विकारी परिणाम की साधकतमता बताने के लिए आया है।

रागादिभाव कर जीव जभी सुहाता, तत्काल पुद्गल स्वयं विधि रूप पाता ।
आकाश में रवि लसे फिर होय वर्षा, क्यों ना बने सुरधनू सहसा सहर्षा ? ॥९८॥

अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह –

परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९९॥

परं परद्रव्यं, भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं। **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति। **अप्पाणं पि य परं करंतो** शुद्धात्मानं च परं करोति यः। **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति। तद्यथा यथा कोऽपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति। तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनोः समस्तरागादिविकल्परहितस्वसम्वेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखीदुःखीति

इसीलिए टीकाकार ने उसे मंत्र साधक का दृष्टांत देकर स्पष्ट बतलाया है कि कोई भी मंत्र साधक जिस किसी उद्देश्य को लेकर मंत्र जपता है तब उस मंत्र के सिद्ध हो जाने मात्र से उसका अभीष्ट कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाता है। वैसे ही जीव के रागीद्वेषी होने पर कर्म-वर्गणायें अवश्यमेव कर्मरूप में परिणत होकर उसके साथ बन्ध जाती हैं। इस प्रकार कर्मवर्गणाओं से कर्मरूप परिणमन करने में जीव का विकारीभाव साधकतम है। हां, जीव का विकारी भाव भी पूर्वकृत कर्म के उदय से होता है, कर्मों के उदय के बिना जीव का भाव विकाररूप नहीं होता किन्तु कर्म का उदय होने पर भी समाधि में परिणत जीव का भाव विकार रूप नहीं होता अपितु समाधि-विपरिणत जीव का भाव कर्मोदय के निमित्त से विकार रूप होता है। इस प्रकार जीव को विकारी बनाने में कर्म उदासीन निमित्त है किन्तु जीव का विकारी भाव पुद्गल को कर्म रूप करने में असाधारण निमित्त है।

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि वास्तव में वीतराग-स्वसंवेदन-ज्ञान का न होना ही अज्ञान नाम से कहा गया है और उस अज्ञान से ही नूतन कर्म बँधते हैं—

अर्थ—अज्ञानमय संसारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको पर का बनाता है अतः वह कर्मों का कर्ता होता है ॥९९॥

टीका—परं भावकर्म रूप व द्रव्यकर्म रूप परद्रव्य को **अप्पाणं कुव्वदि** पर-द्रव्य और आत्मा में परस्पर भेदज्ञान न होने के कारण आपरूप किये रहता है। **अप्पाणं वि य परं करंतो** तथा अपनी शुद्धात्मा को भी पररूप विकारी करता है। **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** वह अज्ञानी-जीव नूतनकर्मों का करने वाला अर्थात् बांधने वाला होता है। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्ण पुद्गलों के परिणामों की अवस्था में और उसी प्रकार शीतोष्ण रूप अनुभव में जो भेद है उसको, एकता के अभ्यास के कारण नहीं जानता हुआ, 'मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूं–मुझे ठंड लगती है या गर्मी लगती है, इस प्रकार शीतोष्ण रूप परिणति का कर्त्ता

है अन्य रूप करता निज को विमोही, औ आत्मरूप करता जड़ अन्य को ही।
हा! मूढ़ जीव विधि-बन्धन को जुटाता, धिक्कार कातर निरंतर पीर पाता ॥९९॥

प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः ॥९९॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह--

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥१००॥

परं परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यन्तरे रागादिकं भावकर्मरूपं द्रव्यकर्मरूपं वा । **अप्पाणमकुव्वं** भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसम्बन्धमकुर्वन् । **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजात्मानं च परमकुर्वन् । **सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि** स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति । तथाहि—यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद् भेदज्ञानात् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति परिणतेः कर्ता न भवति । तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणामकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति । ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न

बन जाता है, वैसे ही यह संसारी जीव भी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न जो उदयागत पुद्गल कर्म की अवस्था और उसके निमित्त से होने वाले सुख-दुख-रूप-अनुभव में एकता आरोप कर लेने से उन समस्त प्रकार के रागादि-विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के न होने पर परद्रव्य में और आत्मा में जो भेद है उसे नहीं जानता है। इसलिये मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ कर्मों का कर्त्ता बनता है ॥९९॥

आगे कहते हैं कि वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान के प्रभाव से कर्मों का बंध नहीं होता--

अर्थ—जो जीव किसी प्रकार भी पर को अपने रूप और अपने आपको पररूप नहीं करता वह ज्ञानी होता है और नूतन-कर्मों का करने वाला नहीं होता ॥१००॥

टीका--परं बाह्य में देहादिक और अभ्यन्तर में रागादिक रूप जो परद्रव्य हैं अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप जो पर द्रव्य हैं उनको **अप्पाणमकुव्वं** अपने भेदविज्ञान के बल से नहीं अपनाता है—उनसे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता है **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** और शुद्ध-द्रव्य, गुण और पर्याय-स्वरूप-आत्मा को पर रूप विकारी नहीं करता है, **सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि** निर्मल-आत्मा की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद-विज्ञानवाला जीव कर्मों का उत्पन्न करने वाला नहीं होता। जैसे कोई पुरुष शीत-उष्ण रूप पुद्गल परिणाम की अवस्था का तथा उससे होने वाले शीतोष्ण रूप अनुभव का और आत्मा का भेदज्ञान रखने के कारण से 'मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूं' इस परिणति का कर्त्ता नहीं होता है। वैसे ही निज शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न स्वरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था तथा उसके निमित्त से होने वाले सुख या दुःख के अनुभव का और अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख के अनुभव का भेद-ज्ञान का अभ्यास रखने के कारण पर और आत्मा का भेद ज्ञान होने पर रागद्वेष मोहरूप परिणाम को नहीं करता है वह नूतन कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है। इससे यह बात

जो अन्य को निजमयी करता नहीं है, औ आपको परमयी करता नहीं है ।
ज्ञानी वही मुनिवशी सुख बीज बोता, ना कर्म बन्ध करता निज लीन होता ॥१००॥

प्रभवतीत्यभिप्रायः ।।१००।।

अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।१०१।।

तिविहो एसुवओगो त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा । **अप्पवियप्पं करेदि** स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति । केन रूपेण ? **कोहोहं** क्रोधोऽहमित्यादि । **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** स जीवः तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्त्ता भवति । कथम्भूतस्य **अत्तभावस्स** आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति । तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयोः । कोऽर्थः ? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जकश्चान्तरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः । इत्थम्भूतयोर्द्व-

---

सिद्ध हुई कि ज्ञान से कर्मों का बंध नहीं होता है ।।१००।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने ९९ नं. की गाथा में अज्ञानी जीव और इस गाथा में ज्ञानी जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो कोई आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध रखते हुए संकल्प-विकल्प रूप परिणाम का धारक होता है वह नूतन कर्म का बंध करने वाला अज्ञानी जीव कहलाता है किन्तु जो बाह्य पदार्थ के विषय में किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प से रहित होकर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप समाधि में लग जाता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है जो कि नूतन-कर्म बन्ध करने वाला नहीं होता है ।

अब अज्ञान से ही नूतन कर्मों का बंध क्यों होता है इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप विकार भाव को धारण करने वाला आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है कि मैं क्रोध स्वरूप हूं इत्यादि, उस समय वह अपने उस भावरूप उपयोग का करने वाला होता है ।।१०१।।

टीका—तिविहो एसुवओगो उपर्युक्त मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार का उपयोग है लक्षण जिसका ऐसी आत्मा **अप्पवियप्पं करेदि** स्वस्थभाव के न होने के कारण असत्-मिथ्या विकल्प करता है, कि **कोहोहं** मैं क्रोध रूप हूँ इत्यादि **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** तब उस समय वह जीव क्रोधादि विकल्प रूप उपयोग का कर्त्ता होता है। वह उपयोग कैसा है ? **अत्तभावस्स** अशुद्धनिश्चय-नय से वह उस जीव का अपना ही परिणाम है । स्पष्ट यह है कि सामान्य रूप में जिसे अज्ञान नाम से कहा जाता है ऐसा एक प्रकार का उपयोग भी विशेष विवक्षा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र रूप से तीन प्रकार का होता है वह अपने को और क्रोधादि-भावों को भाव्य-भावकभाव से प्राप्त करता है । भाव्य-भावक को प्राप्त करता है, इसका क्या अर्थ है ? इन दोनों में भाव्य शब्द से क्रोधादि-परिणत आत्मा और भावक शब्द से अन्तरात्मपन से विलक्षणरूप

मिथ्यादिरूप ढलता उपयोग गाता, मैं क्रोध हूँ सतत यों रट है लगाता ।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है, ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ।।१०१।।

योर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्टः सन् क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्त्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति ॥१०१॥

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥

तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा। **अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी** परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्पमुत्पादयति। **कत्ता तस्सुवओगस्स**

जो भाव-क्रोध है उसको लेना। इस प्रकार इन दोनों में जो भेद है उस भेदज्ञान के न होने से अर्थात् उस भेदज्ञान को नहीं जानता हुआ निर्विकल्पस्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ संसारी आत्मा मैं क्रोध हूँ इत्यादि रूप से अपने आप में विकल्प उत्पन्न करता है, उस समय वह अशुद्ध-निश्चयनय से उसी क्रोधादिरूप अपने आत्म-परिणाम का करने वाला होता है।

इस गाथा में जो क्रोध शब्द आया है उसके स्थान में मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इनको भी क्रम से लगाकर उसी प्रकार का व्याख्यान करना। इसी प्रकार से अविक्षिप्त शांतचित्त-स्वभाववाला जो शुद्ध-आत्मतत्त्व से विलक्षण ऐसे असंख्यात-लोक-प्रमाण-विभावभाव होते हैं उनको लगा लेना ॥१०१॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्यदेव क्रोधादि सभी प्रकार के विकारी भावों को विकल्पकारक बताकर कर्म बंध करने वाला बता रहे हैं। और जो कर्मबंध से दूर रहना चाहता है उसे इन सभी विकल्पों से दूर रहने की शिक्षा दे रहे हैं। क्योंकि इन सबसे दूर होने पर ही वह नूतन बंधकारकपने से रहित होकर ज्ञानी कहलाने का अधिकारी है।

अर्थ—उपर्युक्त मिथ्यात्वादि रूप तीन प्रकार के विकारी परिणाम वाला आत्मा, जिनके साथ में मात्र ज्ञेय-ज्ञायकरूप संबंध है ऐसे धर्मादिक द्रव्यों के विषयों में भी, अपनेपन का मिथ्या विकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प रूप आत्मभाव का कर्त्ता होता है ॥१०२॥

टीका—तिविहो एसुवओगो सामान्यतया अज्ञान नाम से कहा जाने वाला एक प्रकार का विकारी भाव भी विशेष अपेक्षा से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्ररूप तीन प्रकार का हो जाता है, ऐसे उस विकारी-परिणामवाला आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी** जिन धर्मादि पर-द्रव्यों के साथ में आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायकमात्र-संबंध है उनके भी विशेष को न जानने से, न देखने से और न विशेषरूप परिणमन करने से, प्राप्त हुए भेदज्ञान के अभाव के कारण भेद को नहीं

मिथ्यादिरूप ढलता उपयोग गाता, धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है, ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

होदि सो अत्तभावस्स निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति। ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति ? अत्र परिहारः। धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति। तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्पं उपचारेण घटत इति भावार्थः। ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ॥१०२॥

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥१०३॥

एवं एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण। **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोऽहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं

जानता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' इस प्रकार का व्यर्थ विकल्प करता है। **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** उस समय वह अशुद्धनिश्चयनय से उस निर्मल-आत्मानुभूति से रहित होने वाले मिथ्या-विकल्परूप अपने परिणाम का कर्ता होता है। यहां ऐसी शंका हो सकती है कि 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' ऐसा कोई नहीं कहता तब ऐसा कहना कैसे घटित हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा ज्ञानरूप जो विकल्प मन में उठता है उसको ही उपचार से यहाँ धर्मास्तिकाय कहा गया है। जैसे कि घटाकार-परिणत-ज्ञान को घट कहा जाता है। एवं जब ज्ञेयतत्त्व के विचारकाल में यह जीव 'धर्मास्तिकाय है' इस प्रकार का विकल्प करता है उस समय शुद्धात्मस्वरूप को विस्मरण कर देता है। इस प्रकार से इस विकल्प के उत्पन्न होने पर 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' ऐसा विकल्प उपचार से घटित हो जाता है। इस वर्णन से यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा के अनुभव का न होना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही कर्ता-कर्मभाव का कारण होता है ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज का कहना है कि छद्मस्थ आत्मा जिस प्रकार इन दृश्यमान पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करते हुए क्रोधादिरूप विकल्प उत्पन्न करता है उसी प्रकार धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों में भी 'यह धर्मास्तिकाय है' जो मेरे चलने में सहायक होता है इस प्रकार का विकल्प लेकर उसको जानने के समय शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत होता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से च्युत होता है और विकल्प कारक बनकर नूतन कर्म का बन्ध करने वाला होता है।

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव से पर पदार्थों को अपने रूप करता है और इसीप्रकार अपने आप को पररूप कर लेता है ॥१०३॥

टीका—एवं जैसा कि पहले दो गाथाओं में कहा जा चुका है, उस प्रकार से **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** मैं क्रोध हूँ इत्यादि, अथवा मैं धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि, क्रोधादिक अपने परिणामरूप अथवा धर्मास्तिकायादि ज्ञेयरूप परद्रव्य हैं उनको अपना लेता है। **मंदबुद्धीओ** वह

अज्ञान से भ्रमित हो पर को निजात्मा, शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा में, औचित्य पैर पड़ते उल्टी दिशा में ॥१०३॥

करोति। सः कः कर्ता ? **मंदबुद्धीओ** मन्दबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः। **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भ्रंशं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन **अण्णाणभावेण** अज्ञानभावेनेति। ततः स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टान्तेनेव शुद्धात्मसम्वित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति। तद्यथा—यथा कोऽपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तम्भचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति। तथा जीवोऽपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोऽहं कामोऽहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता भवति। एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तो गतः। तथैव च यथा कश्चिन् महामहिषादिध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोऽहं गरुडोऽहं कामदेवोऽहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहंमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। तथा च जीवोऽपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति। तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबन्धो भवतीति। एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टान्तो गतः। हे भगवन् धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादि-

---

निर्विकल्पसमाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान से रहित मन्दबुद्धि-जीव **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप एक-स्वभाव वाले अपने आत्मा को भी पर बना देता है अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर लेता है, रागादिक संयुक्त कर लेता है। **अण्णाणभावेण** अपने अज्ञानभाव से पराधीन होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भूताविष्ट दृष्टांत के द्वारा जिस प्रकार क्रोधादिक के विषय में उसी प्रकार ध्यानाविष्ट दृष्टांत के द्वारा धर्मादि ज्ञेयपदार्थ के विषय में जो इस जीव का अपने शुद्धात्मा के संवेदन से पृथक् भावरूप अज्ञान होता है वही कर्ता-कर्मभाव का कारण होता है। जैसे किसी पुरुष के भूत-आदि ग्रह लग गया हो तो वह भूत में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ मनुष्य से न करने योग्य ऐसी बड़ी भारी शिला उठाना आदि आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ दीख पड़ता है उसी प्रकार यह जीव भी वीतरागमय-परमसामायिकभाव में परिणत होने वाला शुद्धोपयोग है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से काम-क्रोधादिभावों में और शुद्धात्मा में जो भेद है उसको न जानता हुआ "मैं क्रोध रूप हूं, मैं काम का रूप हूँ" इत्यादि विकल्पों को करता हुआ कर्मों का करने वाला बनता है। यह तो क्रोधादिक के विषय में भूताविष्ट का दृष्टान्त हुआ। अथवा जैसे भैंसा आदि का ध्यान करने वाला जीव भैंसा आदि में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ उसे भुलाकर, "मैं भैंसा हूं, मैं गारुड़ हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, या दूध की धारा के समान, अमृत की राशि हूँ" इत्यादि आत्म-विकल्पों को करता हुआ वह इन विकल्पों का करने वाला बनता है। वैसे ही छद्मस्थ जीव भी सुख-दुःखादि में समता-भावना को लिये हुए जो शुद्धोपयोग, वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से धर्मादिक-ज्ञेय-पदार्थों में और अपने आपकी शुद्धात्मा में जो भेद है उसको नहीं जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादिरूप आत्म-विकल्प करता है तो वह उस विकल्प का कर्ता होता है, और उस विकल्प के करने पर उस जीव के नूतन द्रव्यकर्मों का बन्ध भी अवश्य होता है। इस प्रकार धर्मास्तिकायादि ज्ञेय पदार्थों में ध्यान का

ज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः। नैवं वक्तव्यम्। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः। तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः। किंतु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यम्। ननु वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसम्वेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं विषयसुखानुभवानन्दरूपं स्वसम्वेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसम्वेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥१०३॥

ततः स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्वम्—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥१०४॥

दृष्टान्त हुआ। इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि 'हे भगवन्! यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है, इत्यादि ज्ञेय तत्त्व का विचार रूप विकल्प करने पर भी यदि कर्मों का बन्ध होता है तो फिर ज्ञेय तत्त्वों का विचार करना वृथा है अतः वह नहीं करना चाहिये ? इस पर आचार्य देव उत्तर देते हैं कि नहीं भाई! ऐसा नहीं है, अपितु बात ऐसी है कि त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधिकाल में तो ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये, किन्तु उस त्रिगुप्ति रूप ध्यान के अभाव में अध्यात्म भाषा में शुद्धात्मा को ही उपादेय मान कर व आगम भाषा में मोक्ष को उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्व के काल में विषय-कषायों से दूर होने के लिए ऐसा विकल्प करना ही चाहिये। क्योंकि उस उपर्युक्त तत्त्व विचार के द्वारा मुख्यता से पुण्य बंध होता है और परम्परा से निर्वाण लाभ होता है, इसलिये वैसा विचार करने में कोई दोष नहीं है। हाँ, उस तत्त्व के विचार के काल में भी वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान परिणत साक्षात् शुद्धात्मा ही उपादेय होता है ऐसा समझना चाहिये। यहाँ कोई शंका करे कि हे भगवन्! वीतराग स्वसंवेदन के विचार काल में आपने जो बार-बार वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं, क्या कोई सराग स्वसंवेदन ज्ञान भी होता है? इसका आचार्य देव उत्तर देते हैं कि हाँ भाई! विषय-सुखानुभव के आनन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है अर्थात् वह सब लोगों के अनुभव में आया करता है। वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सब ही स्थान पर समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर कर्ता-कर्म भाव नष्ट हो जाता है यही आगे की गाथा में बतलाते हैं—

अर्थ—निश्चयनय के जानने वालों ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्ता बतलाया है, इस प्रकार जो दृढ़ता से जान लेता है वह सब कर्तापन से दूर हो जाता है ॥१०४॥

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्ता, आत्मज्ञ हैं कह रहे पर भाव हर्त्ता।
ऐसा रहस्य सुनके मुनि अप्रमादी, कर्तृत्व भाव तजते, भजते समाधि ॥१०४॥

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्त्ता भणितः। कैर्निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः। तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता भवति, ततश्च द्रव्यकर्मबन्धो भवति। यदा तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति। तत्कर्तृत्वाभावे हि द्रव्यकर्मबन्धोऽपि न भवति। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति। एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति संज्ञानान्नश्यतीति स्थितम्। इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम्। एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः ॥१०४॥

टीका—एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जैसा कहा है उस अज्ञान-भाव से यह आत्मा कर्ता बनता है ऐसा निश्चय के जानने वाले सर्वज्ञ-भगवान् ने कहा है। तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा वीतराग-परम-सामायिक-स्वरूप-संयम-भावात्मक-अभेद-रत्नत्रय का प्रतिपक्षीभूत जो अज्ञानभाव, जिसका उपर्युक्त तीन गाथाओं में व्याख्यान किया गया है, उस रूप परिणत होता है तब उसी मिथ्यात्व और रागादिभाव का कर्ता होता है, जिससे इसके द्रव्यकर्म का बंध हुआ करता है। किन्तु जब यह आत्मा चिदानन्दमय एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा के अनुभवरूप परिणाम में परिणत होता है उस समय यह सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व और रागाद्यात्मक भावकर्मरूप अज्ञानभाव का करने वाला नहीं होता है। तब इस कर्तापन के अभाव होने पर उसके द्रव्यकर्मों का भी बंध नहीं होता है। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** गाथा के पूर्वार्द्ध में कहे अनुसार मन में जो वस्तुस्वरूप जानता है वह सरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्तापन को छोड़ता है—उससे दूर हो जाता है। किन्तु जब वही निश्चयचारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले वीतरागसम्यग्दर्शन का धारक होता है तब शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्म के कर्तापन को छोड़ देता है [और नूतन कर्म बंध नहीं होता है]। इस प्रकार जीव के रागादिरूप-अज्ञानभाव से तो कर्मबंध होता है और वीतरागभावरूप सम्यग्ज्ञान से कर्म बंध का अभाव होता है। यह बात निश्चित हुई ॥ १०४ ॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव बताते हैं कि सब प्रकार के कर्तापन से दूर होने पर ही ज्ञानी होता है। वह कर्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है—(१) शरीरात्मक (२) अविरतात्मक (३) विरतात्मक। (१) शरीरात्मक—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ अतः अपने जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को अपने परिश्रम से संपादन करके सुखी बनूँ, ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप-पाखण्ड में लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्तापन है। (२) अविरतात्मक—जब यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्म-मरण करते हुए अनन्तकाल बीत गया जिसमें यह मनुष्य-जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है अतः अब ऐसा करूं कि कम से कम कुयोनियों में तो जन्म धारण न करना पड़े, ऐसा सोचकर अन्याय-अभक्ष्य से

अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यन्तं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यद्व्यवहारिणो वदन्ति स व्यामोह इत्युपदिशति–

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।१०५।।

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि यतो यथा अन्योऽन्यव्यवहारेणैवं तु पुनः घटपटरथादिबहिर्द्रव्याणीहपूर्वेण करोत्यात्मा । **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** तथाभ्यन्तरेऽपि करणानीन्द्रियाणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेण विशेषेण करोतीति मन्यन्ते, ततोऽस्ति व्यामोहो मूढत्वं व्यवहारिणाम् ।।१०५।।

वचकर न्यायोपार्जित-कर्त्तव्य करने में लग रहता है, दान-पूजादिक षट्कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्तापन है । (३) विरतात्मक––जब यह जान लेता है कि यह संसार का दृश्यमान्-ठाठ क्षणभंगुर है और जो यह मानव-पर्याय मिली है उसका भी कोई भरोसा नहीं है अतः अब शेष जीवन को भगवान्-भजन में बिताऊँ, ऐसा सोचकर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु-सेवा में लगा रहता है तब वहाँ पर शुद्धोपयोग के साधनस्वरूप-आवश्यककर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्तापन है । इससे भी उऋण होकर जब अपनी शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप-निर्विकल्प-परम-समाधि में लगता है, तल्लीन हो जाता है उस समय तीनों प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तब उस अवस्था में नूतन कर्म बंध भी नहीं होता है ।

इस प्रकार अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल में छह गाथायें पूर्ण हुईं । इस प्रकार द्विक्रियावादी का निराकरण करते हुए विशेष व्याख्यान के रूप में कही हुई बारह गाथायें पूर्ण हुईं । अब फिर भी ११ गाथाओं से उपसंहाररूप में आचार्यदेव इसी द्विक्रियावादी के निराकरण के विषय में और भी विशेष व्याख्यान करते हैं।

अब सबसे पहले यह बताते हैं कि पर-भावों को भी आत्मा करता है ऐसा जो व्यवहारी लोग कहा करते हैं वह सब उनके साथ लगे हुए मोह की ही महिमा है––

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से घट-पट और रथ आदि वस्तुओं को करता है और इन्द्रियादिक को करता है तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, शरीरादिक नोकर्म व क्रोधादिक भावकर्मों को भी करता है ।।१०५।।

टीका––ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि यह आत्मा आपस के व्यवहार से घट-पट-रथादि बाह्यवस्तुओं को नाना प्रकार की इच्छा पूर्वक जैसे करता रहता है । **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** उसी प्रकार भीतर में नाना प्रकार की स्पर्शनादि इन्द्रियों को और बाह्य में नोकर्म शरीरादिक को तथा क्रोधादिरूप भावकर्मों को और नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को निरन्तर इच्छापूर्वक करता रहता है । ऐसा जो व्यवहारी लोग मानते हैं वह उन व्यवहारियों का व्यामोह अर्थात् मूढ़पना है ।।१०५।।

यह मूढ़ता क्यों हैं सो आचार्य बताते हैं–

कर्त्ता कुम्हार घट का व्यवहार से है, वो क्योंकि निश्चित सहायक बाह्य से है ।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता, नोकर्म कर्म मन का, जिन शक्ति-भर्त्ता ।।१०५।।

अथ स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥१०६॥

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकान्तरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात् । **जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानन्त-सुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति । ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्रायः ॥१०६॥

अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१०७॥

अर्थ—यदि आत्मा पर द्रव्यों को भी करे तो वह उन परद्रव्यों के साथ नियम से तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नहीं है । इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है ॥१०६॥

टीका—जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि आत्मा घट, पट आदि पर-द्रव्यों को भी नियमपूर्वक अवश्य ही करने वाला हो तो वह उनसे तन्मय हो जाये, **जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** क्योंकि यह आत्मा शुद्धस्वाभाविक ऐसे अपने अनन्तसुख और ध्यानादि को छोड़कर पर द्रव्य के साथ तन्मय तो होता नहीं है । इसलिए आत्मा पर द्रव्यों का उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता है ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ—कर्त्ता दो प्रकार के हैं । (१) उपादान कर्त्ता (२) निमित्त कर्त्ता । जो उस पदार्थरूप परिणमन करे वह उपादान कर्त्ता है । किन्तु उस पदार्थरूप स्वयं परिणमन तो न करे पर उसको तद्रूप परिणमा देवे वह निमित्त कर्त्ता कहलाता है । जिसका कथन करना व्यवहार है । आचार्य देव उपादान कर्त्ता को :दृष्टि में रखकर कहते हैं कि आत्मा घट-पटादि को भी बनाने वाला हो तो उसे उस रूप में परिणमन करना चाहिए, किन्तु वह उस रूप परिणमन नहीं करता है, अतः वास्तव में उपादान रूप से वह उनका कर्त्ता नहीं होता ।

आगे कहते हैं कि केवल उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता, यह बात नहीं है किन्तु निमित्त रूप से भी आत्मा घटपटादि का कर्ता नहीं होता—

अर्थ—जीव कभी भी घट को नहीं करता, न पट को ही करता और न शेष द्रव्यों को ही करता है । जीव के योग और उपयोग दोनों घटपटादि की उत्पत्ति करने में निमित्त होते हैं । इन दोनों योग-उपयोग का यह

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता, क्यों कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता ।
कर्त्री स्वकार्य घट की मृतिका अतः है, कर्त्ता निजातम रहा निज का स्वतः है ॥१०६॥

कर्त्ता नहीं जड़ अचेतन वस्तुओं का, आत्मा निमित्त तक भी न घटादिकों का ।
योगोपयोग जिनमें कि निमित्त होते, योगादि को कर कुधी जड़ सत्य खोते ॥१०७॥

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे न केवलमुपादानरूपेण जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि। कुत इति चेत् ? नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषङ्गात्। कस्तर्हि करोति? **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः। **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुखदुःखजीवितमरणादि-समताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति न सर्वदा। अत्र योगशब्देन बहिरङ्गहस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन चान्तरङ्गविकल्पो गृह्यते। इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनर्मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभावः। इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१०७॥

अथ वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति—

आत्मा करने वाला होता है ॥१०७॥

टीका—जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे उपादान रूप से ही क्या किन्तु निमित्त रूप से भी जीव घट, पटादि शेष द्रव्यों का कर्त्ता नहीं होता। यदि वह उनका कर्त्ता हो तो हर समय अविच्छिन्न रूप से उन्हें करता ही रहे। तब उनका कर्त्ता कौन है ? **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मा का विकल्प और व्यापार रूप जो योग और उपयोग है जो कि स्वयं विनश्वर हैं वे उनके उत्पादक होते हैं। **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुख और दुख, जीवन और मरण इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातों में समभाव धारण रूप अभेदरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान के न होने पर जिस काल में यह आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाले परमात्म स्वरूप से भ्रष्ट होता है, उस समय यह जीव उपर्युक्त योग और उपयोग का किसी समय कर्ता होता है, सर्वदा नहीं। यहाँ पर योग शब्द से बाह्य-अवयव-हस्तादिक का हिलना-डुलना और उपयोग शब्द से अन्तरंग के विकल्प को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार घटादिक के विषय में जीव का निमित्त रूप में कर्तापना परम्परा से है [साक्षात् नहीं], क्योंकि यदि मुख्यरूप से साक्षात् निमित्त कर्तापना जीव के मान लिया जाये तब फिर जीव तो नित्य शाश्वत है, अतः वह कर्म करता ही रहेगा तब मोक्ष का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें समाप्त हुईं ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ—आत्मा के योग और उपयोग घटादिक के बनने में निमित्त होते हैं। अतः उन्हें निमित्त कर्त्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा को उनका निमित्त कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा जब समाधि दशा से च्युतरूप अज्ञानदशा में होता है, तब किसी समय उनके करने रूप योग-उपयोग का कर्त्ता होता है, इसलिए व्यवहार से भी आत्मा को जो घटादिक का साक्षात् कर्ता कहा जाता है वह भी सही नहीं है। ऐसा आचार्य देव के कहने का तात्पय है।

आगे आचार्यदेव बतलाते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव तो ज्ञान का ही कर्ता होता है परभाव का कर्त्ता कभी नहीं होता—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०८।।

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवन्ति । **ण करेदि ताणि आदा** तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् । **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति । न च परिज्ञानमात्रेण । इदमत्र तात्पर्यम्, वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता । किम्वदिति चेत् ? पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव, कर्तृत्वं ज्ञातव्यं भोक्तृत्वं च । न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुम्भकारवदिति । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन

अर्थ—पुद्गल द्रव्यों का परिणमन जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप होता है उसका भी कर्त्ता वास्तव में आत्मा नहीं है—इस प्रकार (स्वानुभव द्वारा) जो जानता है वह ज्ञानी होता है ।।१०८।।

टीका—जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यों का परिणमन ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप होता है, **ण करेदि ताणि आदा** उसको भी आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से जैसे मिट्टी कलश को करती है, वैसे नहीं करता है । जिस प्रकार ग्वाले से गोरस भिन्न है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म आत्मा से भिन्न है । **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इस प्रकार मिथ्यात्व और विषय-कषायों का त्याग करके निर्विकल्प-समाधि में स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है, जानने मात्र से ही ज्ञानी नहीं हो जाता । तात्पर्य यह है कि वीतराग-स्वसंवेदन-ज्ञानी जीव शुद्ध-उपादानरूप शुद्धनय से शुद्धज्ञान का ही कर्ता होता है, जैसे कि स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुणों का, अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का और सिद्धपरमेष्ठी अनन्तज्ञानादि गुणों का कर्ता होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादिरूप-अज्ञानभाव का कर्ता ज्ञानी नहीं होता । यहाँ पर कर्तापन और भोक्तापन जो बताया गया है वह शुद्ध उपादानरूप से शुद्ध-ज्ञानादिभावों का और अशुद्ध-उपादानरूप से मिथ्यात्व तथा रागादिरूप विकारीभावों का उन-उन रूप से परिणमन करना ही कर्तापन व भोक्तापन बताया गया है । किन्तु घट और कुंभकार के समान इच्छा पूर्वक हस्तादिक का व्यापार करने रूप कर्तापन या भोक्तापन को यहाँ नहीं लिया गया है ऐसा समझना चाहिये । गाथा में मूल ग्रन्थकार ने जो ज्ञानावरण शब्द दिया है वह उपलक्षण रूप है, इसलिए उसके स्थान पर दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप सातकर्मों के साथ इन मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा नोकर्म और मन, वचन, काय तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह को भी लगाकर क्रम से

निस्सारभूत जड़ पुद्गल भाव धारे, ये ज्ञान-आवरण आदिक-कर्म सारे ।
आत्मा इन्हें न कर इतास भाँति योगी, ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ।।१०८।।

दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्म-मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येऽपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥१०८॥

अथ वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०९॥

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमन्दस्वादाभ्यां सुखदुःख-रूपाभ्यां वा चिदानन्दैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाणः सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतन्त्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्ता भवति। **तं तस्स होदि कम्मं** तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति। तेनात्मना क्रियमाणत्वात्। **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतन्त्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मणः। किं च विशेषः। अज्ञानी जीवोऽशुद्ध-निश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः। स चाशुद्धनिश्चयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। हे भगवन्! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति। तत्कथ्यते—औपाधिक-

---

व्याख्यान करना चाहिये। इसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षणरूप और असंख्यात-लोकप्रमाण विभावभाव हैं ऐसा समझना चाहिए।

वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानी ज्ञानभाव का ही कर्त्ता होता है किन्तु ज्ञानावरणादि परद्रव्य का कर्त्ता नहीं होता ऐसा आगे बतलाते हैं—

अर्थ—वास्तव में आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है तथा अपने भावरूपकर्म का ही भोक्ता भी होता है ॥१०९॥

टीका—जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता चिदानंद-एक-स्वभावरूप से जो आत्मा एक है उसी के साता व असाता के रूप में, तीव्र-मन्द के रूप में, अथवा सुख-दुःख के रूप में दो भेद करते हुए यह छद्मस्थ जीव जैसा शुभ व अशुभभाव करता है, उसके प्रति स्वतंत्रतया व्यापक होने से वह उसका कर्त्ता होता है, **तं तस्स होदि कम्मं** और वह भाव इस आत्मा का कर्म होता है; क्योंकि वह भाव उसी के द्वारा किया गया है **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** और इसलिए यह आत्मा उसी शुभ या अशुभ भाव का भोगने वाला होता है क्योंकि स्वतंत्र रूप से उसका ही संवेदन करता है किन्तु द्रव्यकर्म का कर्त्ता और भोक्ता आत्मा नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी-जीव अशुद्ध-उपादानरूप अशुद्धनिश्चयनय से मिथ्यात्व अथवा रागादिभावों का ही कर्त्ता होता है ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म का नहीं। आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्त्ता असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा गया है। इस कारण इस अशुद्ध-निश्चयनय को निश्चय की संज्ञा दी गई है। तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वह व्यवहार ही है। यहाँ कोई शिष्य पूछता है

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा, कर्त्ता तभी नियम से उसका बनेगा।
यों बार-बार कर कर्म कुधी सरागी, है भोगता दुख, कभी सुख, दोष भागी ॥१०९॥

मुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत्; निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्; अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत् उष्णत्वादिगुणानामग्निवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः ॥१०९॥

अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥११०॥

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिंश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसम्बन्धेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रामत्येव सोऽपि । **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** स चेतनोऽचेतनो वा गुणः कर्ता अन्यद्विभ्रं द्रव्यान्तरमसङ्क्रान्तः सन् कथं द्रव्यान्तरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि ॥११०॥

ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति–

कि हे भगवन् ! आपने अशुद्ध-उपादानरूप से आत्मा को रागादिक का कर्त्ता वताया है तो क्या उपादान भी शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि अग्नि के द्वारा गर्म किये हुए लोहे के पिण्ड के समान आत्मा औपाधिकभावों को स्वीकार किये हुए है वह अशुद्ध-उपादान होता है । किन्तु जो निरुपाधिक (सहज) भाव को स्वीकार किये हुए है वह शुद्ध उपादान कहलाता है । जैसे सोना अपने पीतत्वादि गुणों का, सिद्ध-जीव अपने अनंतज्ञानादि गुणों का और अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का उपादान है । इस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान स्वरूप के व्याख्यान के समय सभी स्थान पर स्मरण रखना चाहिये ॥ १०९ ॥

आगे आचार्य बताते हैं कोई भी किसी भी प्रकार के उपादान से पर-भाव का कर्त्ता नहीं होता—

अर्थ—जो गुण जिस द्रव्य में होता है वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में कभी नहीं जाता और जब वह अन्य द्रव्य में नहीं जाता तब वह अन्य को कैसे परिणमा सकता है—कभी नहीं परिणमा सकता ॥११०॥

टीका—**जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे** चेतनरूप या अचेतनरूप गुण जिस चेतन या अचेतन द्रव्य में अनादि सम्बन्ध से स्वभावता प्रवर्तमान है, वह उसे छोड़कर कभी भी किसी अन्य द्रव्य में नहीं जाता, **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** जब वह चेतन या अचेतन गुण अन्य में नहीं जाता, तब वह उस अन्य द्रव्य को उपादान रूप से कैसे परिणमा सकता है, कभी नहीं परिणमा सकता । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यह आत्मा पुद्गल-द्रव्यों का कर्त्ता नहीं है ॥११०॥

यही बात आचार्यदेव आगे की गाथा में कहते हैं—

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणों में, होता न संक्रमित है पर के गुणों में ।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे ? अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे ? ॥११०॥

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१११॥

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि यथा कुम्भकारः कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सम्बन्धिजडस्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा सम्बन्धिस्वरूपं मृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसम्बन्धिजडस्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसम्बन्धिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति । **तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता** तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादितद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति ? न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति ? यथा स्फटिको निर्मलोऽपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोऽपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोऽप्यमूर्त्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति, तन्निरस्तम् । कस्मादिति चेत् ? मूर्त्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसम्बन्धो घटते तस्य पुनः सदा मुक्तस्यामूर्त्तस्य कथं मूर्त्तोपाधिः ? न कथमपि सिद्धजीववद् । अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्त्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टान्तो घटत इति भावार्थः । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥१११॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को अथवा गुण को नहीं करता है । जब वह उसमें उन दोनों को नहीं करता तब वह उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ? ॥१११॥

टीका– **दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि** जैसे मिट्टी का कलश करने के समय मिट्टी कलश को तन्मय होकर करती है, वैसे कुम्हार मृत्तिका द्रव्य सम्बन्धी जड़ स्वरूप वर्णादिक को तन्मय होकर नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्य-कर्म के विषय में पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी स्वरूपवाले वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता, **तं उभयकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता** और जब आत्मा पुद्गल-द्रव्य कर्म सम्बन्धी स्वरूप को और उसके गुण वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता तब उस पुद्गल द्रव्यकर्म के विषय में जीव कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ? कभी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि चेतन पर-स्वरूप अर्थात् अचेतन स्वरूप से कभी भी परिणमन नहीं करता है । आचार्य के इस कथन का मूल आशय यह है कि जैसे स्फटिक स्वयं निर्मल है पर वही जपा-पुष्पादि किसी उपाधि के निमित्त से अन्यथा परिणमन कर जाता है, वैसे ही कोई सदाशिव नाम का व्यक्ति, जो कि सदा से मुक्त है, अमूर्त है, वह पर की उपाधि से अन्यथा रूप होकर जगत् को बनाता है ऐसी किन्हीं की जो मान्यता है वह ठीक नहीं है । क्योंकि स्फटिक मूर्तिक है, अतः उसका मूर्तिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है, किन्तु सदामुक्त और अमूर्त सदाशिव के साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है? कभी नहीं हो सकता, जैसे कि शुद्धजीव के साथ उपाधि का सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु अनादि बंधन बद्धजीव शुद्धनिश्चयनय से शक्तिरूप से अमूर्त है पर व्यक्ति रूप से व्यवहारनय से मूर्त है, उसके साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध ठीक बन जाता है ऐसा आचार्य का अभिप्राय है। इस प्रकार चार गाथाओं द्वारा निश्चयनय की मुख्यता से व्याख्यान किया गया ॥१११॥

तादात्म्य धार निजद्रव्य निजीगुणों से, आत्मा उन्हें कर रहा कि, युगों-युगों से ।
पाया सुयोग विधि पुद्गल का तथापि, स्वामी न आतम बना विधि का कदापि ॥१११॥

अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥११२॥

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडम्बरचन्द्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा । **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण** जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति ॥११२॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव प्रारम्भ में शुद्ध से अशुद्ध हुआ हो, एकाकी होकर भी अन्य द्रव्य के साथ मिश्रित हुआ हो, ऐसा नहीं है। किन्तु तिल का तैल के साथ में जिस प्रकार सदा का संबंध है, उसी प्रकार संसारी जीव के साथ अनादि से ही प्रवाह रूप से द्रव्य कर्मों का संबंध है, जिससे यह संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त बना हुआ है—पकड़ में आनेवाला है और पर द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि भावों से नये-नये कर्म बांधता रहता है। किन्तु जब यह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है तब पर द्रव्यों में राग-द्वेष करना छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाता है तब इसे नूतन कर्मों का बंध भी नहीं होता और पुरातन कर्म जो इस आत्मा के साथ लगे हुए हैं वे भी निर्जीर्ण होकर पृथक् हो जाते हैं। तब यह आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जन्म-मरण के दुःखों से दूर हो जाता है, यह जैन दर्शन का सार है।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है ऐसा जो कहा जाता है सो वह उपचार मात्र है, यही बतलाते हैं—

अर्थ—जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबंध की पर्याय होती है, ऐसा देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं ॥११२॥

टीका—जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं जैसे निमित्त रूप से बादलों का विस्तार अथवा चाँद-सूर्य का परिवेष आदि के योग्य काल होने पर पानी का बरसना और इन्द्रधनुष आदि में परिणत पुद्गलों का परिणाम होता देखा जाता है, वैसे ही परम-उपेक्षा संयम भाव से परिणत अभेदरत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने पर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप में परिणत जीव के होने पर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्य-कर्म बंधमय परिणाम -पर्याय को देखकर **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण** कर्म जीव के द्वारा किये गये हैं ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ—उप समीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरणं प्रवर्तनं उपचारः इस निरुक्ति के अनुसार उपचार का अर्थ प्रेरणा होता है जैसे महाभारत में कौरवों के साथ युद्ध तो

अज्ञानि का विकृत भाव निमित्त होता, तो आप पुद्गल अहो ! विधिरूप होता ।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से, माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जप्पदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जप्पदे लोगो यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः । **तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादिकर्म जीवेनेति । ततः स्थितमेतत् । यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि ॥११३॥

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥११४॥

अनादिबन्धपर्यायवशेन वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति बध्नाति परिणमयति गृह्णातीति

अर्जुन ने किया किन्तु इसके समर्थक श्री कृष्ण नारायण रहे, उनकी प्रेरणा से ही उसने कौरवों से युद्ध किया । इसी प्रकार कर्मवर्गणाएं जो कर्म रूप बनती हैं वे सब रागी-द्वेषी संसारी आत्मा की प्रेरणा से बनती हैं न कि स्वयं ।

इसी बात को आचार्यदेव स्वयं उदाहरण देकर समझाते हैं—

अर्थ—योद्धाओं के द्वारा किए हुए युद्ध को लोक जिस प्रकार व्यवहार से राजा का किया हुआ कहा करते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के किये हुए हैं ऐसा कहना भी व्यवहार से है ॥११३॥

टीका—जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जप्पदे लोगो जैसे योद्धाओं के द्वारा किये हुए युद्ध को लोग राजा के द्वारा किया हुआ कहा करते हैं,**तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** वैसे ही ज्ञानावरणादि-कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं, यह व्यवहारनय से कहा जाता है । अतः यह बात निश्चित हुई कि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववाला है इस कारण यह न तो किसी को उपजाता है, न करता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण ही करता है ॥ ११३ ॥

अर्थ—व्यवहारनय का यह कहना है कि आत्मा पुद्गलद्रव्यरूपकर्म को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है ॥११४॥

टीका—अनादिकालीन-बंधपर्याय के वशवर्तीपने से वीतराग-स्वसंवेदन-लक्षणवाले भेदज्ञान के न होने के कारण रागादि-परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्मवर्गणा-योग्य-पुद्गलद्रव्य को द्रव्यकर्म के रूप में उत्पन्न करता है जैसे कि कुम्हार घड़े को उत्पन्न करता है ।

लो युद्ध यद्यपि सुसैनिक ने किया है, लोकोपचार वह भूपति ने किया है ।
दुष्टाष्ट कर्मदल को जड़ ने बनाया, पै मानना विकृत आतम ने बनाया ॥११३॥

स्वीकारता परिणमा करता कराता, आत्मा सबंध पर पुद्गल को उगाता ।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है, जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११४॥

व्यवहारनयस्याभिप्रायेण वक्तव्यं व्याख्येयमिति। अथवा उत्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति स्थितिबन्धं बध्नात्यनुभागबन्धं परिणमयति प्रदेशबन्धं तप्तायःपिण्डो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्रायः ॥११४॥

अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥११५॥

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषनिर्दोषजनानां दोषगुणोत्पादको भणितः। **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** तथा जीवोऽपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः। इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्। एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः ॥११५॥

ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति ? नैवं, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः। तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। इति पुण्यपा-

---

द्रव्यकर्मों को करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता है ऐसा व्यवहारनय का अभिप्राय है। अथवा प्रकृतिबंध को पैदा करता है, स्थितिबंध को करता है, अनुभागबंध को बाँधता है व प्रदेशबंध को परिणमाता है। जैसे गर्म किया हुआ लोहे का गोला अपने सम्पूर्ण प्रदेशों से जल ग्रहण करता है वैसे ही रागी आत्मा अपने सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से प्रदेशबंध को ग्रहण करता है ऐसा अभिप्राय है ॥ ११४ ॥

अब इस ही व्याख्यान को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं—

अर्थ—व्यवहार में कहा जाता है कि प्रजा में दोष और गुणों को पैदा करने वाला राजा होता है, वैसे ही यह कहना व्यवहार से है कि पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप गुण को उत्पन्न करने वाला जीव होता है ॥११५॥

टीका—**जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो** जैसे व्यवहार से प्रजा में होने वाले सदोष और निर्दोष लोगों के दोष और गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है, **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में पुण्य-पापरूप गुणों का उत्पादक जीव होता है यह भी व्यवहारनय से कहा गया है। इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यतासे चार गाथायें कही गईं ॥ ११५ ॥

इस प्रकार द्विक्रियावादी के निराकरण के उपसंहार की मुख्यता से ग्यारह गाथायें पूर्ण हुईं।

यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्म को नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान बहुत बार किया है, उसी से द्विक्रियावादी का निराकरण अपने-आप हो जाता है, फिर यह व्याख्यान करके पिष्टपेषण क्यों किया ? आचार्य समाधान करते हैं कि—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि निश्चयनय में और द्विक्रियावादीपने में हेतुभाव और हेतुमद्भाव को बतलाने के लिए ऐसा किया है। निश्चय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं है इसी हेतु से द्विक्रियावादीपने

राजा गुणी अवगुणी करता प्रजा को, वो पूर्ण सत्य व्यवहार, नहीं मजा-को ।
आत्मा करे विधिमयी जड़द्रव्य को है, ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११५॥

हेतु हेतुमद्भाव का यह अर्थ है कि जिस कारण से वीतराग है उस ही कारण

पादिसप्तपदार्थपीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण **जदि पुग्गलकम्ममिणं**[1] इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेप-व्याख्यानम् । ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोऽप्येकादशगाथाभिस्तस्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोन्तराधिकारः समाप्तः । अथानन्तरं **सामण्णपच्चया** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्तं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्व-मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयम् । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छन्त्येकान्तेन जीवो न करोतीति वदन्ति सांख्यमतानुसारिणः तान्प्रति दूषणं ददाति । कथमिति चेत् ? यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणम् । अथवा तेषां मते जीव एकान्तेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणम् । तदनतरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयम् । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छन्ति तान्प्रति पुनरपि दूषणम् । कथमिति चेत् ? जीवप्रत्यययोरेकान्तेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणम् । एकान्तेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति । चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—

का निराकरण भी सिद्ध है, इस प्रकार इनमें परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव है ।

इस प्रकार पुण्य-पापादि सातपदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से **जदि पुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि दो गाथाओं में संक्षेप व्याख्यान किया है । इसके पश्चात् १२ गाथाओं से उसका विशेष व्याख्यान है । तत्पश्चात् ११ गाथाओं से उपसंहार करते हुए उसी का विशेष विवरण है इस प्रकार समुदायरूप से २५ गाथाओं से यह द्विक्रियावादी का निषेधरूप तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

अथानंतर **सामण्णपच्चया** इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठ्यक्रम से सात-गाथाओं पर्यन्त मूलप्रत्यय चतुष्टय को कर्म का कर्त्ता बताने की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं । इन सातगाथाओं में से चारगाथाओं में यह बताया गया है कि जैनमत में शुद्ध-उपादान वाले शुद्ध-निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वादि चार-प्रत्यय ही कर्म के कर्त्ता हैं । अथवा यों कहो कि जो लोग शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा न करके एकांत से ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है उन सांख्यमतानुयायिओं के प्रति दूषण दिया गया है कि यदि मिथ्यात्वादि-प्रत्यय ही कर्म के कर्त्ता हैं तो जीव उन कर्मों का वेदक भी नहीं होना चाहिए, यह एक मोटा दूषण आयगा । अथवा इसके मत में एकान्त से जब जीव कर्म नहीं करता है तो कौन करता है ? ऐसा यह दूसरा दूषण है । इसके पश्चात् यह बतलाया है कि जैनमत में शुद्ध-उपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से जब विचार करें तो जीव और मिथ्यात्वादि-प्रत्यय इन दोनों में एकता नहीं, किन्तु वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाएँ हैं । अथवा जो लोग पूर्वोक्त रीति से नय-विभाग नहीं मानते हैं उनको दूषण दिया है कि जीव और प्रत्यय इन दोनों में एकान्त से एकपना मानने पर जीव का अभाव हो जायगा यह एक दूषण हुआ और एकान्त से यदि भिन्नपना ही मान लें तो संसार का अभाव हो जाएगा वह भी ठीक नहीं है यह दूसरा दूषण है । यह चौथे अन्तर अधिकार की सामुदायिक-पातनिका हुई ।

---

[1] अत्र सर्वासु प्रतिषु 'जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज' इत्यसम्यक् पाठो विद्यते ।

निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कर्मकुर्वन्तीति प्रतिपादयति—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥११८॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११९॥ (चतुष्कम्)

सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता भेद-विवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बन्धस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो

यहाँ सबसे पहले यह बताया जाता है कि निश्चयनय से मिथ्यात्वादि-पौद्गलिक-प्रत्यय ही कर्म को करते हैं।

अर्थ—वास्तव में सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं ये बंध के करने वाले कहे गये हैं। उनके उत्तर भेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोगकेवली पर्यंत गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के हो जाते हैं। ये गुणस्थान या प्रत्यय निश्चयदृष्टि में अचेतन हैं क्योंकि वे सभी पौद्गलिककर्म के उदय से होते हैं। और जब वे कर्म को करते हैं तो फिर उनका भोक्ता भी आत्मा नहीं होता है। और जब कि ये गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्म को करते हैं तब फिर जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, ये गुणस्थान ही कर्म के करने वाले हैं ॥११६-११९॥

टीका—सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो निश्चयनय से अभेद-विवक्षा में तो एक पुद्गल ही कर्मों का कर्त्ता है और भेद-विवक्षा में सामान्य मूल-प्रत्यय चार हैं जो कि बंध करने वाले हैं ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। उत्तर-प्रत्यय तो बहुत हैं। विवक्षा का न होना यहाँ पर

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता, निम्नोक्त हैं दुखद हैं शुचि-भाव-हर्त्ता ।
मिथ्यात्व और अविरती कुकषाय योग, ज्यों ये मिटे नियम से भव का वियोग ॥११६॥
मिथ्यात्व लेकर सयोगि सुकेवली लों, ये हैं विभेद उनके दस तीन भी लो !
ये दीन जीव गुणथानन, में पड़े हैं, स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे हैं ॥११७॥
मिथ्यात्व आदि गुण पुद्गल से बने हैं, सारे अचेतन निकेतन ही तने हैं ।
ये कर्म को कर रहे यदि हों तथापि, आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥
निर्भ्रान्त ! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले, दुष्टाष्ट कर्म करते मन को विदारे ।
ज्ञाता विशुद्ध नय से, निजधर्म धर्ता, कर्त्ता न आतम रहा गुण, कर्म-कर्त्ता ॥११९॥

भवन्ति । सामान्यं कोऽर्थः ? विवक्षाया अभावः सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति । **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः ।

अथ— **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो** तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरयं भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः । केन प्रकारेण ? **मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादि-सयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति ।

अथ—**एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा** एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटम् । कस्मात् ? पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः । पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति । एतावता किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत् ? पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात् ।

सामान्य शब्द का अर्थ है –यह सामान्य व्याख्यान के काल में सब स्थान पर लगाया जा सकता है । **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** सामान्यप्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन नाम वाले हैं । **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो** उन्हीं प्रत्ययों के उत्तर-भेद गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के बताये गये हैं जो कि **मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि लेकर अंतिम-सयोगी-गुणस्थान तक हैं । **एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा** ये सभी मिथ्यात्वादि-प्रत्यय द्रव्यरूप-प्रत्यय तो अचेतन हैं किन्तु मिथ्यात्वादिभाव-प्रत्यय भी शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा में अचेतन ही हैं, क्योंकि ये सभी पौद्गलिककर्म के उदय से होने वाले हैं । जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनों के सहयोग से होता है । अतः विवक्षा-वश से माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं, दूसरे पिता की अपेक्षा से यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं । परन्तु इस कथन में कोई दोष नहीं है क्योंकि विवक्षा-भेद से दोनों ही ठीक हैं । वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व-रागादिरूप जो भाव-प्रत्यय हैं वे अशुद्ध-उपादानरूप अशुद्धनिश्चयनय से चेतन हैं क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्धउपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं क्योंकि पौद्गलिककर्म के उदय से हुए हैं । किन्तु वस्तु-स्थिति में ये सभी एकांत से न जीवरूप ही हैं और न पुद्गल ही हैं, किन्तु चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुई कुंकुम के समान ये प्रत्यय भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने वाले संयोगीभाव हैं । और जब गहराई से सोचें तो सूक्ष्मरूप-शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में इनका अस्तित्त्व ही नहीं है क्योंकि ये अज्ञान द्वारा उत्पन्न हैं अतएव कल्पित हैं । इस सब कथन का सार यह है कि जो एकांत से रागादिकों को जीव-संबंधी कहते हैं अथवा जो इनको पुद्गल-संबंधी कहते हैं उन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सभी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं जैसे, पहले स्त्री और पुरुष के संयोग से पैदा हुए पुत्र के दृष्टांत द्वारा बताया जा चुका है ।

अथमतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति। **'ते जदि करंति कम्मं'** ते प्रत्यया यदि चेत्। कुर्वन्ति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात्।

अथमतम् जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति नैवं, **णवि तेसिं वेदगो आदा** यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोऽपि न **हि** तेषां कर्मणाम्। यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथं भविष्यति न कथमपि इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव। अथवा ये पुनरेकान्तेनाकर्त्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणम्। कथमिति चेत्। यदैकान्तेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति। ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणम्। तेषां मते वेदकोऽपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणम्। अथ च वेदकमात्मानं मन्यन्ते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणम् प्राप्नोतीति।

अथ—**गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा** ततः स्थितं गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितम्। **तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीवः कर्ता न भवति। गुणस्थानसंज्ञिता प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव। एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतम् ॥११६-११९॥

यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्मरूप-शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ये किसके हैं तो इसका उत्तर तो हम पहले ही दे चुके हैं कि सूक्ष्म-रूप-शुद्धनिश्चयनय में तो इन सबका अस्तित्व ही नहीं है। **ते जदि करंति कम्मं** ये मिथ्यात्वादि- प्रत्यय ही कर्म करते हैं तो करते रहें इसमें क्या हानि-लाभ है, कुछ नहीं ऐसा शुद्धनिश्चयनय के द्वारा सम्मत ही है क्योंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्धनय की दृष्टि में सब शुद्ध हैं ऐसा आर्ष वचन है। यदि यहाँ कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व और रागादिरूप-भाव कर्म को भोगता रहता है, अतः उनका कर्त्ता भी है ऐसा मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि **णवि तेसिं वेदगो आदा** शुद्ध-निश्चयनय की विवक्षा में आत्मा कर्मों का वेदक भी नहीं है और जब वेदक ही नहीं तब कर्त्ता कैसे हो सकता है--कभी नहीं हो सकता, ऐसा शुद्ध निश्चयनय का मत है। इस उपर्युक्त बात को लेकर जो लोग आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता ही कहते हैं उनके प्रति यह दोष अवश्य है कि यदि आत्मा सर्वथा अकर्त्ता ही है तब तो शुद्धनिश्चयनय से जैसे अकर्ता हुआ, वैसे व्यवहार से भी अकर्ता हुआ और इस प्रकार सर्वथा अकर्त्तापन होने पर संसार का अभाव हुआ, जो कि एक बड़ा भारी दूषण है। तथा उनके मत में आत्मा कर्त्ता नहीं है तो कर्मों का वेदक भी नहीं हो सकता यह दूसरा दूषण है। इस प्रकार आत्मा को केवल वेदक मानने वाले जो सांख्य लोग हैं उनके लिए स्वमत-व्याघात रूप दूषण है। **गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा** इसलिये गुणस्थान ही है संज्ञा जिनकी ऐसे प्रत्यय ही कर्म करते हैं जैसा कि पूर्व सूत्र में बताया है। **तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** अतः यह कहना ठीक ही है कि शुद्ध-निश्चयनय से इन कर्मों का कर्त्ता जीव नहीं है अपितु गुणस्थान-नाम वाले प्रत्यय ही कर्म करते हैं। इस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से कर्म करने वाले प्रत्यय ही हैं इसके व्याख्यान में चार गाथायें हुईं ॥११६-११९॥

विशेषार्थ—अशुद्ध-निश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है अतः उसकी दृष्टि में रागादिक-भाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं इसलिये चेतन ही हैं। किन्तु शुद्ध-निश्चयनय आत्मा को

अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकान्तेनेति कथयति—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥१२०॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥१२१॥

अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥१२२॥

जह जीवस्स अणण्णुवओगो यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः । कस्मात् ? अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् **कोहो वि तह जदि अणण्णो** तथा क्रोधोऽपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन । तदा किं

शुद्ध देखता है तो वहाँ रागादिक भाव होते ही नहीं हैं अतः उसकी दृष्टि में रागादि भावकर्म के उदय से होते हैं इसलिये वे पौद्गलिक हैं और अचेतन हैं। किन्तु सूक्ष्म-शुद्ध निश्चयनय से तो जिस प्रकार आत्मा शुद्ध है उसी प्रकार पुद्गल भी शुद्ध-परमाणुरूप है अतः वहाँ कर्म कोई भी वस्तु नहीं है फिर उनके उदय से रागद्वेष कैसे हो सकते हैं। इसलिये इसकी दृष्टि में रागादिक-भाव न तो जीवकृत चेतन हैं और न पौद्गलिक कर्मकृत अचेतन ही हैं किन्तु स्वप्न के समान काल्पनिक ही हैं जो कि जीव की अज्ञान दशा में होते हैं। यहाँ पर आचार्यदेव के कहने का यह भाव है कि जीव को रागादि के वश में न होकर, इन्हें ही दूर करना चाहिये जो कि केवल मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के वश से होने वाले हैं।

आगे कहते हैं कि एकांत से जीव और प्रत्ययों में एकपना नहीं है--

अर्थ—जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञानदर्शनोपयोग की एकता है उसी प्रकार क्रोधादि भी जीव के साथ एकमेक हों तो जीव और अजीव में नियम से एकपना हो जायेगा, कोई भेद नहीं रहेगा। क्योंकि जैसा जीव वैसा ही अजीव दोनों सर्वथा एक ही रहेंगे, तब यह दोष आयेगा कि देहादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा मिथ्यात्वादि भावकर्म के साथ इस जीव की एकता हो जायेगी। इस दोष से बचने के लिये ऐसा मानना चाहिये कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान् आत्मा अन्य है। तो जैसे आत्मा से क्रोध अन्य है उसी प्रकार इतर सब प्रत्यय भी तथा कर्म और नोकर्म भी आत्मा के अन्य ही हैं ॥१२०-१२२॥

टीका—जह जीवस्स अणण्णुवओगो जैसे ज्ञान-दर्शनरूपोपयोग जीव से तन्मय है क्योंकि

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा, है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा ।
तो एक मेक सब जीव–अजीव होंगे, ये बंध मोक्ष फिर तो सब साफ होंगे ॥१२०॥
हो क्रोध आत्ममय ज्यों उपयोग भाता, आत्मा अनात्म जड़ में ढल पूर्ण जाता ।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा, आत्मीय हो फिर नहीं भव का किनारा ॥१२१॥
पूर्वोक्त दोष भय से यदि मित्र मानो, है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो ।
बाधा रही न फिर तो अति भिन्न न्यारे, शुद्धात्म से जडमयी विधि कार्य सारे ॥१२२॥

दूषणं ? **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** एवमभेदे सति सहजशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्व-मापन्नमिति ।

अथ— **एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो** एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवोः भवति नियमान्निश्चयात् । तथा सति जीवाभावाद्, दूषणं प्राप्नोति । **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** अयमेव च दोषो जीवाभावरूपः । कस्मिन् सति ? एकान्तेन निरञ्जनचिदानन्दैक-लक्षणजीवेन सहैकत्वे सति । केषाम् ? मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति ।

अत्र प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति । **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात् । **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं** यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्न-स्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मत एव । किं च, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभि-न्नत्वं च लभ्यत एव । कस्मात् निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात् । कथमिति चेत् यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति । ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवम-तानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि ।

अग्नि से उष्णता के समान वह आत्मा के साथ अनन्य ही देखने में आता है, कभी किसी भी प्रकार उससे पृथक् देखने में नहीं आता । **कोहो वि तह जदि अणण्णो** उसी प्रकार यदि एकान्त से क्रोध को भी जीव के साथ अनन्य ही मान लिया जायेगा तो **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्त-मावण्णं** ऐसा मान लेने पर सहज-शुद्ध-अखण्ड-ज्ञान-दर्शन-उपयोग वाला जीव और अजीव ये दोनों एक हो जायेंगे । **एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तह अजीवो** इस प्रकार जो जीव है वही नियम से अजीव समझा जायेगा अर्थात् फिर जीव का अभाव ठहरेगा, यह बड़ा दूषण आयेगा । **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** और वही जीवाभाव रूप दोष एकांत रूप से निरंजन-चिदानन्द रूप-लक्षण वाले जीव के साथ मिथ्यात्वादि-प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म एकमेक मानने में होंगे । यहाँ प्राकृत भाषा के कारण प्रत्यय शब्द ह्रस्व आया है । **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अब जब पूर्वोक्त दोष से बचने के लिये क्रोध को जीव से भिन्न मानोगे और क्रोध से विशुद्ध-दर्शन-ज्ञानमय आत्मा को भिन्न मानोगे, तो **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं** जड़ रूप-क्रोध जिस प्रकार निर्मल-चैतन्य-स्वभावमय जीव से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से भिन्न हैं ऐसा शुद्ध-निश्चयनय से मानना ही चाहिये । इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव को अकर्त्ता और अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न बताने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से जीव का कर्त्तापन, भोक्तापन और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी अपने आप आ जाता है । क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों में परस्पर सापेक्षपना है । जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त अपनी दाहिनी आंख से देखता है, तब ऐसा कहने में यह बात भी अपने-आप आ जाती है कि वह बांई आंख से नहीं देखता । हां, सांख्य या सदाशिव मतानुयायी लोग इस प्रकार के परस्पर-सापेक्ष नय-विभाग को नहीं मानते हैं । अतः उनके मत में जिस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से जीव कर्त्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहार से भी वह

ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धभावः कर्मबन्धाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति, स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति । एवं प्रत्ययजीवयोरेकान्तेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्राह शिष्यः, शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति ? नैवं रागादिभावकर्मणां योसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थं । कथं तारतम्यमिति चेत् द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव । यतः कारणादशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अयमत्र भावार्थः द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति । एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥१२०-१२२॥ अतः परं **जीवे ण सयं बद्धं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यन्तं सांख्यमतानुसारिशिष्यसम्बोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकान्तेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथञ्चित् परिणामित्वं स्थापयति । तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । तदनन्तरं

अकर्त्ता और क्रोधादिक से भिन्न ही ठहरता है, ऐसी दशा में जीव का क्रोधादि रूप-परिणमन न होने पर जिस प्रकार सिद्धों को कर्म बंध नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी जीव को कर्मबंध नहीं होना चाहिये । कर्मबन्ध न होने से संसार का अभाव और उसके अभाव से सदा ही मुक्तपने का प्रसंग प्राप्त होता है, जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है क्योंकि संसार तो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है । इस प्रकार प्रत्यय और जीव दोनों में एकान्त रूप से एकता मानने का निराकरण तीन गाथाओं में किया ।

यहाँ शिष्य शंका करता है कि आपने ऐसा बहुत बार कहा है कि शुद्ध-निश्चयनय से जीव अकर्त्ता है किन्तु व्यवहारनय से कर्त्ता भी है । तब आपके कहने से जीव व्यवहारनय से जिस प्रकार द्रव्य-कर्मों का कर्त्ता है उसी प्रकार रागादि-भावकर्मों का भी कर्त्ता है । तब द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों एक हो जायेंगे । आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है अपितु दोनों एक न होकर भिन्न हैं । इस भेद को बताने के लिये ही रागादि-भावकर्मों का कर्त्तापना बताने वाले व्यवहारनय की अशुद्ध-निश्चयनय संज्ञा है जो द्रव्यकर्म और भावकर्मों में तारतम्य-रूप से भेद स्थापन करता है । जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-कर्म तो अचेतन जड़ हैं जब कि भाव-कर्म विकारमय चेतन-रूप हैं तथापि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से इन भावकर्मों को अचेतन ही कहते हैं क्योंकि यह अशुद्ध-निश्चयनय भी शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार की कोटि में ही गिना जाता है । तात्पर्य यह है कि द्रव्य-कर्मों का कर्त्तापन और भोक्तापन जीव में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है किन्तु रागादि-भावकर्मों का कर्त्तापन और भोक्तापन अशुद्ध-निश्चयनय से है जो कि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है । इस प्रकार पुण्य-पापादि सातपदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में सात गाथाओं से चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥१२०-१२२॥

अब इसके आगे **जीवे ण सयं बद्धं** इत्यादि गाथा को आदि लेकर आठ गाथाओं पर्यंत सांख्य-मतानुसारी शिष्य को समझने के लिये जीव और पुद्गल के एकान्त से अपरिणामीपन का निषेध करते हुए इनमें किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं । इन आठ गाथाओं में पुद्गल के

जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापञ्चकमिति पञ्चमस्थले समुदायपातनिका ।

अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति —

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥१२३॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमं तं कहं तु परिणामयदि णाणी[1] ॥१२५॥ (त्रिकलम्)

परिणामीपने की मुख्यता से तीन गाथायें हैं । तत्पश्चात् जीव के परिणामीपने की मुख्या से पाँच गाथाएँ हैं । इस प्रकार पाँचवें स्थल में समुदाय पातनिका है ।

अब वहाँ सांख्यमतानुयायी शिष्य को लक्ष्य में लेकर पुद्गल के कथंचित् परिणामी स्वभावपने को सिद्ध करते हैं–

अर्थ– पुद्गलद्रव्य जीव में न तो आप बंधा ही है और न कर्म के रूप में ही परिणमा है यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरेगा । कर्मवर्गणाएँ स्वयं कर्म रूप से नहीं परिणमती हैं यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो फिर संसार का अभाव ठहरेगा और सांख्यमत का प्रसंग आयेगा । यदि ऐसा माना जायेगा कि पुद्गल द्रव्यों को जीव [हठपूर्वक] कर्मरूप में परिणमाता है तो वहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब पुदगलद्रव्य स्वयं अपरिणामी है तब जीव उसको कैसे परिणमा सकता है ? ॥१२३-१२५॥

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है, वो कर्म रूप ढलता न स्वयं सदा है ।
ऐसा त्वदीय मन का यदि भाव होगा, तो मित्र पुद्गल नहीं परिणामि होगा ॥१२३॥
किंवा स्वयं न ढलती विधिवर्गणायें, कर्मत्व में सहज पुद्गल की घटायें ।
साम्राज्य सांख्य मत का फिर तो चलेगा, संसार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥
आत्मा स्वयं परिणमाकर पुद्गलों को, देता बना विधि, मनो ! विधि शक्तियों को ।
आश्चर्य है ! जड़ नहीं परिणामि वैसे !! आत्मा उन्हें परिणमा सकता हि कैसे ?॥१२५॥

---

[1] **अहं सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।**
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥१॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणादिपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥२॥

अर्थ—यह माने कि पुदगल-द्रव्य स्वयं ही कर्मभाव से परिणमन करता है तो जीव कर्मयोग्य पुद्गल को कर्मरूप परिणमाता है—यह कहना मिथ्या सिद्ध हो जायेगा इसलिए जैसे नियम से कर्मरूप—कर्त्ता के कार्यरूप से परिणत पुद्गल द्रव्यकर्म ही है, इसी प्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित पुद्गल-द्रव्य-ज्ञानावरणादि ही है, ऐसा जानो ॥१-२॥

जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्धं नास्ति। कस्मात् ? सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात्। **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति। कस्मात् ? सर्वथा नित्यत्वात्। **जदि पुग्गलदव्वमिण** एवमित्थम्भूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवतां सांख्यमतानुसारिणां। **अप्परिणामी तदा होदि** ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति। ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति? अथ—**कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण** कार्मणवर्गणाभिरपरिणमन्तीभिःकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा। **संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा** संसारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य,सांख्यसमयवदिति। अथमतं। **जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** जीवः कर्त्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि। ज्ञानावरणादिकर्मभावेण द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् ? **तं सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावदपरिणममानं परिणामयति न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। यथा जपापुष्पादिकं कर्तृस्फटिके जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादौ किं न जनयतीति ? अथैकान्तेन परिणममानं परिणामयति, तदपि न घटते। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते तर्हि जीवं निमित्तकर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु। तथा च सति किं दूषणं ? घटपटस्तम्भादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात्। स च प्रत्यक्षविरोधः। ततः

टीका—जीवे ण सयं बद्धं पुद्गल-द्रव्यरूप-कर्म अधिकरणभूत जीव में न तो स्वयं बद्ध है क्योंकि जीव तो सदा शुद्ध है और **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** अपने-आप कर्म-रूप से भी अर्थात् द्रव्यकर्म के पर्याय-रूप से भी नहीं परिणमता है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य भी सदा नित्य है। **जदि पुग्गलदव्वमिणं** यदि इस प्रकार पुद्गलद्रव्य को माना जायेगा तो **अप्परिणामी तदा होदि** सांख्यमतवालों के मत से यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही हुआ। ऐसी दशा में **कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण** कार्मण-वर्गणाओं के ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म रूप नहीं परिणमन करने पर **संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा** इस संसार का सांख्यमत के समान अभाव प्राप्त हो जायेगा। **जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** यदि ऐसा कहा जाय कि जीव हठात् कर्मवर्गणा-योग्य-पुद्गल द्रव्यों को ज्ञानावरणादि-कर्मरूप से परिणमा लेता है अतः संसार का अभाव नहीं होगा, **तं सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी** तो वहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव जो स्वयं अपरिणमनशील है वह उस पुद्गलद्रव्य को जो परिणमाता है वह नहीं परिणमन करते हुए को परिणमाता है या परिणमन करते हुए को ? यदि कहा जाये कि नहीं परिणमते हुए को परिणमाता है सो यह तो बन नहीं सकती क्योंकि जहाँ जो शक्ति स्वयं में नहीं है वहाँ वह शक्ति दूसरे द्वारा भी नहीं की जा सकती, यह अटल नियम है। जैसे जपा-पुष्पादिक स्फटिक-मणि में उपाधि को पैदा कर सकते है, वैसे काष्ठ के खंभे आदि में नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें वैसी शक्ति नहीं है। यदि कहा जाये कि एकान्त रूप से परिणमन करते हुए को ही परिणमाता है तो यह

है कर्म-रूप ढलता जड़ द्रव्य आप, हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप।
आत्मा स्वयं विधिमयी जड़ को बनाता, यों मानना फिर असत्य न सत्य भाता ॥१॥
निष्कर्ष चूँकि निकला विधिवर्गणायें, हैं कर्म रूप ढलती जड़ शक्तियाँ ये।
है अष्टकर्म सब पुद्गलशील वाले, विश्वास ईदृश अतः मन में जमा ले ॥२॥

स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथञ्चित्परिणामित्वशक्तिः, तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता । यं स्वस्य सम्बन्धिनं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य च एवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिण्डमिव न च जीवः, स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदम् । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं । भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति । एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः । इति शब्दनयमतागमभावार्थव्याख्यानकाले यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणाम स्थापनामुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१२३-१२५॥

अथ सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति—

कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु में जो शक्तियाँ होती हैं वे अपने परिणमन में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं ऐसा नियम है। अतः जबकि पुद्गल को स्वयं परिणमन करते रहना चाहिए, ऐसी दशा में फिर कार्मणवर्गणायें जिस प्रकार ज्ञानावरणादि-कर्म के रूप में परिणमन करती हैं वैसे ही घटपटादि-रूप-पुद्गल भी कर्मरूप में परिणमन करें यह प्रत्यक्ष-विरोधरूप दूषण आयेगा। अतः यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलों में कथंचित् परिणमने की शक्ति सहज-स्वभाव से है। जब उनमें यह शक्ति है तो उसका कर्त्ता स्वयं पुद्गल ही है। इस प्रकार अपने सम्बन्धी ज्ञानावरणादि-द्रव्य-कर्म उनमें जिस परिणाम को करता है उसका उपादान पुद्गल ही होता है, जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों का उपादान जीव नहीं है। जीव तो उसका निमित्त कारण मात्र है जो कि हेय-तत्त्व है अर्थात् जीव का जो भाव, कर्मों का निमित्त कारण होता है वह भी आस्रवरूप होने से हेय तत्त्व है, उपादेय रूप तत्त्व तो शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से निज-शुद्धात्मा ही है जो उस उपर्युक्त पुद्गल से भिन्न एवं शुद्ध-परमात्मभावना-रूप में परिणत ऐसा अभेद-रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानने योग्य है और चिदानन्द रूप एक-स्वभाववाला है। हाँ, इस अभेद-रत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से भेद-रत्नत्रय भी उपादेय है। इस प्रकार तीन गाथाओं के शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ जानना चाहिए, व्यवहार-निश्चयनयरूप से नयार्थ को भी जानना चाहिए। सांख्य के लिए मतार्थ का व्याख्यान हुआ। इस प्रकार शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पाँच अर्थों से कथन किया, यह व्याख्यानकाल में यथासंभव सर्व ही ठिकाने जानते रहना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल को परिणमन-शील बताने के रूप में तीन गाथाओं का व्याख्यान हुआ ॥१२३-१२४॥

अब सांख्य मतानुसारी-शिष्य को समझाते हुए जीव को भी कथंचित् परिणामी सिद्ध करने के लिए कहते हैं—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ।।१२६।।
अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।१२७।।
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं ।।१२८।।
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहोत्तमिदि मिच्छा ।।१२९।।
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ।।१३०।। (पञ्चकम्)

अर्थ—उसी सांख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तेरे विचार में यह जीव कर्मों से स्वयं बद्ध नहीं है और क्रोधादिभावों से भी आप परिणमन नहीं करता है तो वह अपरिणामी हुआ। इस प्रकार जीव के अपरिणामी होने पर क्रोधादिकरूप से जीव के स्वयं परिणमन न करने पर संसार के अभाव का प्रसंग आवेगा तब सांख्यमत का कहना हो जायेगा। यदि ऐसा कहा जाय कि क्रोधरूप जो पुद्गलकर्म हैं वह जीव को क्रोधरूप में परिणमा देता है तब यहाँ ऐसा विचार आता है कि वह पुद्गलकर्म स्वयं न परिणमन करते हुए जीव को क्रोधरूप में कैसे परिणमा सकता है ? कभी नहीं परिणमा सकता। यदि ऐसा कहो कि आत्मा स्वयं ही क्रोधरूप में परिणमन करता है तब पहले वाला कहना कि क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप में परिणमाता है यह असत्य ठहरेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् इस आत्मा का उपयोग क्रोधरूप में परिणमन करता है, तब आत्मा ही क्रोधरूप होता है, मान से उपयुक्त होता हुआ मानरूप. माया से उपयुक्त होता हुआ मायारूप और लोभ से उपयुक्त होता हुआ स्वयं लोभरूप होता है ।।१२६-१३०।।

आत्मा स्वयं यदि नहीं विधि से बँधा है, क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं सदा है ।
तू मानता इस विधी कर बोध आत्मा, तो क्यों न हो अपरिणामी त्वदीय आत्मा ।।१२६।।
किंवा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा, क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं दुरात्मा ।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा, साम्राज्य सांख्य मत का सहसा चलेगा ।।१२७।।
मानो कि क्रोध खुद, पुद्गल को सुहाता, क्रोधाभिभूत यदि आत्मा को बनाता ।
आत्मा रहा अपरिणामि तथापि कैसा ? क्रोधी उसे कि, वह क्रोध बनाय कैसा ?।।१२८।।
क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप, हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
तो क्रोध, क्रोधमय-आसम को बनाता, यो मानता फिर असत्य न सत्य गाथा ।।१२९।।
आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी, मानी तभी जब करे अघ मान को भी ।
मायाभिभूत बनता कर निद्य माया, क्रोधी बने करत क्रोध स्व को भुलाया ।।१३०।।

ण सयं बद्धो कम्मे स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकान्तेन बद्धो नास्ति, सदा मुक्तत्वात् । **ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं** न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मादेकान्तेनापरिणामित्वात् । **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभिप्राये णेत्थम्भूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ?

अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति हे शिष्य ! सांख्यसमयवत् । अथमतं **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्त्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् ? **तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं** अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणाममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् ? न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । न हि जपापुष्पादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयन्त्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादिष्वपि । अथैकान्तेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमन्तरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमन्तु । कस्मादिति चेत् ? न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्टमागमविरोधात । अथमतम् । **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः

टीका—ण सयं बद्धो कम्मे जीव स्वयं अपने भाव से अधिकरणभूत-कर्मों से बंधा हुआ नहीं है क्योंकि वह एकांत से सदा मुक्त है । **ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं** और वह जीव द्रव्यकर्म के उदय के बिना स्वयं भाव-क्रोधादिरूप से भी परिणमन नहीं करता है क्योंकि वह एकांत से अपरिणामी है । **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** इस प्रकार यह प्रत्यक्षरूप संसारी-जीव भी तेरे अभिप्राय से अपरिणामी हो हुआ, सदा एकसा रहने वाला हुआ । और सदा एक-सा मान लेने पर **अपरिणमंतेहि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं** उसका स्वयं क्रोधादिक-भावरूप से परिणमन न होने पर **संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा** सांख्यमत के अनुसार संसार का अभाव ठहरेगा । यदि यों कहें कि **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** उदय में आया हुआ पुद्गलमयी-द्रव्य-क्रोध हठात् इस जीव को भाव-क्रोधरूप में परिणमा देता है—क्रोधी बना देता है । यदि ऐसा माना जाएगा तो द्रव्यक्रोध **तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं** इस जीव को क्रोधरूप में न परिणमन करते हुए को क्रोधरूप से परिणमाता है या क्रोधरूप में परिणमन करते हुए को ? यदि कहो कि स्वयं क्रोध रूप में न परिणमन करते हुए को कोधरूप परिणमाता है तो यह बन नहीं सकता । क्योंकि जिसमें जो शक्ति नहीं है वह दूसरे के द्वारा कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती । देखो, जैसे जपा-पुष्पादिक का डांक स्फटिक आदि में विकार पैदा करता है वैसे काष्ठ के खम्भे आदिक में नहीं कर सकता । यदि एकान्त से यह कहा जाय कि स्वयं ही क्रोधादिक से परिणत होते हुए जीव को ही पौद्गलिक कर्म क्रोधादि रूप से परिणमाने वाला होता है तब तो उदयागत द्रव्य-क्रोधादिक के निमित्त बिना ही भाव-क्रोधादि रूप से जीव को परिणमन कर जाना चाहिए, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं किया करतीं ऐसा अटल नियम है । ऐसा होने पर कर्मोदय के बिना होने वाले भाव-क्रोधादिक विकार मुक्तात्मा में भी होने का प्रसंग आवेगा । जो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा आगम नहीं कहता । **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** और यदि पूर्वोक्त दूषण के भय से

हे शिष्य ! **कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा** तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवं भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थितं—घटाकारपरिणतो मृत्पिण्डपुद्गलः घट इव अग्निपरिणतोऽयःपिण्डोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति, मानोपयोगपरिणतो मानो भवति, मायोपयोगपरिणतो माया भवति, लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति । किं च विशेषः—**'जाव ण वेदि विसेसंतरं'** इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयोः संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाषट्कं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति घटन्ते । तस्यैव कथञ्चित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदम् । अथवा **सामण्णपच्चया खलु चउरो** इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एव शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वन्तीति न जीव इति जैनमतम् । एकान्तेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानामिव संसाराभावदूषणं तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदम् । कथमिति चेत् ? तत्रैकान्तेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणं । अत्र पुनरेकान्तेन परिणामित्वाभावे सति संसाराभावदूषणम् । यतः

हे भाई ! अगर तुम ऐसा कहो कि द्रव्यकर्मोदय की अपेक्षा के बिना ही जीव अपने आप भाव क्रोधादिरूप से परिणमन करता है तो **कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा** द्रव्यक्रोध जीव को भावक्रोधरूप से परिणमाता है, ऐसा जो तुमने ऊपर कहा है वह मिथ्या ठहरेगा । इससे यह बात आयी कि घटाकार रूप से परिणत मिट्टी के परमाणु ही जैसे घट है अथवा अग्निरूप में परिणत लोह पिण्ड ही स्वयं अग्नि हो जाता है वैसे ही **कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो** क्रोध उपयोग से परिणत आत्मा स्वयं क्रोध होता है, मान उपयोग से परिणत आत्मा मान होता है, माया उपयोग से परिणत आत्मा माया होता है और लोभ उपयोग से परिणत आत्मा लोभ होता है । इस प्रकार से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जीव की परिणमनशक्ति स्वभावभूत है । इस परिणमनशक्ति के रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणाम को करता है उस भाव का उपादान कर्त्ता वह स्वयं होता है, द्रव्यकर्म का उदय उसमें निमित्तमात्र ही है । और जब यह जीव निर्विकार चिच्चमत्कार रूप शुद्धभाव से परिणत होता है उस समय यह सिद्ध बन जाता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि 'जाव ण वेदि विसेसंतरं' इत्यादि रूप से अज्ञानी और ज्ञानी जीव का संक्षेप में व्याख्यान करते हुए पूर्व में जो छः गाथायें कहीं थीं, वहाँ बताया था कि पुण्यपापादि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के परस्पर संयोग रूप परिणाम से सम्पन्न होते हैं । इस प्रकार का कहना तब ही बन सकता है जब जीव और पुद्गल में कथंचित् परिणामीपना माना जावे, सो यहाँ उसी ही कथंचित् परिणामीपने का ही यह विशेष व्याख्यान है । अथवा **सामण्णपच्चया खलु चउरो** इत्यादि सात गाथाओं में जो पहले बताया था कि शुद्धनिश्चय से मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय ही नूतन कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव नहीं करता, ऐसा जैन मत है । इसको लेकर जीव को सर्वथा एकान्त रूप से अकर्ता ही मान लिया जाये तो सांख्यों की भाँति संसार के अभाव होने का प्रसंग आवेगा । उसी संसार अभाव रूप दूषण का यह विशेष विवरण है । क्योंकि वहाँ एकान्त रूप से अकर्ता मानने पर संसार अभाव का प्रसंग आया था और यहाँ एकान्त रूप से अपरिणामीपना

कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च भण्यते ॥१२६-१३०॥ इति जीवपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम्। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यान-मुख्यत्वेनाष्टगाथाभिः पञ्चमोन्तराधिकारः समाप्तः।

अथ—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि। अण्णाणी तावदु इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं, स चाज्ञानी जीवो यदा **विसयकसायुवगाढ** इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रव-बन्धपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति। यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मन्दोदये सति भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिरूपेण दानपूजादिना परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्त्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचितं। **जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि। णादं होदि विसेसंतरं तु** इत्यादिगाथाचतुष्टये ज्ञानीजीवस्वरूपं च संक्षेपेण सूचितम्। स च ज्ञानी जीवः

मानने पर भी संसार अभाव रूप दूषण है। क्योंकि भावकर्म रूप से परिणमन करना ही कर्तापन है और उसी का नाम भोक्तापना है ॥१२६-१३०॥

विशेषार्थ—इस भूतल पर जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ ऐसे हैं जो न तो सर्वथा नित्य अर्थात् जैसे हैं वैसे ही रहने वाले हैं और न सर्वथा अनित्य अर्थात् और के और हो जाने वाले भी नहीं हैं। कथंचित् परिणमनशील हैं, एक दूसरे के निमित्त से परिवर्तन करने वाले हैं। जैसे अग्नि का निमित्त पाकर घी पिघल जाता है और घी का निमित्त पाकर अग्नि की लौ भभक उठती है। उसी प्रकार पूर्व कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव रागद्वेषमय-विकारभाव को प्राप्त होता है, तो उसके विकारभाव का निमित्त पाकर पुद्गल-परमाणु कर्मरूप में परिणत होकर उसके साथ चिपकते रहते हैं जिससे कि यह जीव नर-नारकादिरूप अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है। हाँ, जब यह जीव उपर्युक्त निमित्तनैमित्तिक-भाव को छोड़कर राग-द्वेष रहित होता हुआ स्वस्थ हो जाता है तो उपर्युक्त जन्म-मरण के चक्कर से रहित होकर सदा के लिये सिद्ध या शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जीव का परिणामीपना सिद्ध करने के व्याख्यान की मुख्यता से ये पाँच गाथाएँ पूरी हुईं।

इस प्रकार पुण्य-पापादि रूप जो सातपदार्थ हैं उनकी पीठिकारूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से कथन करते हुए आठ-गाथाओं से यह पाँचवाँ अंतराधिकार समाप्त हुआ।

अब **जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि। अण्णाणी तावदु** इत्यादि दो गाथाओं से जो पहले अज्ञानी का स्वरूप बता चुके हैं, वही अज्ञानी जीव जब **विसयकसाओगाढ़** इत्यादि विषय-कषायमय-अशुभोपयोग में परिणत होता है तब तक पाप, आस्रव और बंध इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है, और जब वही अज्ञानी-जीव मिथ्यात्व और कषायों का मन्द उदय होने पर भोगों की इच्छारूप-निदानबन्धादिरूप से दान-पूजादिमय परिणमन करता है उस समय पुण्य-पदार्थ का भी कर्त्ता होता है। यह कथन संक्षेप में पहले सूचित किया है। इसके आगे **जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि। णादं होदि विसेसंतरं तु** इत्यादि चार गाथाओं में ज्ञानी जीव का स्वरूप भी पहले बता चुके हैं। वही ज्ञानी-जीव शुद्धोपयोगरूप से परिणत होने वाला

शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतराग-सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा सम्वरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वम् । निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थङ्करप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं । तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथञ्चित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव संक्षेपेण निरूपितम् । पुनश्च जीव-पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितम् । तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपेण सूचनार्थं संक्षेपव्याख्यानं कृतम् । इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते । न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति । किमर्थमिति चेत् ? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति । तत्र **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनन्तरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—

कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति—

अभेदरत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान रूप में जब परिणत होता है, तब निश्चयचारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला जो वीतराग-सम्यग्दर्शन उस रूप होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीनों पदार्थों का कर्त्ता होता है । ऐसा संक्षेप में पहले बता चुके हैं । किन्तु निश्चयसम्यक्त्व के अभाव में जब वह सराग-सम्यक्त्व के रूप में परिणत रहता है उस समय शुद्धात्मा को उपादेय मानकर परंपरा से निर्वाण के लिए कारण ऐसे तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्यपदार्थ का कर्त्ता भी होता है यह भी पहले कह चुके हैं । ये सब बातें जीव और पुद्गल इन दोनों में कथंचित् परिणामीपना होने पर ही हो सकती हैं । यह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्यपापादि सातपदार्थों के संक्षेप में वर्णन की सूचना के लिए पहले संक्षेप में कह चुके हैं । जिसका विशेष व्याख्यान फिर जीव और पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान के काल में किया है । वहाँ इस प्रकार कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही अज्ञानी और ज्ञानी-जीव जो कि गुण के धारक हैं इन दोनों जीवों के पुण्यपापादि सातपदार्थों के होने की संक्षेपरूप में सूचना देने के लिए ही संक्षेप-व्याख्यान किया है । अब यहाँ ज्ञानमय और अज्ञानमय-गुणों की मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है किन्तु जीव और अजीव के गुणी की मुख्यता से नहीं, क्योंकि यह कथन भी उन्हीं पुण्यपापादि सातपदार्थों की संक्षेप सूचना करने के लिए प्रयास है ।

यहाँ **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादि गाथा को लेकर पाठक्रम से नौगाथाओं पर्यन्त वर्णन करते हैं । उसमें सबसे पहले तीन गाथाओं में ज्ञानभाव की मुख्यता से वर्णन है, उसके पश्चात् छह गाथाओं में ज्ञानी-जीव का ज्ञानमय-भाव ही होता है और अज्ञानी-जीव का अज्ञानमय-भाव होता है ऐसा वर्णन है । इस प्रकार छट्ठे अन्तर-अधिकार में समुदाय पातनिका हुई ।

कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही ज्ञानी-जीव ज्ञानभाव का कर्त्ता होता है ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आगे तीन सूत्र कहते हैं—

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३१॥

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमसाधुर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कं ? कर्मतापन्नं आत्मानम् । कथम्भूतम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम् । **तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं निस्सङ्गं सङ्गरहितं विदन्ति जानन्ति ब्रुवन्ति कथयन्ति वा । के ते? परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ॥१३१॥

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३२॥

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वाशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन आत्मानं मनुते जानाति । कं ? कर्मतापन्नं आत्मानम् । किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णम् । **तं जिदमोहं साहुं**

अर्थ— जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण-परिग्रह को छोड़कर अपने आपकी आत्मा को दर्शन-ज्ञानोपयोगस्वरूप-शुद्ध-अनुभव करता है । उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिकदेव निर्ग्रन्थ-साधु कहते हैं ॥१३१॥

टीका—जो सगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं जो परमसाधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर वीतरागचारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले भेदज्ञान से अपनी आत्मा को जानता है । कैसा अनुभव करता है ? कि आत्मा विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनोपयोग-स्वभाववाला होने से उपयोगमय है; ज्ञानदर्शन-उपयोग को लिये हुए है । फिर कैसा है ? शुद्ध है, भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित है इस प्रकार समाधि में स्थित होकर अनुभव करता है । **तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले गणधर देवादिक निस्सङ्गं अर्थात् परिग्रहरहित साधु कहते हैं ॥१३१॥

अर्थ—जो परपदार्थों में होने वाले मोह को छोड़कर अपने आप को निर्विकल्प-ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है । परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक-परमेष्ठी उसी साधु को मोहरहित कहते हैं ॥१३२॥

टीका—जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो परम ऋषि समस्त प्रकार के चेतन या अचेतन, शुभ व अशुभ परद्रव्यों में मोह को छोड़कर शुभ व अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीनों योगों के परिहार न होने देना—करने रूप अभेदरत्नत्रय लक्षण के धरने वाले भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है । किस प्रकार करता है कि आत्मा विकार

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा, जो लीन आत्मरति में बन के अनंगा ।
साधू निसंग वह निश्चय से कहाता, ऐसा कहें सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३१॥
सम्मोह को शमित भी जिनने किया है ? आधार ज्ञान-गुण का मुनि हो लिया है ।
वे वीतराग जित मोह सुधी कहाते, विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥१३२॥

परमट्ठवियाणया विंति तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदन्ति जानन्ति। के ते? परमार्थविज्ञायकास्तीर्थकरपरमदेवादय इति। एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेष क्रोधमानमायालोभकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशतिसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिः परिणतेर्विलक्षणा असंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥१३२॥ अथ—

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३३॥

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमयोगीन्द्रः स्वसम्वेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसङ्गं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कं? कर्मतापन्नम् आत्मानम् कथम्भूतं, विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतम्। पुनरपि कथम्भूतम्? शुद्धं शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितम् **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति तं** परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलम्भरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकांक्षास्वरूपनिदानबन्धादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहितं विदन्ति जानन्ति। के ते? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति। किं च, कथञ्चित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं

रहित शुद्ध स्वसंवेदन ज्ञान से सहित है, परिपूर्ण है, तद्रूप परिणत है इस प्रकार का अनुभव करता है। **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** परमार्थ के जाननेवाले तीर्थंकर परमदेवादिक उस साधु को ही मोह से रहित हुआ मानते हैं।

यहाँ पर जिस प्रकार मोह पद दिया है उसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन, इस प्रकार २० पद क्रमसे रखकर २० सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिये। इस प्रकार निर्मल परम ज्योति की परिणति से विलक्षण–विरुद्ध असंख्यात लोकमात्र विभाव भाव हैं ऐसा समझ लेना चाहिए ॥१३२॥

अर्थ—जो कोई साधु व्यावहारिक धर्म को छोड़कर शुद्धज्ञान-दर्शनोपयोगरूप आत्मा को जानता है उनको परमार्थ के ज्ञाता धर्म के परिग्रहसे भी रहित कहते हैं ॥१३३॥

टीका—जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं जो योगीन्द्र शुभोपयोगरूप-धर्मपरिणाम को भी जीतकर अपने शुद्धात्मा के रूप में परिणत अभेदरत्नत्रय-लक्षणवाले भेदज्ञान के द्वारा अपने आपको अनुभव करता है कि मैं विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनोपयोगमय हूँ, तथा शुभ-अशुभरूप जो संकल्प-विकल्प हैं उनसे रहित शुद्ध हूँ। **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति** उसी परम-साधु को परमार्थ के जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानी लोग विकार रहित अपनी शुद्धात्मा के उपलंभरूप जो निश्चयधर्म उससे विलक्षणता को लिए भोग, आकांक्षास्वरूप निदानबंध आदि पुण्यमय परिग्रहवाले व्यवहारधर्म से दूर होने वाला मानते हैं।

जीव के कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही उपर्युक्त प्रकार का शुद्धोपयोग में परिणमन सिद्ध हो सकता है। परिणामीपना न मानने पर जीव बँधा हुआ और बँधा ही रहना

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग, धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग।
वे हैं सुधी मुनि, पराश्रित धर्मत्यागी, ऐसा कहें गणधरादिक वीतरागी ॥१३३॥

साधयति, परिणमित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं परिणामान्तरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः। एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१३३॥

तदनन्तरं यथा ज्ञानमयज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स[1]।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति। **णाणिस्स दु णाणमओ** स च भावोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारम्भपरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य तु शुद्धात्मख्याति प्रतीतिसंवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति। **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः ॥१३४॥

चाहिये। वहाँ पर फिर उसका शुद्धोपयोगरूप से परिणमन विशेष होता है वह कभी बन नहीं सकता। अतः ऐसी दशा में मोक्ष का अभाव हो जाता है। इस प्रकार शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि जीव ज्ञानमयी तथा अज्ञानमयी दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता कैसे होता है—

अर्थ—यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता वह होता है, अतः ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी [संसारी] के अज्ञानमय भाव होता है ॥१३४॥

टीका—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यह आत्मा जो भाव करता है उस समय वह अपने भाव रूप कर्म का कर्त्ता होता है। **णाणिस्स दु णाणमओ** अनन्तज्ञानादि चतुष्टय है लक्षण जिसका ऐसे कार्य समयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि रूप परिणाम से परिणत रहने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के आरंभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है। **अण्णाणमओ अणाणिस्स** किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय होता है ॥१३४॥

विशेषार्थ—जो आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्यसमयसार कहलाता है। किन्तु जो अनन्तचतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विकल्प समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्यसमयसार का सम्पादक होने से कारण-समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार के आरम्भ-परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति को लिये हुए रहता है अतः उसके रागद्वेषादि रहित शुद्ध-ज्ञानमय-भाव ही होता है किन्तु जो समाधि से च्युत होकर रागद्वेषादि में परिणत रहता है

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता, कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता।
हो ज्ञान-भाव मुनि में अपरिग्रही में, अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही में ॥१३४॥

---

[1] कम्मस्स इतिपाठः।

अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा[1] दु कम्माणि ।।१३५।।

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात् ? यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदितह्मा। दु कम्माण** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति। किं च, यथा स्तोकोऽप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महान्तमपि क्षणमात्रेण दहति तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरन्तर्मुहूर्तेनापि बहुभवसञ्चितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः ।।१३५।।

अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः। किमर्थमिति चेत्—

उसके ज्ञान-शुद्ध न होकर अशुद्ध होता है अतः उसका भाव उस समय-अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है।

आगे ज्ञानमय भाव से क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है सो कहते हैं—

अर्थ—अज्ञानी-रागीद्वेषी जीव के [आर्तरौद्ररूप] अज्ञानमयभाव ही होता है जिससे वह कर्मों को करता रहता है, किन्तु ज्ञानी-विरागी या समाधिस्थ-जीव के ज्ञानमयभाव ही होते हैं [आर्तरौद्रपरिणाम से रहित शुद्ध-ज्ञानरूप-परिणमन ही होता है] अतः वह ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करता है ।।१३५।।

टीका—अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि अज्ञानी-जीव के आत्मा की उपलब्धिरूप-भावना से विलक्षणपना होने के कारण अज्ञानमय-भाव ही होता है जिससे कि वह उस अज्ञानभाव से कर्मों को करता है। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि** किन्तु ज्ञानी जीव तो विकार रहित चेतना की चमत्काररूप-भावनामय होकर रहता है अतः उसके ज्ञानमयी भाव होता है। उस ज्ञानमयी भाव से ज्ञानी-जीव कर्मों को नहीं करता है—अर्थात् स्वस्थ होकर रहता है। भावार्थ यह है कि जैसे थोड़ी सी अग्नि बड़े भारी तृण-काठ के ढेर को क्षणमात्र में भस्म कर देती है उसी प्रकार तीन गुप्तिरूप-समाधि-लक्षण को रखने वाली भेदज्ञानरूपी-अग्नि एक-अन्तर्मुहूर्त मात्र में अनेक भवों में संचित किये हुए कर्मसमूह को नष्ट कर देती है। यह जानकर जिस प्रकार हो सके मुमुक्षु साधु को उस परमसमाधि में भावना करनी योग्य है ।।१३५।।

ज्ञानी-जीव के ज्ञानमयी भाव ही होता है, अज्ञानमयी-भाव नहीं। वैसे ही अज्ञानीजीव के अज्ञानमयी ही भाव होता है ज्ञानमयी नहीं, ऐसा आगे कहते हैं—

है ज्ञान भाव करता मुनि अप्रमादी, तो कर्म से न बँधता लखता समाधि ।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी, है कर्म जाल फसता, मति को मिटादी ।।१३५।।

---

1 सो जह्मा इति पाठः।

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥१३६॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
[1]तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥ (युग्मम्)

णाणमयाभावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा ज्ञानमयाद् भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थात् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् । **तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वसम्वेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति । तदपि कस्मात् ? उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । न हि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति । तथैव च-**अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो** अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते, भावः पर्यायः । यस्मात्कारणात् **तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवन्ति । कस्य ? अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति ॥१३६-१३७॥

अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति —

अर्थ—ज्ञानी-जीव के सब ही भाव ज्ञानमय ही होते हैं क्योंकि ज्ञानमय-भाव से ज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार अज्ञानमयभाव से अज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होता है, अतः अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं ॥१३६-१३७॥

टीका—णाणमयाभावादओ णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा क्योंकि निश्चयरत्नत्रयात्मक-जीवपदार्थरूप-ज्ञानमयभाव से स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका, ऐसा मोक्ष-पर्यायरूप-ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है । **तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** इसलिये स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाले जीव के सभी भाव उस ज्ञान के द्वारा संपन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं । क्योंकि उपादान कारण के सदृश कार्य होता है यह महापुरुषों की मानी हुई बात है । देखो कि यव (जौ) के बोने पर बासमती चावल पैदा नहीं हो सकता—अपितु जौ के बोने से जौ ही पैदा होता है । इसी प्रकार **अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो** अज्ञानमय रागद्वेष विशिष्ट जीव से अज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होता है । इसलिए **तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** शुद्धात्मा की उपलब्धि से रहित ऐसे अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि-जीव के सभी भाव मिथ्यात्व या रागादिरूप-अज्ञानमय-परिणाम ही होते हैं ॥१३६-१३७॥

अब उपर्युक्त कथन को ही दृष्टान्त और दार्ष्टांत द्वारा समझाते हैं—

लो ! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता, हे साधु बीज सम ही फल चूँकि होता ।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता, वो सर्व ज्ञानमय ही, विधि को मिटाता ॥१३६॥
उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता, औचित्य कारण समा बस कार्य होता ।
अज्ञानि-जीव मन में कुछ भी विचारे ? अज्ञान से भरितभाव नितान्त पाले ॥१३७॥

---

1 जह्मा तह्मा भावा इति पाठः ।

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमययया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३९॥ (युगलम्)

कनकमयाद्भावात्पदार्थात् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति कृत्वा कुण्डलादयो भावाः पर्यायाः कनकमया एव भवन्ति । अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थाद् अयोमया एव भावाः पर्यायाः कटकादयो भवन्ति, यथा येन प्रकारेणेति दृष्टान्तगाथा गता । अथ दार्ष्टान्त माह **अण्णाणेति** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टान्तेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायन्ते । तथैव च पूर्वोक्तजाम्बूनदंदृष्टान्तेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवन्ति । किं च विस्तरः । वीतरागस्वसम्वेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोऽपि ज्ञानमयो भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं हित्वा देवेन्द्रलौकान्तिकादिमहर्द्धिदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते । ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति । किं पश्यतीति चेत् ? तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढ़धर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तरं

अर्थ—जैसे सोने की सिल्ली से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं, और लोहे के टुकड़े से कड़ा आदि बनता है । उसी प्रकार अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव से अनेक प्रकार के अज्ञान भाव होते हैं । किन्तु ज्ञानी जीव के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं ॥१३८-१३९॥

टीका—उपादान कारण के समान ही कार्य होता है इस सिद्धान्त को लेकर स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय कुंडलादिक पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं परन्तु लोहे के टुकड़े से लोहमय कड़ा आदि ही बनते हैं । उसी प्रकार पूर्वोक्त लोहे के दृष्टान्त को लेकर अज्ञानमय जीव के अनेक प्रकार की मिथ्यात्व या रागादिक रूप अज्ञानमय अवस्थायें होती हैं, और स्वर्ण के दृष्टान्त से विकार रहित ज्ञानी जीव के सभी परिणमन ज्ञानमय होते हैं । इस कथन का विस्तार यह है कि वीतराग स्वसंवेदनरूप भेदज्ञानी जीव जिस शुद्धात्मा के भावनारूप-परिणाम को करता है वह परिणाम सर्व ही ज्ञानमय होता है, जिससे कि वह संसार की स्थिति को कम करके देवेन्द्र या लौकांतिक आदि सरीखा महर्द्धिक देव उत्पन्न होता है, वहाँ दो घड़ी में ही सुमति, सुश्रुत और अवधिज्ञानरूप ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त होता है । तब वह उस प्राप्त हुई विमान और परिवारादि की विभूति को जीर्ण-तृण के समान मानता हुआ पंच-महाविदेहक्षेत्रों में जाता है, वहाँ वह देखता है कि यह

लो ! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेंगे, अच्छे किसे नहिं लगे मनको हरेंगे ।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेंगे, वे पूर्व के सकल कर्म हरे हरेंगे ॥१३८॥
लो ! लोह, लोहमय आयुध का विधाता, देखो जिन्हें कि भय से मन काँप जाता ।
अज्ञानि में तरलरागतरंग माला, देती उसे दुख पिलाकर पाप हाला ॥१३९॥

धर्मध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजार्द्धमण्डलीकमहामण्डलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्त्ति-तीर्थङ्करपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपभेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपाण्डवादि-वत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते । तदनन्तरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहार-परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिन्त्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थः ॥१३८-१३९॥

समवशरण है, ये वीतराग-सर्वज्ञ-देव हैं, तथा ये सब भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधरादिक देव हैं, जिनका वर्णन पहले परमागम में सुना था, वे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । ऐसा जानकर वह धर्म में धर्ममय-दृढ़विचारवाला हो जाता है । इस प्रकार चौथे गुणस्थान के योग्य-शुद्धभावना को नहीं छोड़ता हुआ वह उस देवलोक में [यथोचित] धर्मध्यान से समय व्यतीत करता है । उसके बाद मनुष्य होता है तब राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, और तीर्थंकरपरमदेव आदि पद के प्राप्त होने पर भी पूर्व भव की वासना को लिये हुये शुद्धात्मस्वरूप-भेदभावना के बल से मोह को प्राप्त नहीं होता । जैसे राम और पाण्डव आदि। फलतः वह अन्त तक जिनदीक्षा को ग्रहण करके सप्तर्द्धि—सात प्रकार की ऋद्धियों सहित चार-ज्ञानरूप अवस्था को प्राप्त कर लेता है । फिर समस्त प्रकार के पुण्य और पापरूप-परिणामों के त्यागस्वरूप-अभेदरत्न-त्रयात्मक-द्वितीय शुक्लध्यानमय-विशिष्टभेदज्ञान के बल से अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखामृतरस से तृप्त होकर सब तरह के अतिशयों से परिपूर्ण तथा तीनलोक के स्वामियों द्वारा भी आराधना करने योग्य एवं परम अचिन्त्यविभूति-विशेष से युक्त केवलज्ञानात्मक-पर्याय को प्राप्त कर लेता है । किन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और रागादिमय-अज्ञानभाव को प्राप्त करके नर-नारकादि रूप अवस्था को ही प्राप्त होता रहता है ॥१३८—१३९॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने यहाँ यह बतलाया है कि अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त ज्ञानी जीव अपने समीचीन-समाधिरूप-ज्ञानभाव के द्वारा प्रथम तो उसी क्षण परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है; यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह स्वर्ग में जाकर लौकान्तिकदेवादि विशेष पदों को प्राप्त करता है । तदनन्तर तीर्थंकरादिरूप नरोत्तम पद को प्राप्त होकर उसी भव से परम-समाधि द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह जीव अज्ञानी दुराचारी व्यक्ति के समान नरक-निगोदादि-दुर्गतियों को कभी प्राप्त नहीं करता । किंच यहाँ टीका में आये हुये शुद्धात्मा का अर्थ कुछ महानुभाव शुद्धोपयोग से करते हैं वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि शुद्धात्मा की भावना व शुद्धोपयोगी में इतना ही अन्तर है जितना कि विद्यार्थी और अध्यापक में है । शुद्धात्मा की भावना अलब्धोप्लिप्सा—नहीं प्राप्त हुई वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता रूप होने से अविरत सम्यग्यदृष्टि आदि के भी होती है । किन्तु शुद्धोपयोग तो शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अतः वह अप्रमत्त दशा में ही हो सकता है उससे पहले नहीं, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है—

"सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो सम-सुहदुःखो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥

एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथञ्चित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति, व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अथ—पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपञ्चप्रत्ययरूपेण पञ्चविधो भवति स चाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसम्वेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बन्धकारणं भवतीति सप्तमान्तराधिकारे समुदायपातनिका—

[1]मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं ।
असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥१४०॥
[2]अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥

इस प्रकार ज्ञानमय भाव और अज्ञानमय भाव के कथन की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं । इसके साथ ही साथ उक्त प्रकार से पुण्य-पापादि सप्तपदार्थों की पीठिकारूप जो महाधिकार शुरू किया गया था उसमें यह बताते हुये कि कथंचित् परिणामित्व होने पर ही ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव का और अज्ञानी जीव अपने अज्ञानभाव का कर्त्ता हो सकता है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओं के द्वारा छठा अन्तराधिकार भी समाप्त हो गया।

अब आगे यह बताते हैं कि वह पूर्वोक्त अज्ञानभाव ही द्रव्य और भावरूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा पाँच प्रकार का होता है । वह अज्ञानभाव–'शुद्ध आत्मा ही उपादेय है' इस प्रकार की रुचि को नहीं रखने वाले तथा उसी अपनी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने वाले एवं शुद्धात्मा को परम समाधि रूप–निर्विकल्प भाव से नहीं अनुभव करने वाले अज्ञानी जीव के—कर्मबंध का कारण होता है; यह सप्तम महाधिकार में बताया जायेगा उसकी यह उत्थानिका है ।

अर्थ—जीवों के जो अतत्स्वरूप श्रद्धान होता है, वह मिथ्यात्व का उदय है । उन जीवों के जो त्याग भाव का अभाव है वह असंयम का उदय है । इसी प्रकार उनका जो स्वरूप का अन्यथा जानना है वह अज्ञान का उदय है तथा जो जीवों के उपयोग का मैलापन है वह कषाय का उदय है और जो जीवों के शुभ-शुभ रूप मन-वचन-काय की उत्साहात्मक चेष्टा विशेष होती है वह योग का उदय है । उपर्युक्त पाँचों में से किसी के भी होने

अज्ञान का उदय आतम में जभी हो, है आत्मज्ञान मिटता, उलटा सभी हो ।
मिथ्यात्व के उदय में पर को निजात्मा, है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४०॥
आत्मा स्वयं जब असंयम से घिरेगा, स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा ।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा-आत्मा, कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४१॥

---

1 अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी । मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥

2 उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं । जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ इति पाठः ।

तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१४२॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१४३॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१४४॥ (पंचकम्)

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरुपादेयबुद्धिः । **असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसम्वित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति । अथ—**अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी** अज्ञानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः । **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** स जीवानां कषायोदयो भवति यः शान्तात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति । अथ—**तं जाण जोगउदयं**

पर जो कर्मवर्गणाओं का समूह आता है वह ज्ञानावरणादि के रूप में आठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है उस समय उन मिथ्यात्वादि भावों का यह जीव कारण होता है ॥१४०-१४४॥

टीका— **मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं** अनन्तज्ञानादिचतुष्टय रूप शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है उसे छोड़कर जीवों की जो और ठौर रुचि हो जाती है—उपादेय बुद्धि बन जाती है वह मिथ्यात्व का उदय है । **असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** आत्मोत्थ सुख के सम्वेदन का अभाव होने पर जो विषय-कषायों से दूर नहीं होना है वह संसारी जीवों के असंयम का उदय है । **अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी** भेदज्ञान को छोड़कर जीवों के विपरीतरूप से जो परद्रव्यों के साथ एकत्व की उपलब्धि है—प्रतीति हो रही है वह अज्ञान का उदय है । **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** आत्मा की शांत अवस्था रूप शुद्धोपयोग को छोड़कर जो जीवों का क्रोधादि-कषायरूप मलिन परिणाम होता है वह कषाय का उदय है । और **तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं दु चिट्ठउच्छाओ** जीवों के मन, वचन, काय की वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय के क्षपोपशम को लिये हुये प्रयत्नरूप—आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद

आत्मा स्वयं तब तरंगित हो हिलोरा-लेता, चले जब शुभा-शुभ योग जोरा ।
हो तीव्र या पवन मंद जभी चलेगी, भाई अवश्य सर में लहरें उठेंगीं ॥१४२॥
पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से, तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से ।
हैं अष्ट कर्म बँधते इस जीव से हैं, देते अतीव दुख हैं कटुनीम से हैं ॥१४३॥
ये ही यदा उदय में वसु कर्म आते, तो जीव की विकृति में पड़ हेतु जाते ।
संसार की प्रगति औ गति हो चलेगी, मेटे इन्हें मुनि जिन्हें मुकती मिलेगी ॥१४४॥

जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ तं योगोदयं जानीहि त्वं, हे शिष्य ! जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यान्तराय-क्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः । **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति । तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादि-रूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति । अथ **एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु** एतेषु पूर्वोक्तेषूदयागतेषु हेतुभूतेषु सत्सु मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं । **परिणमदे अट्ठविहं णाणावर-णादिभावेहिं** जीवस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्ट-विधं परिणमतीति । अथ— **तं खलु जीवणिबद्ध कम्मइयवग्गणागयं जइया** तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभि-नवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसम्बद्धं योगवशेनागतं यदा भवति खलु स्फुटं । **तइया दु होदि हेदूजीवो परिणाम-भावाणं** तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति केषां परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति । किञ्च, उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादिभाव-प्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबन्धस्य कारणं भवतीति तात्पर्यम् । अयमत्र भावार्थः उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमति तदा बन्धो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोप-सर्गेऽपि पाण्डवादिवत्, यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसार एव । कस्मादिति चेत् ? संसारिणां

जो कि कर्मग्रहण करने का हेतु होता है, हे शिष्य ! उस व्यापाररूप-उत्साह को तुम योग का उदय समझो । वह **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** योग शुभ और अशुभरूप से दो प्रकार का है । जो व्रतादिक को कर्त्तव्य मानकर उनके करने में उत्साह होता है उसे शुभयोग कहते हैं तथा जो नहीं करने के योग्य अव्रतादिरूप में उत्साह है उसे अशुभयोग कहते हैं । **एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु** इन निमित्तभूत मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्ययों के होने पर कर्मवर्गणा-रूप नूतन–पुद्गलद्रव्य **परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं** जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप परिणति को लिये हुये जो परमसामायिक-भाव है उसके न होने पर ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म के रूप में आठ-प्रकार का परिणमन करता है । **तं खलु जीव-णिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया** वह पूर्व सूत्रकथित कर्मवर्गणायोग्य-नूतन-पुद्गलद्रव्य योग के द्वारा आकर अवश्य ही जीव के साथ में जब सम्बद्ध होता है, **तइया दु होदि हेदु जीवो परिणाम-भावाणं** उस समय पूर्वकथित उन उदय में आये हुये पाँच-प्रत्ययों के निमित्तरूप होने पर अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार होने वाले अपने परिणामरूप-भाव-प्रत्ययों का यह जीव कारण बनता है अर्थात् उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से जब यह जीव मिथ्यात्व या रागादिकरूप-भावप्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है तब नूतन-कर्मबंध का कारण होता है । इस कथन का सारांश यह है कि द्रव्यप्रत्ययों का उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहज-स्वभाव को छोड़कर रागादिरूप-भावप्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है, तभी नूतन-बंध होता है, केवल द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र से किसी भी संकट के समय में भी नूतन-बंध नहीं होता । जैसा कि पाण्डवों के नहीं हुआ । यदि उदयमात्र से ही बंध मान लिया जाये तब तो इस जीव के संसार सदा ही बना रहेगा, क्योंकि संसारी-जीव के कर्म का उदय तो सदा बना ही रहता है ॥१४०–१४४॥

विशेषार्थ—मूलग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने सामान्यरूप से अज्ञानभाव को बंध का

सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् ।।१४०-१४४।। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानभावः पञ्चप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बन्धकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चगाथाभिः सप्तमोऽन्तराधिकारः समाप्तः। अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ।।१४५।।
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ।।१४६।। (युग्मम्)

कारण बताया है, और उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार उत्तरभेद किये हैं। जैसा कि आत्मख्यातिकार ने अपनी लेखनी से लिखा है और मूलग्रन्थकार भी पहले बता आये हैं। किंतु तात्पर्य-वृत्तिकार ने अज्ञानभाव सामान्य को भी मिथ्यात्वादि चार विशेषों के साथ मिला कर पाँच प्रत्यय बंध के कारण होते हैं ऐसा बताया है।

इस प्रकार पुण्यपापादि-सप्तपदार्थों की पीठिकारूप इस महाधिकार में पाँचप्रत्ययों के रूपों से जो शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत होने वाले जीवों के अज्ञानभाव होता है, वही बंध का कारण होता है, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाओं द्वारा सातवाँ अंतराधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे आठवाँ अधिकार है उसमें जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर में उपादानकारण नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें हैं। उनमें आचार्यदेव प्रथम यह बताते हैं कि निश्चयनय से देखा जाय तो जीव का जो परिणाम है वह कर्मपुद्गलों से पृथग्भूत ही है—

अर्थ—जीव के जो रागादि विकार भाव होते हैं वे वैसे ही यदि वास्तव में कर्म के भी होते हों तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादिमान् होने चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें तो कर्मोदय के बिना भी हो जाने चाहिए ।।१४५-१४६।।

रागादि ये विकृत चेतन की दशायें, मोहादि के उदय में दुख आपदायें ।
पै जीव-कर्म मिल के यदि राग होगा, तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ।।१४५।।
मोहादि का उदय पाकर जीव रागी, होता स्वयं नहिं कभी कहते विरागी ।
धूली बिना जल कलंकित क्या बनेगा ? क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा?।।१४६।।

---

[1]जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ।।३।।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी यदि जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवन्ति। **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयोः रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोः रागित्वं प्राप्नोति। तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति। अथ— **एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकान्तेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते। **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव। किं च, द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादिभावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन। स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः ॥१४५-१४६॥

टीका—जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी रागादि भाव जो होते हैं उनका उपादान कारण जीव होता है, कर्म का उदय नहीं, किन्तु कर्मोदय तो निमित्तरूप से उसके साथ रहता है। यदि कर्मोदय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाये तब तो **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** जीव और पुद्गल इन दोनों में ही रागादिक होते हुए प्रतीत होने चाहिये। जैसे कि चूना और हल्दी इन दोनों के मेल से पैदा हुई लालिमा दोनों की होती है। वैसे ही कर्म और जीव दोनों ही रागादि के उपादान कारण हों तो दोनों में राग भाव आना चाहिये। ऐसा होने पर फिर पुद्गल को भी चेतनपना प्राप्त हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है। **एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** और उपर्युक्त दोष से बचने के लिये यदि ऐसा कहा जाये कि रागादिक परिणाम उपादानभूत एक जीव का ही परिणाम है, उसमें कर्मोदय का कुछ भी हाथ नहीं है। **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** तब तो फिर कर्मोदय के न होने पर शुद्ध जीव में भी वह रागादि रूप परिणाम पाया जाना चाहिये, जो कि प्रत्यक्ष व आगम इन दोनों के विरुद्ध है। अथवा दूसरी प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि उपादान रूप में तो रागादि भावों का कारण जीव ही होता है, कर्मोदय रागादिक में उपादान कारण नहीं होता, यह ठीक ही है। साराँश यह है कि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता तो यह जीव अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से होता है और रागादि भावकर्मों का कर्त्ता अशुद्धनिश्चयनय से होता है। अशुद्धनिश्चयनय जीव को द्रव्यकर्मों का कर्त्तापना बताने वाले अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से यद्यपि निश्चय नाम को पाता है, फिर भी शुद्धात्म-द्रव्य को विषय करने वाले शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वह वास्तव में व्यवहारनय ही माना गया है॥ १४५-१४६ ॥

अर्थ—इसी प्रकार यदि जीव सहित पुद्गल द्रव्य का परिणमन कर्म रूप हो तो पुद्गल और जीव ये दोनों कर्म रूप में एकपने को प्राप्त हो जाना चाहिये ॥३॥

लो ! जीव संग यदि पुद्गल वर्गणायें, हैं कर्म रूप ढलतीं दुख आपदायें।
दोनों नितान्त तब पुद्गल ही बनेंगे, आकाश फूल भव औ शिव भी बनेंगे ॥३॥

अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति—

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४७॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत एवं । **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मणः परिणामः स्यात् ॥१४७॥ इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोऽन्तराधिकारः समाप्तः अथानन्तरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमाऽन्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा

आगे बताते हैं कि पुद्गल कर्म का जो परिणाम है वह वास्तव में जीव से पृथक् ही है—

अर्थ—पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप में हो तो जीव के रागादि भावों के बिना ही हो जाना चाहिये, सो भी नहीं होता है ॥१४७॥

टीका—एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण उपादानभूत कर्मवर्गणायोग्य अकेले पुद्गलद्रव्य का ही परिणमन कर्मरूप में होता हो तो, **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** फिर जीव में होने वाले मिथ्यात्व और रागादिरूप-परिणामों के उपादान-हेतुभूत जीव के विकारीभाव उनके बिना भी पुद्गलों का द्रव्यकर्मरूप-परिणाम हो जाना चाहिये । किन्तु ऐसा होता नहीं है । इसलिये वहाँ पर निमित्तरूप से जीव के विकारीभावों को मानना ही पड़ता है; फिर भी कर्मरूप-परिणमन तो कार्मण-द्रव्यरूप-पुद्गलों का ही होता है । जो कि वास्तव में जीव के रागादि भावों से भिन्न होता है ॥१४७॥

विशेषार्थ—यदि पुद्गलकर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाये तो जीव और कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं । अतः पुद्गलद्रव्य का उदय जीव के अज्ञानरूप-रागादिभावों का निमित्तकारण होता है । उस निमित्त से जुदा ही जीव का रागादिरूप-परिणाम होता है । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम भी जीव के साथ ही माना जाये तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो जायें । अतः जीव का अज्ञान रूप रागादिमय परिणाम पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप बनने में निमित्त कारण होता है । किन्तु पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम तो उससे वास्तव में पृथक् ही होता है ।

इस प्रकार पुण्य-पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल का परस्पर में उपादान-उपादेय भाव नहीं है, इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाओं के द्वारा आठवाँ अंतराधिकार समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे नवम अधिकार में आचार्यदेव चार गाथाओं से शुद्ध-समयसार का

रागादि भाव करता जड़ जीव ज्यों ही, हैं कर्म रूप ढलते जड़ द्रव्य त्यों ही ।
रागादि से पृथक् पुद्गल है इसी से, ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१४७॥

अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥१४८॥

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं जीवेऽधिकरणभूते बद्धं संश्लेषरूपेण क्षीरनीरवत्सम्बद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः । **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं** शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेऽधिकरणभूते अबद्धस्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मस्वरूपं न भवतीति भावार्थः ॥१४८॥

अथ यस्माद् बद्धाबद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति—

कथन करते हैं कि यह जीव शुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पुण्य-पापादि पदार्थों से भिन्न ही है जो कि व्यवहारनय से कर्मों से बंधा हुआ है किन्तु निश्चयनय से बंधा हुआ नहीं है; इत्यादि विकल्प रूप नय पक्षपात से भी रहित है। आगे जब शिष्य ने प्रश्न किया कि आत्मा कर्मों से बद्ध है या नहीं है, और बद्ध है तो कौन से नय से है तथा अबद्ध है तो कौन से नय से है उसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कर्म, जीव से सम्बद्ध हैं, आत्म-प्रदेशों में मिले हुए हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है, और कर्म, जीव में अबद्ध-स्पृष्ट हैं अर्थात् बंधे हुये नहीं हैं ऐसा शुद्धनय का कथन है ॥१४८॥

टीका—जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं कर्म अधिकरणभूत जीव में नीर और क्षीर की तरह एकमेक होकर सम्बद्ध हैं, परस्पर मिले हुये हैं तथा योग मात्र के द्वारा आत्मा में लगे हैं यह व्यवहारनय का अभिप्राय है। **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं** शुद्धनय के अभिप्राय से अधिकरण रूप जीव में कर्म न तो बद्ध ही हैं और न स्पृष्ट ही हैं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों से उत्पन्न होने वाला विकल्प वास्तव में शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है ॥१४८॥

विशेषार्थ— जीव और पुद्गल कर्म को एक बंधपर्याय रूप में देखा जाये तब तो भिन्नता का अभाव है वहाँ जीव में कर्म बंधते भी हैं और उसे छुये हुये भी हैं यह व्यवहारनय का कथन है; किन्तु जीव और पुद्गल कर्म को भिन्न द्रव्यरूप में देखा जाये तो वे दोनों अत्यन्त पृथक्-पृथक् ही हैं। इसलिये जीव में कर्म बद्ध भी नहीं हैं और उसे छुये हुये भी नहीं हैं; यह निश्चयनय का पक्ष है, किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनों बद्धाबद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनत्व को लिये अमूर्त्त स्वरूप है।

जब कि बद्धादि-विकल्परूप व्यवहारनय का पक्ष है और अबद्धादि-विकल्परूप निश्चयनय का पक्ष है; किन्तु पारिणामिक-परमभाव का ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय के द्वारा देखने पर जीव

गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है, दुष्टाष्ट कर्म दल से न कभी बँधा है ।
संसारि-जीव विधि से बँधता, बँधा था, यों भावभीनि स्वर में व्यवहार गाता ॥१४८॥

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
णयपक्खातिक्कंतो[1] भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४६॥

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं जीवेऽधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोऽपि नयपक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः । **णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रान्तो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । कस्मादिति चेत् ? 'श्रुतविकल्पा नया' इति वचनात् । श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानपेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । तर्हि कथम्भूतं जीवस्वरूपमिति चेत् ? योऽसौ नयपक्षपातरहितस्वसम्वेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति । तथा चोक्तम्—

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं । विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥
एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वावितिपक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदीच्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥

बद्धाबद्धादिरूप विकल्प से सर्वथा दूर है ऐसा कथन करते हैं--

अर्थ—जीव में कर्म बद्ध हैं लगे हुये हैं, यह भी और जीव में कर्म चिपके हुए नहीं है, ऐसा भी एक नय का पक्ष है किन्तु समयसाररूप जो आत्मा है वह इन दोनों पक्षों से दूरवर्त्ती है ॥१४६॥

टीका-- कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं अधिकरणभूत जीव में कर्म सम्बद्ध हैं, और सम्बद्ध नहीं हैं, ऐसा कथन तो एक-सुनय का पक्ष है । **णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो** किन्तु शुद्धात्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह तो इन दोनों पक्षों से भिन्न प्रकार का ही है; क्योंकि व्यवहारनय के कहने के अनुसार जीव कर्मों से बंधा हुआ है जो कि शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है और निश्चयनय से जीव कर्मों से अबद्ध है यह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध या अबद्ध कहना यह जीवमात्र का स्वरूप नहीं है--यह नय का विकल्प है । नय जितने भी होते हैं वे सब श्रुतज्ञान के विकल्परूप होते हैं; यह सिद्धान्त की बात है, और श्रुतज्ञान है सो क्षायोपशमिक है; वह क्षयोपशम, ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है तब फिर जीव का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं--नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन-ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढामूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदस्वरूप होता है जैसा कि आत्मख्यातिकार ने कहा है--जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आपके स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्पजाल से रहित शांत-चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात् अमृत का--समयसार का

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी, है निर्विकार यह आतम या विकारी ।
वे वस्तुतः समयसार बने लसे हैं, जो साधु ऊपर उठे नयपक्ष से हैं ॥१४६॥

---

1 पक्खातिक्कंतो पुण इति पाठः ।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते। हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्। त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतम् ॥१४९॥

अथ नयपक्षातिक्रान्तस्य शुद्धजीवस्य किस्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१५०॥

योऽसौ नयपक्षपातरहितः स्वसम्वेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं **दोण्हवि णयाण भणियं जाणदि** यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति। **णवरिं तु समयपडिबद्धो** तथापि नवरिं केवलं सहजपरमानंदैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः

व्यवहारनय उन दोनों नयों के पक्षपात से रहित होने के कारण **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि** पान करते हैं। जीव व्यवहारनय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता अतः यह इन दोनों नयों के विचार में अपना-अपना पक्षपात है। इसलिए पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी पुरुष के ज्ञान में तो चेतन, चेतन ही है। बात यहाँ ऐसी है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नय को लेकर चलती है, किन्तु तत्त्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जाने पर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय-तत्त्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय-तत्व में लगे रहना साधु-सन्तों को अभीष्ट है ॥१४९॥

विशेषार्थ—जीव को बद्ध बताने पर संसारी मात्र का ग्रहण हो सकता है किन्तु सिद्ध जीव का नहीं और अबद्ध कहने से जो सिद्ध जीव हैं उन्हीं का ग्रहण हो सकता है उसमें संसारी जीव शेष रह जाते हैं जो कि आत्मत्व से रहित नहीं हैं अतः तत्त्वज्ञानी जीवों की दृष्टि में नय-प्ररूपण से परे जीव सदा चेतनस्वरूप ही है।

अब आचार्यदेव नयपक्ष से दूरवर्ती शुद्धजीव के स्वरूप को कहते हैं—

अर्थ—जो पुरुष सहज-परमानंद-स्वरूप-समयसार का अनुभव करने वाला है वह दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता, दोनों नयों के पक्षपात से दूर होकर रहता है ॥१५०॥

टीका—दोण्हवि णयाण भणियं जाणदि जो कोई नयों के पक्षपात से दूर स्वसंवेदनज्ञानी है वह बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान् केवली, निश्चयनय तथा व्यवहारनय के विषय द्रव्यपर्याय रूप अर्थ को जानते हैं। **णवरिं तु समयपडिबद्धो** किन्तु सहज परमानंद स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके अधीन होते हुए केवली भगवान् **णयपक्खपरिहीणो** निरन्तर केवलज्ञान के रूप में वर्तमान होने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्प जाल रूप जो निश्चयनय और

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं, साक्षी बने सहज दो नय के तने हैं।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती, हो आत्मलीन तजता पररीति-जाति ॥१५०॥

सन् । **णयपक्खपरिहीणो** सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुताज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नय-द्वयपक्षपातादूरीभूतत्वात् । **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि** न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथापि गणधरदेवादिछद्मस्थजनोऽपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नयपक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति ॥१५०॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठति—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१५१॥

व्यवहारनय किसी भी नय के पक्ष रूप विकल्प को कभी स्वीकार नहीं करते अर्थात् उसे छूते भी नहीं हैं। वैसे ही गणधरदेव आदि छद्मस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानन्दैक स्वभावरूप शुद्धात्मा के अधीन होते हुये अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पों का जालरूप जो दोनों नयों का पक्षपात उससे शुद्धनिश्चय के द्वारा दूर होकर नय के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधिकाल में अपने आत्मरूप से ग्रहण नहीं करते हैं ॥१५१॥

विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि समाधिस्थ पुरुष किसी भी अन्य पदार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी लगाव न रखकर केवल सच्चिदानंदात्मक अपने आत्म स्वरूप में लीन रहता है जैसे कि केवलज्ञानी । केवलज्ञानी में और उसमें उस समय यदि कोई अन्तर रहता है तो वह उतना ही कि केवलज्ञानी का ज्ञान क्षायिक एवं शाश्वत होता है जब कि उस समाधिस्थ पुरुष का ज्ञान तात्कालिक एवं क्षायोपशमिक । जैसे किसी वस्तु को निर्दोष तेज आँख वाला आदमी आँखों से ही दृढ़ता के साथ देखता रहता है; उसे ही दुर्बल आँखोंवाला ऐनक लगाकर कुछ देर तक देख सकता है । उसी प्रकार केवलज्ञानी तो सहज रूप में अपने आपका निरीक्षण करते रहते हैं; परन्तु छद्मस्थ समाधिनिरत जीव वहाँ पर मन को लगाकर, जब तक मन लगा रहता है तब तक आत्म निरीक्षण करते हैं । हाँ, केवलज्ञानी का उपयोग क्षायिक होता है, अतः उनके उपयोग में स्वरूप से आत्मा का ज्ञान होता रहता है, उसी समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का भी ज्ञान होता है । किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो एकांकी होता है अतः वह जिस समय आत्मोन्मुखी होता है उस समय अन्य पदार्थों के स्मरण से रहित होता है और जिस समय अन्य किसी भी पदार्थ का स्मरण हुआ कि शुद्धात्मानुभव नहीं रह पाता ।

यदि शुद्ध पारिणामिक परभाव के ग्रहण करने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सोचा जाय तो नय के विकल्प स्वरूप जो समस्त प्रकार के पक्षपात उनसे रहित ही समयसार होता है ऐसा नीचे की गाथा में कहते हैं—

संसार में समयसार सुधा सुधारा, लेता प्रमाण, नय का न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी व्रत-बोध-धाम, मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥१५१॥

सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो इन्द्रियानिन्द्रियजनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात् । **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते। न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशावित्ति ।।१५१।। एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसार व्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

इत्यनेन प्रकारेण **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसंज्ञानिजीवयोः संक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्कम् । तदनन्तरमज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथाः । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापञ्चविंशतिः । तदनन्तरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकम् । ततश्च जीवपुद्गलकथञ्चित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकम् । ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणाम-

---

अर्थ—जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयों के पक्षपात से रहित होता है, उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है ।।१५१।।

टीका— सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो जब कि आत्मा, निर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषों के द्वारा इंद्रियानिंद्रियजनित-बाह्य-विषयक-समस्तमतिज्ञान के विकल्पों से रहित ही देखा और जाना जाता है । तथा वही आत्मा बद्धाबद्धादिक-विकल्पनय के पक्षपात से रहित ऐसे समयसार का अनुभव करता हुआ देखा और जाना जाता है । इसलिए **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** मात्र सकल-विमल-केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप व्यपदेश को वह स्वीकार करता है न कि बद्धबद्धादिरूप व्यपदेशों को ।।१५१।।

विशेषार्थ—आत्मा को पहले आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप-निश्चयकर पीछे इन्द्रियरूप मतिज्ञान को भी ज्ञानमात्र में ही मिलाकर श्रुतज्ञानस्वरूप नयों के विकल्पों को दूर कर एवं श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प बनाकर एक-ज्ञानमात्र-अखंड-प्रतिभास का अनुभवन करना ही समयसार है और वही योगियों के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम पाता है । यहाँ पर समीचीन श्रद्धान मात्र को ही सम्यग्दर्शन न बताकर सत्य-श्रद्धानी जीव की आत्मानुभवरूप अवस्था विशेष जो परमसमाधिकाल में होती है उसी को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है । और उसी को सम्यग्ज्ञान नाम दिया है ।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों के पक्षपात से रहित शुद्धसमयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा यह नवम अंतराधिकार समाप्त हुआ । इस प्रकरण के द्वारा **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव की संक्षेप सूचना देते हुए छः गाथाएँ कहीं हैं और इसके बाद अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हुए ग्यारह गाथाएँ कहीं हैं फिर चेतन और अचेतन सब कार्यों का एक ही उपादानकर्त्ता होता है ऐसे अभिप्राय वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से २५ गाथाएँ कहीं हैं इसके अनंतर मिथ्यात्वादि-पाँचप्रत्यय ही कर्म करते हैं, आत्मा नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए ७ गाथाएँ कहीं हैं, इसके आगे जीव और पुद्गल का कथंचिद् परिणामित्व स्थापन करने की मुख्यता को लेकर आठ गाथाएँ कहीं हैं इसके अनंतर

कथनमुख्यतया गाथानवकम्। तदनन्तरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापञ्चकम्। ततश्च जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयम्। ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसार-कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरन्तराधिकारैः।

तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररङ्गभूमौ नृत्यानन्तरं शृङ्गारपात्रयोः परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां
शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पुण्यपापादि-
सप्तपदार्थानां सम्बन्धी पीठिकारूपस्तृतीयो
महाधिकारः समाप्तः।

ज्ञानमय और अज्ञानमय-परिणाम के कथन की मुख्यता से ९ गाथाएँ हैं इसके आगे अज्ञानमय-भाव को मिथ्यात्वादि-पाँच प्रत्यय के भेदरूप से प्रतिपादन करने वाली ५ गाथाएँ हैं। तदनंतर जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्त्ता नहीं हैं इस प्रकार के कथन की मुख्यता से ३ गाथाएँ कहीं हैं। इसके पीछे यह बतलाते हुए कि शुद्धसमयसार तो नय के पक्षपात से सर्वथा रहित है ऐसा कथन करने में ४ गाथाएँ आई हैं। इस प्रकार समस्त ७८ गाथाओं के द्वारा और ९ अन्तराधिकारों के द्वारा यह कर्त्ताकर्म नाम का महाधिकार समाप्त हुआ।

वहाँ जीव और अजीव के अधिकाररूप इस ग्रन्थ की रंगभूमि में भेषधारी दो पात्र नृत्य करते हैं; और बाद में वे पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। वैसे ही यहाँ शुद्धनिश्चयनय के द्वारा जीव और अजीव ये दोनों अपने-अपने कर्त्ता और कर्म भेष को छोड़कर निकल गये हैं।

इति **श्री जयसेनाचार्यकृत** समयसार की **तात्पर्यवृत्ति** नाम की व्याख्या
के हिन्दी अनुवाद में यह पुण्यपापादि सप्त पदार्थों से
सम्बन्ध रखने वाला पीठिकारूप तीसरा
महाधिकार समाप्त हुआ।

पुण्यपापाधिकारः

अथानन्तरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्मव्यवहारेण द्विपदीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति । **कम्मम-सुहं कुसीलं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यन्त पुण्यपापव्याख्यानं करोति। तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं तदनन्तरम-ध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारण-मेव न च मुक्तिकारणम् सम्यक्त्वसहितं पुनः परम्परया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया **परमट्ठो खलु**, इत्यादि-सूत्रचतुष्टयम् । ततः परं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहणं**, इत्यादिगाथानवकं कथयतीति पुण्यपाप-पदार्थाधिकारसमुदायपातनिका । तद्यथा—

ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातम् । तत्रैक उपनयनवशाद् ब्राह्मणो जातः । द्वितीयः पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति । तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५२॥

तदनंतर निश्चयनय से जो पुद्गलकर्म एक रूप है वही व्यवहारनय के द्वारा पुण्य और पाप के भेद से दो रूप होकर इस रंगभूमि में प्रवेश करता है ।

कम्ममसुहं कुसीलं इत्यादि गाथा से शुरू करके क्रम से १९ गाथाओं तक पुण्य-पाप का व्याख्यान करते हैं; वहाँ यद्यपि व्यवहारनय से पुण्य और पाप में भेद है; तथापि निश्चय से इनमें भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से ६ गाथाएँ आई हैं। उसके बाद यह बतलाते हुये कि अध्यात्मभाषा में जिसको शुद्धात्म-भावना कहते हैं और आगमभाषा में जिसे वीतराग-सम्यक्त्व कहते हैं, उसके बिना जो व्रत-दानादिक किये जाते है वे सब मुक्ति के कारण न होकर मात्र पुण्यबंध के कारण होते हैं; किन्तु वे ही व्रत, दानादिक यदि सम्यक्त्व सहित हों तो परम्परा से मुक्ति के कारण भी होते हैं । इस प्रकार का कथन करते हुए **परमट्ठो खलु** इत्यादि ४ गाथाएँ आतीं हैं । उसके आगे निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का कथन करने की मुख्यता से **जीवादीसद्दहणं** इत्यादि ९ गाथाएँ कहीं गईं हैं । यह पुण्य-पापरूपपदार्थ के अधिकार की समुदाय पातनिक हुई ।

यहाँ अब आचार्यदेव बतलाते हैं कि किसी एक ब्राह्मणी के दो पुत्र हुए, उनमें से एक का उपनयन संस्कार हो जाने से वह ब्राह्मण हो गया किन्तु दूसरे का उपनयन संस्कार नहीं हुआ, अतः वह शूद्र हो गया । इसी प्रकार जो पुद्गलकर्म निश्चय से एकरूप है वही जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से व्यवहार में दो प्रकार का हो जाता है ।

अर्थ—अशुभकर्म तो पापरूप है, बुरा है और शुभकर्म-पुण्यरूप है, अच्छा है । ऐसा सर्वसाधारण कहते हैं परन्तु परमार्थ-दृष्टि से देखें तो जो कर्म इस जीव को कारागारात्मक-शरीररूप-संसार में ही बनाये रखता है वह

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा, खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि में जब जो गिराता, कैसे सुशील शुभ भाव ! मुझे न भाता ॥१५२॥

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति। शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषाञ्चिद् व्यवहारिणां पक्षः सन् निश्चयरूपेण पक्षान्तरेण बाध्यते। **किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति। हेतुस्वभावानुभवबन्धरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति। तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते, शुभाशुभपरिणामो हेतुः। स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति एक एव द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्यस्वभावः। सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति, एक एव तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपानुभवः। सोऽयात्मोत्थनिर्विकारसुखानन्दापेक्षया दुःखरूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबन्धरूपः। सोऽपिबन्धं प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात्। यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिनां पक्षो बाध्यत एव ॥१५२॥

अथोभयं कर्म, अविशेषेण बन्धकारणं साधयति—

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५३॥

कर्म अच्छा कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है ॥१५२॥

टीका—कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है अतः छोड़ने योग्य है, किन्तु शुभकर्म सुहावना है, सुखदायक है, इसलिये उपादेय है—ग्रहणकरने योग्य है ऐसा कुछ व्यवहारवादी लोगों का कहना है; जो कि निश्चयरूप दूसरे पक्ष के द्वारा निषेध किया जाता है। **किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी बोलता है कि जो जीव को संसार में ही बनाये रखता है वह पुण्यकर्म सुहावना और सुख देने वाला कैसे हो सकता है (क्योंकि संसार तो सारा ही दुखरूप है)। कर्म के हेतु, स्वभाव अनुभव और बंध रूप आश्रय का जब विचार किया जाये तो उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता इसलिए वास्तव में कर्म में कोई पुण्य-पाप रूप भेद नहीं है। वही स्पष्ट कर बताते हैं—कर्म का हेतु जीव का शुभाशुभरूप परिणाम है जो कि शुद्ध-निश्चय से देखने पर एक अशुभ रूप ही प्रतीत होता है। द्रव्य भी पुण्य-पाप रूप पुद्गलद्रव्य है जो कि निश्चयनय के द्वारा देखने पर जड़-स्वभाव रूप एक ही है और उसका फल जो सुख-दुखरूप अनुभव में आता है वह भी आत्मा से उत्पन्न हुये निर्विकार सुख की अपेक्षा से दुख रूप ही प्रतीत होता है और शुभाशुभ बंध रूप जो आश्रय है वह भी बंधपने की अपेक्षा से एक रूप ही है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पाप कर्म के हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय में कहीं कोई भेद नहीं है, किन्तु सदा अभेद ही है। यद्यपि व्यवहार से देखें तो उसमें भेद होता है फिर भी निश्चयनय से वहाँ शुभ और शुभ कर्म रूप कोई भेद नहीं है। इसलिए व्यवहारी लोगों का जो पक्ष है वह बाधित हो जाता है ॥१५२॥

शुभ और शुभ रूप दोनों ही कर्म सामान्यतया बंधरूप हैं ऐसा बताते हैं—

अर्थ व टीका—जैसे सोने की बनी बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों ही तरह की बेड़ियां पुरुष को साधारण रूप में जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म वह

दो बेडियाँ, कनक की इक लोह की है, ज्यों एक-सी पुरुष को कस बाँधतीं हैं।
लो कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवे, त्यों बाँधते नियम से जड़-जीव को वे ॥१५३॥

यथा सुवर्णनिगलं लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति तथा शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति। किञ्च, भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिन्द्रख्यातिपूजालाभादिनिमित्तं यो व्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति, स पुरुषः तत्कनिमित्तं रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत् वृथैव व्रतादिकं नाशयति। यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति स परम्परया मोक्षं लभते इति भावार्थः ॥१५३॥

अथोभयकर्माविशेषेण मोक्षमार्गविषये निषेधयति—

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१५४॥

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा काहि मा व संसग्गं तस्मात् कारणात् कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगतरागं मा कुरु। बहिरङ्गवचनकायगतसंसर्गं च मा कुरु। कस्मात् इति चेत् ? **साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण** कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रंशो हि स्फुटं भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति ॥१५४॥

साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है। भावार्थ—शुभ और अशुभ इन दोनों कर्मों में बंध या संसार भाव की अपेक्षा कोई भी अंतर नहीं है। दोनों कर्म संसार रूप ही हैं। अतः जो कोई पुरुष भोगों की आकांक्षा रूप निदान करते हुए सौन्दर्य, सौभाग्य, कामदेव पद, देवेन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, ख्याति, पूजा, लाभ आदि मुझे प्राप्त हों, इस निमित्त से व्रत, तपश्चरण या दान-पूजादि करता है वह पुरुष अपने उस व्रत, तपश्चरण आदि रूप आचरण को व्यर्थ ही खोता है। जैसे कि कोई सूत के धागे के लिए मोतियों के हार को तोड़ता है अथवा कोदों धान्य के खेत की बाड़ी के लिए चन्दन के वन को काटता है। छाछ के लिए रत्न बेचता है या भस्म के लिये रत्न-राशि जलता है। यह ठीक है कि जो शुद्धात्मा की भावना को बनाये रखने के लिए बहिरंगव्रत-तपश्चरण या दानपूजादि करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१५३॥

शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म मोक्षमार्ग में रोड़ा अटकाने वाले हैं, अतः दोनों ही निषिद्ध हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म कुशील हैं, हीन-स्वभाव वाले हैं, इसलिए इन दोनों के साथ ही तुम लोग प्रीति मत करो, और इनके साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध भी मत रक्खो। क्योंकि कुशीलों के संसर्ग से और उनके साथ प्रेम करने से अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है ॥१५४॥

टीका—तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं इसलिए खोटे-स्वभाव वाले शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मों के साथ मानसिक-प्रेम मत करो, बाह्य-वचन एवं काय-गत संसर्ग भी मत करो। क्योंकि **साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण** कुशीलों के साथ प्रेम करने से स्वाधीनता का अवश्य ही नाश होता है, निर्विकल्प-समाधि का विघात होता है। अतः अपना अहित होता है अर्थात् स्वाधीन जो आत्मसुख है उसका नाश होता है ॥१५४॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो, संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो ।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा, स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥१५४॥

अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा दृष्टांन्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयन्ति—

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१५५॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा ॥१५६॥ (युग्मम्)

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा । **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च** तेन समकं सह बहिरङ्गवचनकायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च वर्जयतीति दृष्टान्तः । **एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं** एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन कर्मणः प्रकृतिःशीलं स्वभावं कुत्सितं हेयं ज्ञात्वा । **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्यां परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य कर्मणः । के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणता-भेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरताः साधव इति दार्ष्टान्तः ॥१५५-१५६॥

अब आचार्य कुन्दकुन्द देव स्वयं दृष्टांत देकर इसी बात को और स्पष्ट करते हैं कि दोनों ही कर्म निषिद्ध हैं—

अर्थ—जैसे कोई पुरुष किसी को खराब स्वभाव वाला जान लेता है तो फिर उसके साथ न तो प्रेम करता है और न किसी प्रकार का सम्बन्ध ही रखता है । वैसे ही सहज स्वभाव का धारक ज्ञानी जीव भी सभी कर्म प्रकृतियों के शील, स्वभाव को बुरा जानकर उनके साथ राग करना और सम्बन्ध रखना छोड़ देते हैं एवं निज स्वभाव में लीन रहते हैं ॥१५५-१५६॥

टीका—जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता जबकि कोई पुरुष किसी को बुरे स्वभाव वाला अच्छी तरह समझ लेता है तो **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च** उसके साथ शरीर से संसर्ग छोड़ देता है साथ ही बोलना भी छोड़ देता है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार का मानसिक प्रेम भी नहीं रखता । **एवमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं** उसी प्रकार कर्मप्रकृतियों के शील–स्वभाव को निन्दनीय जानकर **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** उनके साथ वचन और काय से भी संसर्ग छोड़ देते हैं और मन से भी राग करना छोड़ देते हैं । कौन छोड़ देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रकार के द्रव्य और भावगत पुण्य-पाप के परिणाम का परिहार करने में परिणत ऐसे अभेदरत्नत्रय लक्षण वाले निर्विकल्प समाधि में जो लोग तत्पर रहते हैं वे साधु छोड़ देते हैं ॥१५५-१५६॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी जो कि एकान्त से निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्हीं को लक्ष्य में लेकर लिखा है । इसलिए लिखते हैं कि हे साधो ! तुम

संरक्षणार्थ निज को लख तस्करों को, जैसा यहाँ मनुज सज्जन, दुर्जनों को ।
संसर्ग राग उनका झट छोड़ देत, देता न साथ, उनसे मुख मोड़ लेता १५५॥
वैसा हि दुःख सुखदों अशुभों-शुभों को, कर्मों असार जड़-पुद्गल के फलों को ।
शुद्धात्म में निरत साधु विसारते हैं, सानन्द वे समय-सार निहारते हैं ॥१५६॥

अथोभयं कर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बन्धहेतुं, न केवलं बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं चागमेन साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ।।१५७।।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो यस्मात् कारणात् रक्तः सन् कर्माणि बध्नाति । मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विरागसम्पन्नः । **एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज** एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्ता, किं करोति ? उभयं कर्मबन्धहेतुं, न केवलं बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्मणि मा रज्यस्व रागं मा कुर्विति । एवं यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्धनिश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेन्द्रियसुखदुःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् ।।१५७।।

लोगों के लिए जिस प्रकार चोरी करना और झूंठ बोलना आदि कर्म हेय हैं; उसी प्रकार दान पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नहीं हैं । क्योंकि उनको करते रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती है । निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ेगा । इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिये ऐसा ही समझले तो, या तो उसे गृहस्थाश्रम को छोड़ देना होगा नहीं तो वह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा । अतः उसे तो चोरी जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान-पूजा आदि सत्कर्म करते हुये अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए ।

अब दोनों ही कर्म शुद्धनिश्चयनय से न केवल बंध के ही कारण हैं अपितु निषेध करने योग्य भी हैं ऐसा आगम से सिद्ध करते हैं—

अर्थ—रागी जीव तो कर्मों का बंध करता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मों से मुक्त होता है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मों में रंजायमान मत होओ ।।१५७।।

टीका—रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो क्योंकि जो रागी जीव होता है वह निरंतर कर्मबंध करता रहता है और कर्मजनित भावों में जो विरागसम्पन्न होता है वह मुक्त हो जाता है **एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज** यह स्पष्ट रूप से जिन भगवान् का उपदेश है कि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार का कर्म बन्ध का हेतु है, इसलिए वह हेय भी है । फलतः शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के संकल्प-विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो निर्विकार सुखामृत रूप रस उसका स्वाद लेने से तृप्त होकर तुम शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के कर्म में रुचि मत करो अर्थात् राग करना छोड़ दो । इस प्रकार यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय के द्वारा द्रव्य रूप पुण्य और पाप में भेद है तथापि अशुद्ध-निश्चयनय से देखा जाये तो कोई भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से छः गाथायें हुईं ।।१५७।।

विशेषार्थ—यहां टीकाकार स्पष्ट कर बता रहे हैं कि जो त्यागी होकर परम समाधि में लगा रहना चाहता है, उसके लिए क्या शुभ और क्या अशुभ सभी कर्म उपेक्षणीय होते हैं, किन्तु

जो राग में रँग रहा वसुकर्म पाता, योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता ।
ऐसा जिनेश कहते शिव है विधाता, रागी ! विराग बन क्यों रति गीत गाता ।।१५७।।

अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं मोक्षकारणं कथयति—

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५८॥

परमट्ठो खलु समओ परम उत्कृष्टार्थः परमार्थः । स कः ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु-परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थः परमार्थः सोऽपि स एव । अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थ सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुटं समओ सम्यगयते गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः । अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः । अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव **सुद्धो** रागादिभावकर्मरहितो यः सोऽपि स एव । **केवली** परद्रव्यरहितत्वेनासहायः केवली सोऽपि स एव । **मुणी** मुनिः प्रत्यज्ञानी स एव । **णाणी** विशुद्धज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी सोऽपि परमात्मैव । **तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्व-सम्वेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवन्ति लभन्त इत्यर्थः ॥१५८॥

जहाँ समाधि से हटकर कर्तव्यशीलता पर मन आया कि वहां पापाचार से बचे रहने के लिए परिश्रमशीलता और विश्वासपात्रता जैसे सत्कर्मों में प्रयत्नपूर्वक लग जाना आवश्यक है ।

अब आगे विशुद्धज्ञाननाम वाला परमात्मतत्व ही मोक्ष का कारण है, ऐसा बताते हैं—

अर्थ—निश्चय कर परमार्थरूप जीवात्मा का स्वरूप ऐसा है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है अर्थात् संसार की बातों से मौन रखने वाला है और ज्ञानी है । इस प्रकार ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव में स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनि लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥१५८॥

टीका—परमट्ठो खलु समओ वास्तव में शुद्धात्मा ही परमार्थ है, सर्वोत्कृष्ट अर्थ है, क्योंकि धर्म, अर्थ और मोक्ष स्वरूप है वह परमात्मरूप ही है अथवा मति श्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन भेदों से रहित होते हुये ज्ञान-स्वरूप है, वही निश्चय से परमार्थ है । वह भी परमात्मस्वरूप ही है । क्योंकि समय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है कि 'सम्यक् अयते शुद्ध-गुण-पर्यायान् परिणमति स समयः' अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुण और पर्यायों में रहता है वह समय कहलाता है अथवा 'सम्यक् अयः' संशयादि रहित ज्ञान जिसको होता है वह समय है अथवा 'सम्' यह एकता का नाम है अतः एक रूप से परम-समरसीभाव से जो अपने शुद्ध स्वरूप में 'अयन' अर्थात् गमन—परिणमन करना वह समय कहलाता है । **सुद्धो** शुद्ध है रागादि-भाव-कर्म से रहित है । [इस प्रकार समय नाम परमात्मा का ठहरता है] **केवली** केवली शब्द का अर्थ होता है सहाय रहित, अतः पर-द्रव्य की सहायता से रहित होने के कारण वही केवली भी है । **मुणी** [लौकिक बातों से दूर होने के कारण] वह परमात्मा ही मुनि भी है । **णाणी** विशुद्ध-ज्ञान जिसको हो वह ज्ञानी होता है अतः वह प्रत्यक्षज्ञानी परमात्मा भी है । **तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** उसी परमात्म स्वभाव में स्थित रहने वाले—तन्मयता रखने वाले वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में लीन मुनि एवं तपस्वी-जनी ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥१५८॥

ये केवली समय औ मुनि शुद्ध ध्यानी, एकार्थ के वचन हैं परमार्थ ज्ञानी ।
साधू स्वभाव रत वे निज धाम जाते, आते न लौट भव बीच विराम पाते ॥१५८॥

अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसंवेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबन्धकारणमेवेति प्रतिपादयति—

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५९॥

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति । **तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू**—तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवन्ति कथयन्ति । के ते ? सर्वज्ञाः । कस्मात् ? इति चेत्, पुण्यपापोदयजनितसमस्तेन्द्रिय-सुखदुःखविकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वात् इति ॥१५९॥

अथ स्वसंवेदनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षबन्धहेतू दर्शयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥

अब उपर्युक्त परमात्मा स्वरूप में अस्थिर रहने वाले एवं स्वसंवेदन ज्ञान से रहित अज्ञानी जीवों का व्रत-तपश्चरणादि पुण्य बन्ध का कारण है, ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञदेव 'अज्ञानतप' और 'अज्ञानव्रत' कहते हैं ॥१५९॥

टीका—परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि उपर्युक्त परमार्थ लक्षण-वाले परमात्म स्वरूप में जो स्थित नहीं है, अर्थात् उससे दूर हो रहा है फिर भी जो तपश्चरण-करता है और व्रतादि को धारण करता है । **तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू** उस तप को बालतप **अज्ञानतप** और उसके व्रत को बालव्रत **अज्ञानव्रत** नाम से सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं । क्योंकि उसका वह तप और व्रत, पुण्यपाप के उदय से होने वाले, समस्त इंद्रिय जनित सुख के अधिकार से रहित जो अभेदरत्नत्रय सो ही है लक्षण जिसका एसे विशिष्ट ज्ञान के आनंद से रहित है ॥१५९॥

विशेषार्थ—यहां पर 'ज्ञान' शब्द से सामान्य ज्ञान न लेकर शुद्धात्मज्ञान, वीतराग निर्विकल्प ज्ञान को ही लिया गया है । अतः उससे रहित जो कोई आचरण या अनुष्ठान है वह ज्ञान रहित कहा गया है ।

आगे स्वसंवेदन ज्ञान को मोक्ष का कारण और अज्ञान को बंध का कारण क्रमशः बतलाते हैं—

अर्थ—यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, शील पालते हैं, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इसलिये वे सब अज्ञानी हैं ॥१६०॥

आतापनादि तप से तनको तपाना, अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना ।
है सन्त बाल तप संयम वो कहाता ऐसा जिनेश कहते भव में घुमाता ॥१५९॥
लो ! अज्ञ साधु यम संयम शील धारी, शास्त्रानुसार करता तप धीर भारी ।
मानो कि लीन परमार्थ समाधि में है, पाता न पार दुख पाय भवाब्धि में है ॥१६०॥

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणाद्भेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयन्तः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभन्ते । कस्मादिति चेत् ? **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवन्त्यज्ञानिनः । अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभन्ते । तदपि कस्मात् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थादबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवन्ति । ज्ञानिनां तु मोक्षो भवत्येवेति । किं च विस्तरः । व्रतनियमशीलबहिरङ्गतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवतीति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति, तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवतीति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं सिद्धमिति ? नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति । एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परम्परया मुक्तिकारणभूतास्तेऽपि न सन्ति । ये पुनरशुभविषयकषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न सन्ति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते । तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरङ्गतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ॥१६०॥

टीका--वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता जिसमें तीन गुप्तियों का पालन हुआ करता है ऐसी परम-समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्त्ती हैं, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुये और तपश्चरण करते हुये भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** पूर्वोक्त भेदज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते हैं, इसलिये अज्ञानी होते हैं। फलतः अज्ञानियों को मोक्ष कैसे हो सकता है ? हां, जो परमसमाधि स्वरूप-भेदज्ञान से युक्त हैं; वे व्रत, नियम और शीलों को बिना धारण किये भी और बाह्य-द्रव्य रूप तपश्चरण को न करते हुये भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे पूर्वोक्त भेदज्ञान-रूप परमार्थ से युक्त होते हैं; इसलिये वे ही ज्ञानी भी होते हैं। और जब ज्ञानी होते हैं तो ज्ञानियों को मोक्ष होना हो चाहिये। वहां पर कोई शंका कर सकता है कि व्रत नियम, शील और बहिरंग तपश्चरण न करते हुये भी मोक्ष होता है तो संकल्प-विकल्प-रहित जीवों के विषयों के व्यापार होते हुये भी पाप नहीं है तथा तपश्चरण के बिना ही मोक्ष हो जाता है तब तो फिर सांख्य और शैव मतानुसार लोगों का कहना ही ठीक हो गया ? परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनेक वार ऐसा बताया जा चुका है की निर्विकल्प रूप तीन गुप्तियों से युक्त ऐसी जो परम-समाधि वही है लक्षण जिसका इस प्रकार के भेद-ज्ञान के काल में जो शुभ-रूप मन, वचन, काय के व्यापार हैं जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण होते हैं, वे भी नहीं रहते तो फिर अशुभ-विषय-कषाय के व्यापार रूप जो मन, वचन, काय की चेष्टा है वह तो वहां रहेगी ही कैसे ? क्योंकि चित्त में होने वाले रागभाव के नष्ट हो जाने पर वहां बहिरंग-विषयों में होने वाला व्यापार नहीं देखा जाता। जैसे कि तुष के भीतर और तंदुल के ऊपर की ललाई जहां दूर हो गई वहां फिर तुष का सद्भाव कैसा ? इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के समय बाह्य-विषय सम्बन्धी-व्यापार कभी नहीं रह सकता। क्योंकि जैसे शीत और उष्ण में परस्पर-विरोध है वैसे ही निर्विकल्प-समाधि-लक्षण-भेदज्ञान और विषय-कषाय-रूप-व्यापार इन दोनों में परस्पर-विरोध है; दोनों एक जगह एक काल में नहीं रह सकते ॥१६०॥

अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां विहाय तेन पुण्यमेवैकान्तेन मुक्तिकारणं ये वदन्ति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१६१॥

इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छन्तोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणपरमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्तं परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः सन्तः संसारगमनहेतुत्वेन बन्धकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छन्ति । किं कुर्वन्तः? अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानन्तः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, बन्धहेतुमपि पुण्यं मोक्षहेतुमिच्छन्ति किं कुर्वन्तः ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकं मोक्षकारणमजानन्तः सन्त इति । किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति अथवा निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः । इति वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावनासहितं पुनर्बहिरङ्गसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति

अब जो वीतराग सम्यक्त्व स्वरूप-शुद्धात्मभावना को छोड़कर एकांत रूप से पुण्यरूप-शुभ-चेष्टा को ही मुक्ति का कारण बताते हैं, उनके निराकरण करने के लिये आगे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जो लोग उपर्युक्त परमार्थ से बाह्य हैं; परमार्थभूत आत्मा का जो अनुभव नहीं करते हैं वे लोग अपने अज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को ही अच्छा मान कर उसे करते रहते हैं जो कि संसार को बनाये रखने का हेतु है, क्योंकि वे लोग मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप जो आत्मा उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं ॥१६१॥

टीका– यहाँ कितने ही ऐसे जीव हैं जो सकल कर्म के क्षय रूप मोक्ष को चाहते हुये भी और आरम्भ में दीक्षा के समय निज परमात्म भावना में परिणत जो अभेदरत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस परम सामायिक को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करके भी चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्धात्मा के सही श्रद्धान को और उसकी ठीक जानकारी को तथा तदनुरूप अनुष्ठान की सामर्थ्य को नहीं प्राप्त होने से उस पूर्वोक्त परम सामायिक को प्राप्त नहीं हो सकते हैं । अतः परमार्थ से वंचित रहते हुये संसार को ही बनाये रखने का हेतु ऐसे पुण्य को ही अपने अज्ञान भाव के द्वारा करते रहते है; क्योंकि वे लोग अभेद-रत्नत्रयात्मक जो मोक्ष का कारण है उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं । अथवा दूसरी तरह से यों कहो कि जो पुण्य, कर्मबंध का हेतु है उसको मोक्ष का हेतु मानते हैं; क्योंकि वे पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रयात्मक परम सामायिक रूप जो मोक्ष का कारण है उसे नहीं प्राप्त कर पाते हैं । दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प-समाधि के काल में व्रत या अव्रत का किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प का अवसर ही नहीं रहता; इसी का नाम वास्तविक व्रत या निश्चयव्रत है । इसका अभिप्राय यह है कि वीतरागसम्यक्त्व रूप जो शुद्धात्मा की उपादेय भावना है उसके बिना किया हुआ व्रत, तपश्चरणादिक रूप अनुष्ठान केवल पुण्य का कारण होता है । किंतु उस शुद्धात्मा की भावना सहित जो अनुष्ठान है वह मुक्ति का बाहरी साधन है इसलिये वह भी परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से

साधू समाधि-च्युत मूढ़ यथार्थ में हैं, दूरातिदूर परमार्थ पदार्थ से हैं ।
संसार हेतु, शिव हेतु न जानते हैं, वे पुण्य को इसलिए बस चाहते हैं ॥१६१॥

व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् । एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः ।।१६१।। अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहण** मित्यादिसूत्रद्वयं । तदनन्तरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन **वत्थस्स सेदभावो** इत्यादि गाथात्रयं । ततः परं पापं पुण्यं च बन्धकारणमेवेतिमुख्यतया **सो सव्वणाण** इत्यादि सूत्रमेकम् । ततश्च मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **सम्मत्त** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यन्तं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

अथ—तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।१६२।।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं । **तेसिमधिगमो णाणं** तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं । **रागादीपरिहरणं चरणं** तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रं । **एसो दु मोक्खपहो** इत्येष व्यवहारमोक्षमार्गः । अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधि-

---

चार गाथायें समाप्त हुईं । इस प्रकार दश गाथाओं द्वारा पुण्याधिकार समाप्त हो गया ।।१६१।।

अब इसके आगे विकल्प सहितपना होने के कारण से तथा पर का आश्रय रखने के हेतु से, निश्चय से पापाधिकार के कहने की मुख्यता से अथवा निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग की मुख्यता से **जीवादीसद्दहणं** इत्यादि दो सूत्र कहेंगे । इसके बाद **वत्थस्स सेदभावो** इत्यादि तीन गाथायें हैं जो कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं उनके आवरण के करने की मुख्यता से हैं । इसके बाद **सो सव्वणाण** इत्यादि एक गाथा ऐसी आती है जिसमें पाप और पुण्य दोनों ही के बंध के कारण हैं ऐसा कथन है । उसके बाद मोक्ष का कारणभूत जो जीव-द्रव्य उस आवरण का कथन करने वाली अर्थात् उसकी पराधीनता का वर्णन करने वाली **सम्मत्त** इत्यादि तीन गाथायें हैं । इस तरह से आगे आने वाले तीसरे स्थल की ९ गाथाओं की यह समुदाय पातनिका है ।

अब पूर्वोक्त अज्ञानी जीवों के लिए जो वास्तव में मोक्ष का हेतु है उसे स्पष्ट कर बताते हैं ।

अर्थ—जीवादिक पदार्थों का यथार्थ-श्रद्धान होना सो तो सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन है, और उन्हीं जीवादि-पदार्थों की यथार्थ–जानकारी का नाम सम्यक्ज्ञान है तथा रागादि-विभावभावों को दूर कर देना ही सम्यक्चारित्र हैं । इस प्रकार इन तीनों का एक साथ सम्मिलन मोक्ष का मार्ग है ।।१६२।।

टीका—जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं जीवादि-नवपदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है । **तेसिमधिगमो णाणं** उन्हीं जीवादि--पदार्थों का संशय-उभय कोटि ज्ञान, विमोह-विपरीत एक कोटि ज्ञान, विभ्रम–अनिश्चित ज्ञान, इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है । **रागादीपरिहरणं चरणं** और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक-विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक्चारित्र कहलाता है । **एसो दु मोक्खपहो** यह व्यवहार-

---

तत्त्वार्थ की रुचि सुदर्शन नाम पाता, औ तत्त्व को समझना वह ज्ञान साता ।
रागादि त्याग करना वह वृत्त होता, तीनों मिलें बस वही शिव पन्थ होता ।।१६२।।

गतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वम् । तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम् । तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति निश्चयमोक्षमार्गः ।।१६२।।

अथ—निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति—

मोक्षमार्ग है । हाँ, भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि-पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक-ठीक अवलोकन करना, निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है । और उन्हीं जीवादि-पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय-सम्यग्ज्ञान है । और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप-विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चयसम्यक्चारित्र है । इस प्रकार यह निश्चयमोक्षमार्ग हुआ ।।१६२।।

विशेषार्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है, आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है । यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो भागों में विभक्त है । अनादिकाल का भूला यह भव्यात्मा जिन–भगवान् से जीवादि-सप्ततत्त्वों का या नव पदार्थों का स्वरूप सुनाता है और उनके बतलाने के अनुसार उनके स्वरूप को स्वीकार करता है । इसी प्रकार उन्हें अपनी प्रतीति में लाता है, और उनके आश्रय से अपने मन में उपजने वाले रागद्वेष को दूर करने का प्रक्रम रचता है । यह व्यवहाररत्नत्रय हुआ । और अपने आत्मा के निर्विकल्प शुद्धस्वरूप में उन सप्ततत्त्वों को नवपदार्थों के स्वरूप को भिन्न प्रकार का अर्थात् निर्विकल्पात्मक जानते हुए उससे ऊपर उठकर केवल अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में रुचि, प्रतीति तथा तल्लीनता प्राप्त करता है । इसको निश्चयरत्नत्रय कहते हैं । व्यवहाररत्नत्रय-कारणरूप होता है और निश्चयरत्नत्रय उसका कार्य है । अथवा यों कहो कि प्रमादात्मक गृहस्थपन से निकलकर जब यह जीव अप्रमत्तरूप संयम को स्वीकार करता है उस समय उसकी दो धारायें होती हैं । प्रथम तो यह कि आत्मा के अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों का परित्याग कर देना और दूसरी यह कि आत्मतल्लीन हो रहना । वहाँ समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करने रूप अवस्था विकल्पात्मक होती है, अतः वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है जो कि प्रथम होती है । उसके अनन्तर यह भव्य-जीव आत्मा में निर्विकल्परूप में तल्लीन हो जाता है यह निश्चयमोक्षमार्ग है जो कि दूसरी अवस्था है । इस प्रकार इन दोनों अवस्थाओं को सम्पन्न कर लेने पर आत्मा पूर्ण निराकुल होता है ।

अब निश्चयमोक्षमार्ग का कारण ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप उससे भिन्न जो शुभाशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप कर्म है वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है ऐसा आगे बतलाते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि ।।१६३।।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये । **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वान्सो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते । कस्मात् ? **परमट्ठमास्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति ।।१६३।।एवं मोक्षमार्ग-कथनरूपेण गाथाद्वयं गतं ।

अथ मोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्ष-भूतेन प्रच्छादनं दर्शयति—

अर्थ—निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार में वे ही लोग प्रवृत्ति करते हैं जो आत्मस्वरूप के यथार्थ वेत्ता नहीं हैं—प्रमादी हैं । क्योंकि कर्म का क्षय तो उन्हीं यतीश्वरों के होता है जो परमार्थभूत-आत्मस्वरूप में तल्लीन होते हैं ।।१६३।।

टीका—मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार के विषय में विद्वान्–ज्ञानी-जीव प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि **परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकाग्रतारूप परिणति है लक्षण जिसका ऐसा अपने शुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ को आश्रय करने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ।।१६३।।

विशेषार्थ–"मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे न विद्वांसः प्रवर्तन्ते"–निश्चय को छोड़कर बुद्धिमान् लोग व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते अपितु अपनी आत्मा में रमण करते रहते हैं क्योंकि कर्मों का क्षय इसी से होता है, यह अध्यात्मशैली का कथन है । किन्तु आगमशैली कहती है कि व्यवहार में प्रवृति किए बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः "विद्वांसः व्यवहारेण प्रवर्तन्ते"—विद्वान् लोग व्यवहार मोक्षमार्ग को–त्याग भाव को स्वीकार करके उससे निश्चयमोक्षमार्ग–परम समाधि को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मन की चंचलता से यदि वह प्राप्त की हुई समाधि छूट भी जाये तो भी व्यवहारमोक्षमार्ग जो त्याग भाव है उसे नहीं छोड़ते उसमें लगे रहते हैं ताकि उस त्याग भाव के बल से पुनः समाधि प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकें । हाँ, "निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारे प्रवर्तन्ते ते न विद्वांस" जो लोग निश्चय-मोक्षमार्ग को न प्राप्त करके केवल व्यवहारमोक्षमार्ग में ही मगन रहते हैं वे विद्वान् कहलाने के योग्य नहीं हैं ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग का वर्णन करने वाली दो गाथायें हुईं ।

अब मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो जीव के गुण हैं उनका मिथ्यात्व आदि विपरीत कर्मों द्वारा वस्त्र के मैल के समान आच्छादन होता है इसे बतलाते हैं—

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि, हो निर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि ।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ में हैं, काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ।।१६३।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ।।१६४।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ।।१६५।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ।।१६६।। (त्रिकलम्)

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः । तथैव मिथ्यात्वमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः । तथैवाज्ञानमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः । तथा कषायकर्ममलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षैः प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।।१६४-१६६।।

अर्थ—जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के संबंध से मिट जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूपी मल से, तथा ज्ञान गुण अज्ञानरूप मल से और चारित्र गुण कषायरूपी मल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।।१६४-१६६।।

टीका—जैसे मेल के विशेष संबंध से अवच्छिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वमल के विशेष संबंध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है । जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है । तथा जैसे मैल के विशेष संबंध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दब कर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, होने नहीं देते ।

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल धूल-माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
मिथ्यात्व की मलिनता मुझको न भाती, सम्यक्त्व की उजलता शुचिता मिटाती ।।१६४।।

ज्यों वस्त्र पे चिपकती मल-धूल-माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
अज्ञान की मलिनता चिपकी जभी से, विज्ञान की उजलता मिटती तभी से ।।१६५।।

ज्यों वस्त्र पे चिपकती मल-धूल माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
काषायिकी मलिनता लगती जभी से, चारित्र की उजलता मिटती तभी से ।।१६६।।

अथ कर्म स्वयमेव बन्धहेतुं कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६७॥

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शन-स्वभावोऽपि निजकर्मरजसोवच्छिन्नो झम्पितः सन् । **संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं** संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्मकर्तृजीवस्य स्वयमेव बन्धरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति । एवं पापवत्पुण्यं बन्धकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ॥१६७॥

अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानी तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यत इति प्रकटीकरोति—

इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथायें हुईं ॥१६४–१६६॥

विशेषार्थ—जो लोग निमित्त कुछ भी नहीं करता ऐसा एकान्त हठ करते हैं उनको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय रूप कर्ममलों से क्रम से 'दबे हुए' हैं। दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपड़े आदि को पत्थर आदि के नीचे दबा देते हैं वैसा नहीं है, किन्तु वर्तमान में संसारी आत्मा में सम्यक्त्वादि गुण हैं ही नहीं अपितु मिथ्यात्वादिक ही हैं। हाँ, उन मिथ्यात्वादिकों को आत्मा से दूर करने पर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट हो जाते हैं। जिस प्रकार कपड़े की स्वच्छता कपड़े में आये हुए मैल से नष्ट हो जाती है किन्तु उस मैल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है। सारांश यह है कि निमित्तजन्य विशेषता को लक्ष्य में रखना ही चाहिए किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए।

जबकि कर्म स्वयं बंध का हेतु है फिर वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ऐसा आगे बताते हैं—

अर्थ—आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला-देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है ॥१६७॥

टीका—सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो वह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से समस्त पदार्थों के देखने-जाननेरूप दर्शन और ज्ञानस्वभाव वाला है फिर भी अपने किये हुए कर्मरूपी मैल से ढँका हुआ है। **संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं** संसार-सम्पन्न है—रागद्वेषी हो रहा है, अतः संसार में उलझा हुआ है इसलिए सर्व-वस्तुओं को सब प्रकार से नहीं जान रहा है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि कर्म स्वयं ही जीव के लिए बंधस्वरूप है इससे यह कर्म मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? और जब मोक्ष का कारण नहीं हो सकता तो फिर वह कर्म चाहे पापरूप हो या पुण्यरूप सारा का सारा बंध का ही कारण समझना चाहिए। इस

आत्मा विशुद्ध-नय से निज भाव स्पर्शी, होगा सकलविज्ञ त्रिकाल-दर्शी ।
पै वर्त्तमान ! विधि से कस के बँधा है, है जानता कुछ नहीं समझो मुधा है ॥१६७॥

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६८॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६९॥

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१७०॥ (त्रिकलम्)

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः। ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी भवतीति ज्ञातव्यः।

प्रकार जैसे पापबंध का कारण है वैसे पुण्य भी बंध का कारण है इस प्रकार का कथन गाथा में हुआ ॥१६७॥

अभी तक यह बतलाया गया है कि मोक्ष के हेतुभूत जो जीव के सम्यक्त्वादि-गुण हैं, वे मिथ्यात्वादिकर्म के द्वारा ढँके हुए हैं, किन्तु अब आगे यह बतलाते हैं कि उन सम्यक्त्वादि-गुणों का आधारभूत जो गुणी जीव है, वह मिथ्यात्वादि कर्मों से अच्छादित हो रहा हैं—

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्व-गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है ॥१६८-१७०॥

टीका—जिन भगवान् ने बतलाया है कि सम्यक्त्व को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व नाम का कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि बन रहा है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। उसके उदय से जीव अज्ञानी है ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है कि

सम्यक्त्व का यदि रहा जग में विरोधी, मिथ्यात्व है, कह रहे जिन, धार-बोधि ।
मिथ्यात्व के उदय में यह जीव होता, मोही कुदृष्टि, दुख से दिन-रैन रोता ॥१६८॥
आलोक का तम विरोधक ज्यों बताया, अज्ञान ज्ञान गुण का जिनदेव गाया ।
अज्ञान के उदय में यह जीव होता, कर्त्तव्य मूढ़ फिरता भव बीच रोता ॥१६९॥
चारित्र का रिपु कषाय, कषाय-त्यागी, ऐसा जिनेश कहते, प्रभु-वीतरागी ।
दुःखात्मिका उदय में कुकषाय आती, तो जीव को चरितहीन बना सताती ॥१७०॥

चारित्रस्य प्रतिनिबद्धः प्रतिकूलः क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरैः परिकथितः तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवतीति ज्ञातव्यः। एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो जीवो वा मुक्तिकारणं भवति। तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं, तदव्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकरणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्यमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतम् ॥१६८-१७०॥ द्वितीयपातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गतम्। अत्राह शिष्यः। **जीवादीसद्दहण** मित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं, तिष्ठति कथं पापाधिकार इति? तत्र परिहारः—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेन पराधीनत्वात्पततीति नश्यतीत्येकं कारणम्। निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पावलम्बनेन स्वरूपात्पतनं भवतीति द्वितीयं कारणम्। इति निश्चयनयापेक्षया पापम्। अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति वा पापाधिकारः।

तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृङ्गाररहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रान्तम्।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थः पुण्यपापाधिकारः समाप्तः।

चारित्र को रोकने वाला उसका प्रतिपक्ष भूत क्रोधादि-कषाय है जिसके उदय से यह जीव चारित्र से रहित अचारित्री हो रहा है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार मोक्ष का कारणभूत जो यह जीव गुणी है उसके आवरण के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

साराँश यह है कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं सो ये मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों में परिणमन करने वाला जीव स्वयं मोक्ष का कारण है। किन्तु उस शुद्धजीव से पृथग्भूत जो शुभ व अशुभ मन-वचन-काय के व्यापाररूप-कर्म हैं अथवा उस व्यापार से उपार्जित किये हुए अदृष्टरूप शुभाशुभ-कर्म हैं वे मोक्ष के कारण नहीं हैं। अतः वे हेय हैं त्याज्य हैं [यतियों के लिये समादरणीय नहीं हैं] इस प्रकार के व्याख्यान से नव-गाथायें पूर्ण हुईं। दूसरी पातनिका के अभिप्राय से पापाधिकार के व्याख्यान की मुख्यता से कथन पूर्ण हुआ ॥१६८-१७०॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि इस अधिकार में आचार्य ने **जीवादीसद्दहणं** इत्यादि रूप से व्यवहाररत्नत्रय का कथन किया है फिर यह पापाधिकार कैसे हो सकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्ग, निश्चयरत्नत्रय जो उपादेयभूत है, उसका कारण होने से उपादेय है-ग्रहण करने योग्य है तथा परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण है, इससे पवित्र भी है तथापि बाह्यद्रव्यों के अवलम्बन को लिए हुए होता है इसलिए पराधीन होने से वह [मोक्ष होने से पहले ही] नाश को प्राप्त होता है यह एक कारण है। दूसरा कारण यह है कि निर्विकल्पसमाधि में तत्पर होने वाले योगियों का अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतन व्यवहार-विकल्पों के अवलंबन से हो जाता है। इसलिए व्यवहारमोक्षमार्ग पाप रूप है अथवा इस अधिकार से सम्यक्त्वादि जीव के गुणों से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व आदि भावों का व्याख्यान किया गया है इससे भी यह पापाधिकार है।

इस प्रकार व्यवहारनय से कर्म यद्यपि पुण्य-पापरूप दो प्रकार का है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा तो शृंगार रहित पात्र के समान पुद्गलरूप से एक रूप होकर रंगभूमि से निकल गया।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** कृत शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण को रखने वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार के व्याख्यान में तीन स्थल के समुदायरूप से १९ गाथाओं द्वारा यह पुण्यपापाधिकार नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ। इति चतुर्थाधिकारः समाप्तः।

आस्रवाधिकारः

अथ प्रविशत्यास्रवः । यत्र सम्यग्भेदभावनापरिणतः कारणसमयसाररूपः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरविपक्षद्वारेण सप्तदशगाथापर्यन्तमास्रवव्याख्यानं करोति । तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न सन्तीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण **मिच्छत्तं अविरमणं** इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन **भावो रागादिजुदो** इत्यादि स्वतन्त्रगाथात्रयम् । ततः परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य संज्ञानिजीवस्य रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन **चहुविह** इत्यादि गाथात्रयम् । अतः परं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यतया **सव्वे पुव्वणिबद्धा** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम् । तदनन्तरं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं भवन्ति, तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन **रागो दोसो** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्तदशगाथाभिः पञ्चस्थलैः आस्रवाधिकारसमुदायपातनिका ।

अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूपं कथयति—

जहां पर सम्यक्रूप से भेदभावना में परिणत जो कारण समयसार रूप संवर नहीं होता, वहां आस्रव होता है जो कि संवर का प्रतिपक्षी है उसी आस्रव का व्याख्यान आचार्य देव १७ गाथाओं में करते हैं। उसमें पहले '**मिच्छत्तं अविरमणं** आदि तीन गाथाएं हैं। उसमें संक्षेप से वह बतलाया है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव नहीं होते उसके बाद '**भावो रागादीजुदो**' इत्यादि तीन गाथायें स्वतन्त्र रूप से कही गई हैं जिनमें राग-द्वेष और मोहरूप आस्रवों का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। उसके बाद '**चहुविह**' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बताया है कि केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्यसमयसार है उसका कारणभूत जो निश्चय–रत्नत्रय उसमें परिणत होने वाला जो ज्ञानी जीव है उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते। इसके पश्चात् '**सव्वे पुव्वणिबद्धा**' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता से यह बतलाया है कि उस ज्ञानी जीव के यद्यपि मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों का अस्तित्व पाया जाता है फिर भी वीतराग चारित्र की भावना के बल से उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते। उसके बाद '**रागो दोसो**' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता से यह बतलाया है कि नवीन द्रव्यकर्म के आने में [आस्रव] कारणभूत जो द्रव्यप्रत्यय हैं उनके भी कारण जीवगत रागादि भावप्रत्यय हैं। इस प्रकार सब मिला कर पाँच स्थलों की १७ गाथाओं से आने वाले आस्रव अधिकार की समुदाय पातनिका हुई ।

आगे द्रव्य और भाव आस्रव का स्वरूप कहते हैं––

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेदा जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१७१॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१७२॥

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कथंभूताः भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः। अथवा संज्ञाः, आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपाः असंज्ञाः ईषत्संज्ञाः इहलोकाकांक्षापरलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तिस्रः। कथंभूताः ? एते **बहुविहभेदा जीवे** उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे, अधिकरणभूते। पुनरपि कथंभूताः ? **तस्सेव अणण्णपरिणामा** अनन्यपरिणामाः, अभिन्नपरिणामाः तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति। **णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति** ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्ययाः उदयागताः सन्तः निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवन्ति। **तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादि भावकरो** तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणं भवति। कथंभूतः ? रागद्वेषादिभावकरः

अर्थ— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कारणरूप आस्रव हैं। जो कि चेतना के और जड़ पुद्गल के विकार रूप से दो-दो प्रकार के हैं। उनमें जो चेतन के विकार हैं, वे जीव में बहुत भेद लिए हुए हैं। वे उस जीव के ही अभेद रूप परिणाम हैं। और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं वे ज्ञानावरणादि रूप कर्मों के बंध के कारण हैं। और उन मिथ्यात्व आदि भावों को भी रागद्वेष आदि भावों का करने वाला जीव कारण होता है ॥१७१-१७२॥

टीका—मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु यहाँ 'सण्णसण्णा' इसमें प्राकृत व्याकरण के अनुसार अकार का लोप हो गया है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप बंध के कारण ये भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से भावप्रत्यय चेतन-स्वरूप व द्रव्य प्रत्यय जड़-स्वरूप हैं अथवा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। और, इहलोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा तथा कुधर्म की आकांक्षा-रूप तीन असंज्ञायें हैं अर्थात् ईषत् संज्ञायें हैं। ये कैसी हैं कि ? **बहुविहभेदा जीवे** आधारभूत जीव में वे संज्ञायें उत्तर-भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। **तस्सेव अणण्णपरिणामो** जो कि अशुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से उस जीव के परिणाम-स्वरूप उससे अभिन्न होते हैं। **णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति** उदय में आये हुए जो पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि-द्रव्य- प्रत्यय हैं वे निश्चय-चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले अर्थात् उसके बिना नहीं होने वाले वीतराग-सम्यग्दर्शन के अभाव में शुद्धात्मीक-स्वरूप से च्युत होने वाले जीवों के ज्ञानावरणादि आठ प्रकार द्रव्य-कर्मास्रव के कारण होते हैं। **तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो** और इन द्रव्य-प्रत्ययों का भी कारण, राग-

---

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग, ये हैं अचेतन सचेतन से त्रियोग ।
संयोग रूप जड़ है पुनि आत्म रूप, होते अनेक विध हैं अघ दुख कूप ॥१७१॥
संयोग रूप जड़ प्रत्यय हेतु होते- दुष्टाष्ट कर्म दल के दुख बीज बोते ।
रागादिमान उनके पुनि हेतु होते- होते तभी नित दुखी जग जीव रोते ॥१७२॥

रागद्वेषादिभावपरिणतः। अयमत्र भावार्थः–द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावानां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदा संसार एव। कस्मात् इति चेत् ? संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बन्धकारणं न भवति, इति चेत् ? तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति ॥१७१-१७२॥

अथ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१७३॥

णत्थि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** न भवतः, न विद्येते। कौ ? तौ आस्रवबन्धौ। गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतं।

द्वेषादि भावों का करने वाला तद्रूप परिणत रहने वाला संसारी-जीव होता है। भावार्थ यह है कि पूर्व में बाँधे हुए द्रव्य-कर्मों का उदय होने पर जब यह जीव अपने शुद्धात्मस्वरूप की भावना को छोड़कर रागादिरूप में परिणमन करता है तब इसके नवीन-द्रव्य-कर्मों का बंध होता है। किन्तु केवल द्रव्य-प्रत्ययों के उदयमात्र से बन्ध नहीं होता। क्योंकि यदि उदयमात्र से ही बंध होने लगे तो संसार बना ही रहेगा—कभी उसका अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का उदय सदा ही बना रहता है। इस पर शिष्य शंका करता है कि कर्मोदय तो बंध का कारण नहीं ठहरा ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि निर्विकल्प-समाधि से भ्रष्ट होने वाले जीवों के कर्म का उदय मोह सहित ही होता है जो कि व्यवहार से कर्मबंध का निमित्त होता है, किन्तु निश्चयनय से तो अशुद्ध-उपादान है कारण जिसका ऐसा जीव का अपना रागादि-अज्ञान भाव ही कर्म बन्ध का कारण है ॥१७१–१७२॥

विशेषार्थ—सारांश यह है कि कर्मोदय के विना नवीन-बंध नहीं होता किन्तु कर्मोदय के साथ-साथ जब जीव के रागादि-रूप-विकार भाव होते हैं तब ही नवीन-बंध होता है। बंध के कारण मूल में जीव के रागद्वेषादि-विकार-भाव होते हैं। जहाँ वे रागद्वेषादि-विकार-भाव नष्ट हुए वहाँ वीतरागी-सम्यग्दृष्टि-जीव के बंध नहीं होता केवल योगजन्य-आस्रवभाव होता है।

अब आगे बतलाते हैं कि वीतराग-स्वसंवेदन-ज्ञान के धारक जीव के रागद्वेष-मोहरूप-भावास्रवों का अभाव है—

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव-मूलक नवीन-कर्मों का बंध नहीं होता किन्तु उसके आस्रव का निरोध ही होता है और पूर्व में बांधे हुए सत्ता में विद्यमान कर्मों को जानता ही है परन्तु नवीन-कर्मबंध नहीं करता है ॥१७३॥

टीका—**णत्थि** इत्यादि पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाते हैं कि **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** यहाँ गाथा में आस्रव और बंध इन दोनों को समाहार-द्वन्द्व समास-रूप किया है, अतः द्विवचन के स्थान पर एक वचन है। कर्मों का आस्रव और बंध सम्यग्दृष्टि

ना कर्म बंध करता समदृष्टि होता, पै रोक आस्रव सुसंवर तत्त्व जोता।
प्राचीन बंध भर को बस जानता है, पूजूँ उसे झट तजूँ अभिमानता मैं ॥१७३॥

कस्यास्रववबन्धौ न स्तः ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । तर्हि किमस्ति ? आस्रवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति । **सो** स सम्यग्दृष्टिः । **संते** सन्ति विद्यमानानि । **ते** तानि । **पुव्वणिबद्धे** पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादिकर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् । **जाणदि** जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति । किं कुर्वन् सन् ? **अबंधंतो** विशिष्टभेदज्ञानबलान्नवतराण्यभिनवान्यबध्नन्—अनुपार्जयन् इति । अयमत्र भावार्थः । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति । तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टिः—

सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक्क बंधवोच्छिण्णा ।
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को ॥

इत्यादि बन्धत्रिभङ्गकथितबन्धविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबन्धकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति । तेन कारणेनाबन्धक इति । तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यन्तं अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबन्धकः । उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बन्धकः । ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबन्धको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बन्धो नास्तीति न वक्तव्यं । इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१७३॥

जीव के नहीं होता उसके तो आस्रव का निरोध ही है लक्षण जिसका ऐसा संवर होता है। **सो** वह सम्यग्दृष्टि जीव **संते ते पुव्वणिबद्धे** सत्ता में विद्यमान पूर्व निबद्ध-ज्ञानावरणादि कर्म उनको अथवा प्रत्ययों की अपेक्षा से कहें तो पूर्व-निबद्ध-मिथ्यात्वादि-प्रत्ययों को **जाणदि** जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही जानता रहता है। क्या करता हुआ जानता है कि **अबंधंतो** विशिष्ट भेदज्ञान के बल से वह नवीन-कर्मों को नहीं बांधता हुआ जानता है। भावार्थ यह कि सम्यग्दृष्टि-जीव सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से वीतराग सम्यग्दृष्टि-जीव तो नवीन-कर्म-बंध को सर्वथा नहीं करता, जिसको कि लक्ष्य में लेकर यहाँ कथन किया गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव अपने-अपने गुणस्थान के क्रम से बंध-व्युच्छित्ति करने वाला होता है जैसा कि "सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक बंधवोच्छिन्ना। दुगतीसचदुरपुव्वेपणसोलसजोगिणो इक्को।" इत्यादि बंध त्रिभंगी में बताये हुये बंध विच्छेद के क्रम से विचार कर देखें तो चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि-जीव मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में विच्छिन्न हुई ४३ प्रकृतियों का बन्ध करने वाला नहीं होता, किन्तु ७७ प्रकृतियों का अल्पस्थिति-अनुभाग के रूप में बंधक भी होते हुए वह संसार की स्थिति का छेदक होता है परीत-संसारी बन कर रहता है। इस कारण से वह अबंधक ईषत् बंधकार होता है। इस प्रकार अविरतचतुर्थगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में भी जहाँ तक सरागसम्यदर्शन रहता है वहाँ तक जहाँ जैसा संभव है वहाँ तारतम्य-रूप से निचले गुणस्थानों की अपेक्षा से अबंधक होता जाता है। किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा से देखने पर वह बंधक भी है। हाँ, जहाँ सराग-सम्यक्त्व के आगे वीतराग-सम्यक्त्व होता है वह साक्षात् स्पष्ट रूप से अबंधक होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हम भी सम्यग्दृष्टि है और सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता इसलिये हमें भी बंध नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यहाँ पर जितना भी कथन है वह वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर किया गया है जैसा कि आचार्य देव ने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है ॥१७३॥

अथ—रागद्वेषमोहरूपभावानामास्रवत्वं निश्चिनोति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ।।१७४।।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि यथा अयस्कान्तोपलसंपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचिं प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानन्दमव्ययमनादिमनन्तशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मबन्धं कर्तुं प्रेरयति । **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कान्तोपलसंपर्करहितो भावः परिणतिविशेषः कालायससूचिं न प्रेरयति तथा रागाद्यज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबन्धकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मबन्धं कर्तुं न प्रेरयति । तर्हि किं करोति ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति । ततो ज्ञायते निरुपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाद्भिन्ना रागद्वेषमोहा एव बन्धकारणमिति ।।१७४।।

इस प्रकार आस्रव का विपक्षी जो संवर उसकी संक्षेप से सूचना के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

इससे आगे यह निश्चय करते हैं कि रागद्वेष और मोह ये ही आस्रव हैं—

अर्थ—जीव के द्वारा किया हुआ रागादियुक्त-अज्ञानभाव ही नवीन-कर्म के बन्ध होने में कारण होता है । किन्तु रागादि से रहित आत्मा का भाव नूतन-बन्ध का कारण नहीं होता । वह तो केवल जानने वाला ही होता है ।।१७४।।

टीका - भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि जैसे कि चुम्बक-पाषाण के संसर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष वह लोहे की सूची को हिलाने-डुलाने वाला होता है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ रागादिरूप अज्ञान भाव ही—जीव का वह परिणाम विशेष ही—जो यह जीव अपने सहज शुद्ध भाव के द्वारा सदानन्दमय, कभी भी नष्ट नहीं होने वाला, सदा से बना रहने वाला, अनन्तशक्ति का धारक एवं किसी भी प्रकार के दुःसंसर्ग से रहित स्वयं उद्योतमान होने वाला है उस जीव को उसके शुद्ध रूप से चिगाकर कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित करता है । **रागादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** किन्तु जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के संसर्ग से रहित भाव लोहे की सुई को नहीं हिलाता है उसी प्रकार रागादि से रहित जो भाव है वह अबन्धक होता है वह जीव को कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वह तो इसे पूर्वोक्त शुद्ध स्वभाव में ही स्थिर कर रखता है—अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा रखता है । इस कथन से यह जाना जाता है कि किसी भी प्रकार के संसर्ग से रहित चिच्चमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उससे भिन्न स्वरूप जो राग-द्वेष-मोह रूप भाव वे बन्ध के कारण हैं ।।१७४।।

विशेषार्थ— राग-द्वेष-मोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बन्ध का कारण होता है । किन्तु उपर्युक्त तीनों विभावों से रहित आत्मा का शुद्ध-ज्ञानमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं होता । हाँ, राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेषभाव—

ज्यों जीव राग करता निज भूल जाता, तो कर्म बंध करता प्रतिकूल जाता ।
जो राग से मुनि-सुधी मन मोड़ लेता, होता अबंध भव बंधन तोड़ देता ।।१७४।।

अथ—रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति—

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि ।।१७५।।

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृन्ते न बध्यते । **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूप-कर्मभावे कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बन्धं नायाति, नैवोदयं च । ततो रागाद्यभावात् शुद्धभावः संभवति । तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवरपूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः ।।१७५।।

अथ—ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ।।१७६।।

अदेखसकापन से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह भाव–मिथ्यात्व से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है । किन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनों से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है ।

यह रागादि से रहित शुद्ध भाव कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं––

अर्थ—जैसे वृक्ष या बेल का फल पककर गिर जाने पर वह फिर गुच्छ या बेल से संबंध को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी जीव में होने वाला कर्म भाव पककर झड़ जाने पर फिर उदय को प्राप्त नहीं होता है ।।१७५।।

टीका––पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे जैसे पक्के फल के गिर जाने पर फिर वह टहनी में वापिस नहीं लगता । **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव के साता वेदनीय व असाता वेदनीय के उदयजनित सुख-दुखरूप कर्मों की अवस्था फल देकर झड़ जाने पर फिर वह कर्म बंध को प्राप्त नहीं होता और न फिर उदय में ही आता है । क्योंकि ज्ञानी जीव के रागद्वेष और मोहभाव नहीं होता है इसलिए रागादि भावों के नहीं होने से उसके शुद्धभाव हो जाता है अतः उस सम्यग्दृष्टि जीव के विकार से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के बल से संवर पूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसा समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—रागी जीव के जो कर्म उदय होता है वह भोगभूमिया के समान आप जाते समय वह अपनी सन्तान को उत्पन्न कर जाता है, किन्तु राग रहित विरागी जीव का कर्म नपुंसक के समान अपना खेल दिखाकर निःसन्तान नष्ट हो जाता है ।

आगे ज्ञानी–विरागी जीव के नवीन द्रव्यास्रव भी नहीं होता ऐसा दिखलाते हैं–

अर्थ—उस पूर्वोक्त विरागी जीव के पहले अज्ञान अवस्था में बंधे हुए सब ही कर्म पृथ्वीपिंड के समान होते हैं जो कि उसके कार्मण शरीर के साथ बंधे हुए होते हैं ।।१७६।।

आ, जा रहा उदय में फल दे तथापि, वो ही पुनः करम ना बँधता कदापि ।
लो वृक्ष से फल पका गिरता मही पै, जाके पुनः वह नहीं लगता वहीं पै ।।१७५।।
रागादिरूप उपयोग ढला नहीं है, ज्ञानी तभी निरखता विधि को सही है ।
अज्ञान से कुछ बँधे विधि हो पुराणे, दीवार पे चिपकती रज के प्रमाणे ।।१७६।।

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स पृथ्वीपिण्डसमानाः अकिञ्चित्करा भवन्ति। के ते ? पूर्वनिबद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः। कस्य ? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। यतो रागाद्यजनकत्वादकिञ्चित्करास्ततः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबन्धो न भवति। तर्हि पृथ्वीपिण्डसमानाः सन्तः केन रूपेण तिष्ठन्ति ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स** कार्माणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठन्ति न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण। कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति। किञ्च यद्यपि द्रव्यप्रत्ययाः कार्माणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठन्ति तथापि उदयाभावे सुखदुःखविकृतिरूपां बाधां न कुर्वन्ति। तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थः। एवं रागद्वेषमोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतन्त्रगाथात्रयं गतम् ॥१७६॥

अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छति—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु ॥१७७॥

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं बहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वं। चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविधं कर्म कुर्वन्ति। काभ्यां कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः ? इति चेत्–अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सन्तः जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्य-

---

टीका—पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स उस वीतराग-सम्यग्दृष्टि-जीव के पूर्वकाल में निबद्ध मिथ्यात्वादि-द्रव्यप्रत्यय-रागादिभावों के जनक न होने से पृथ्वी-पिंड के समान अकार्यकारी होते हैं क्योंकि वे उसके नवीन-द्रव्यकर्म का बंध नहीं करते। अब जबकि वे नवीन-द्रव्यकर्म का बंध नहीं करते तो पृथ्वीपिंड के समान कैसे रहते हैं ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स** निर्मल आत्मानुभूति–शुद्धात्मा के साथ तन्मयता ही है लक्षण जिसका, ऐसा भेदज्ञान जिसके है उस ज्ञानी के सब ही कर्म शरीररूप से ही रहते हैं। रागद्वेषादि-भावों में जीव को परिणमन नहीं कराते हैं। यद्यपि उस ज्ञानी-जीव के द्रव्यप्रत्यय मुट्ठी में रखे हुए विष-समान कर्मणशरीर से सम्बद्ध रहते हैं तो भी उदय का अभाव होने से फलदानशक्ति के नहीं होने पर वे सब उसको सुख या दुखरूपी विकारमयी बाधा को नहीं कर पाते हैं। इसी कारण से ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता ॥१७६॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव आस्रव रहित किस प्रकार होता है—

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप चार कर्म बंध के कारण हैं वे आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को बाँधते रहते हैं इसलिए ज्ञानी तो स्वयं अबंधक ही हैं ॥१७७॥

टीका—चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं यहाँ पर 'चहुविह' यह शब्द बहुवचन है फिर ह्रस्वान्त पाठ है क्योंकि प्राकृत के व्याकरण के अनुसार ऐसा होता है। मिथ्यात्वादिरूप चार प्रकार के मूल प्रत्यय हैं, वे ज्ञानावरणादि के भेद से अनेक प्रकार के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा बंध को करने वाले हैं। यदि यहाँ कोई शंका करे कि ज्ञानगुण और दर्शनगुण तो आत्मा के गुण हैं, अतः वे बन्ध के कारण कैसे हो सकते हैं ? उसका समाधान करते हैं कि उदय

प्रत्येक काल चउप्रत्यय कर्म–भारा, बाँधे सरागमय–दर्शन–बोध द्वारा।
ज्ञानी अतः न बँधता विधि–बंधनों से, होता विभूषित सदा मुनि सद्गुणों से ॥१७७॥

ज्ञानभावेन परिणमयन्ति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयम् अज्ञानमेव, भण्यते। ततएव **अण्णाणदंसणगुणेहिं** इति पाठान्तरं केचन पठन्ति। **समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु** समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तारः। ज्ञानदर्शनगुणं रागाद्यज्ञानभावपरिणतं कृत्वा नक्तरं कर्म कुर्वन्ति। तेन कारणेन भेदज्ञानी बन्धको न भवति। किन्तु ज्ञानदर्शनरञ्जकत्वेन प्रत्यया एव बन्धकाः, इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धम् ॥१७७॥

अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बन्धहेतुरिति पुनरपि पृच्छति:—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७८॥

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति। तस्मात् जघन्यत्वादेव ज्ञानगुणात् सकाशात्, अन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति जीवः। ततः कारणात् अन्यत्वं सविकल्पकपर्यायान्तरं परिणमति। स कः? कर्ता ज्ञानगुणः। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बन्धको भणितः। अथवा द्वितीय-

---

में आये हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञानभाव के रूप में परिणमा देते हैं। उस समय वह अज्ञानभाव में परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन बंध का कारण होता है। वास्तव में वह रागादिरूप अज्ञानभाव में परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन कहलाता है। इसलिए कुछ लोग 'अण्णाणदंसणगुणेहिं' ऐसा पाठान्तर करके पढ़ते हैं। **समये समये जम्हा तेण अबंधुत्ति णाणी दु** जबकि ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञान में परिणत करके मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही नूतन कर्म बन्ध करते हैं। इसलिए भेद ज्ञानी जीव बन्धक नहीं होता, किन्तु ज्ञान और दर्शन का रंजक—रागरूपकारक होने से उपर्युक्त प्रत्यय ही बंधक होते हैं। इस प्रकार से ज्ञानी जीव का निरास्रवत्व सिद्ध हो जाता है ॥१७७॥

अब ज्ञानगुण का परिणमन भी बन्ध का कारण कैसे होता है सो बताते हैं—

अर्थ—आत्मा का ज्ञान गुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है अर्थात् स्पष्टतया यथाख्यात दशा को प्राप्त नहीं होता तब तक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्यपने को—निर्विकल्पता से सविकल्पता को प्राप्त होता रहता है, इसलिए उस समय में वह नवीन बन्ध करने वाला भी होता है ॥१७८॥

टीका—जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो क्योंकि स्पष्टतया यथाख्यातचारित्र से पूर्व-अवस्था का ज्ञान जघन्य अर्थात् हीनदशावाला—कषायसहित-वृत्तिवाला होता है इसलिए ज्ञानगुण की जघन्यता के कारण से यह जीव अन्तर्मुहूर्त के पीछे निर्विकल्पसमाधि में ठहर नहीं सकता है, इसलिए वह जीव का ज्ञानगुण अन्यरूपता को सविकल्परूप-पर्यायान्तर को स्वीकार करता है। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** उस विकल्प-सहित कषायभाव के कारण वह गुण नूतन-बंध करने वाला होता है। अथवा इस गाथा का इस प्रकार भी अर्थ लिया जा सकता है कि जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञानगुण से काललब्धि के द्वारा

ना निर्विकल्प, सविकल्पक हो तना है, वो ज्ञान-ज्ञान नहि रागमयी बना है।
है बार-बार वह ज्ञान कुकर्म लाता, स्वामिन्! नहीं परम पूरण वृत्त पाता ॥१७८॥

व्याख्यानं । जघन्यात् कोऽर्थः, जघन्यात् मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति । **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबन्धको भणित इत्यभिप्रायः ।।१७८।।

अथ—यथाख्यातचारित्रादधस्तादन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वं । एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् ?

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ।।१७९।।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकारणाभावान्निरास्रव एव । किन्तु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वासमर्थः तावत्कालं

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान मिथ्यापने को त्यागकर अन्यपने को अर्थात् सम्यग्ज्ञानपने को प्राप्त कर लेता है । **तेण दु सो बंधगो भणिदो** इसलिए वह ज्ञान गुण अथवा ज्ञानगुण के स्वरूप में परिणत जीव अबन्धक कहा जाता है ।।१७८।।

विशेषार्थ—ज्ञान शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो 'यथावस्थितं अर्थं जानातीति ज्ञानं,' दूसरा 'आत्मानं जानाति अनुभवतीति ज्ञानं' । दूसरे अर्थ के अनुसार तो समाधिकाल में ज्ञान जब तक अनुभव करता रहता है तब तक वह ज्ञान कहा जा सकता है । ध्यान-समाधि से जहाँ च्युत हुआ कि वह अज्ञान कोटि में आ जाता है और बंध भी करने लग जाता है जैसा कि पहले वाले तात्पर्यवृत्ति के व्याख्यान से स्पष्ट होता है और जिसका समर्थन अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका से होता है । किन्तु पहले वाले अर्थ के अनुसार चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान भी इस शब्द से लिया जा सकता है क्योंकि वह भी जीवादि-नव-पदार्थों का यथार्थ-ज्ञान रखता है । किन्तु इस अर्थ के अनुसार गाथा का जो अर्थ लिया गया है वह कुछ थोड़ा खैंच कर लिया हुआ सा प्रतीत होता है जिसका समर्थन अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मख्याति टीका से भी नहीं होता है । तथा स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने भी स्थान-स्थान पर यही बताया है कि इस ग्रन्थ में जो वर्णन है वह गृहस्थ-सम्यग्दृष्टि को लेकर नहीं किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है ।

जब कि यथाख्यातचारित्र होने से पहले यदि ज्ञानी के बन्ध होता ही रहता है तो ऐसी दशा में ज्ञानी आस्रव रहित कैसे होता है, सो बताते हैं—

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, और चारित्र ये तीनों जब तक जघन्य अवस्था में रहते हैं, (यथाख्यात अवस्था को नहीं प्राप्त होते) तब तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बँधता ही रहता है ।।१७९।।

टीका—दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ज्ञानी-विरागी-जीव इच्छापूर्वक—चलाकर किसी भी वस्तु के प्रति रागादिरूप-विकल्प को अमुक वस्तु मेरी है इत्यादि रूप विचार को कभी नहीं करता, इसलिए बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होने से वह निरास्रव ही होता है, किन्तु जब तक उस ज्ञानी-जीव को भी परम-समाधि का अनुष्ठान नहीं हो पाता तब तक वह भी

सम्यक्त्व-बोध-व्रत ये जबलौं न पूरे, होते सराग फलतः रहते अधूरे ।
ज्ञानी नितान्त तबलौं विधि-बंध बाँधे, साधे न मोक्ष निज को न लखे अराधे ।।१७९।।

तस्यापि संबंधि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं च तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति। **णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण** तेन कारणेन स तु भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परम्परया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते। इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदान-बन्धादिविभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यन्तं शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः। एवं ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१७९॥

अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१८०॥

शुद्धात्मा को देखने में, जानने में और वहाँ स्थिर रहने में असमर्थ होता है, अतः तब तक उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी जघन्य भाव को—अबुद्धिपूर्वक-कषायभाव को व्यक्त रागभाव को लिए हुए होता है—परिणमन करता हुआ रहता है। **णाणी तेण दु बुज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण** इस कारण से वह भेद-ज्ञानी-जीव भी परम्परा से मुक्ति में कारणरूप होने वाले ऐसे तीर्थकरनाम-कर्मादिरूप पुद्गल-प्रकृतिमय नाना प्रकार के पुण्यकर्म से अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार बँधता ही रहता है। ऐसा समझकर प्रत्येक मुमुक्ष को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार की बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा का लाभ तथा भोगों की आकांक्षारूप निदानबंधादि-विभावपरिणामों को त्याग कर साथ-साथ निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर तब तक शुद्धात्मा के स्वरूप को देखता, मानता रहे, जानता रहे एवं उसमें लगा रहे जहाँ तक शुद्धात्मा के परिपूर्ण केवलज्ञानरूप-भाव का दर्शन, ज्ञान और आचरण प्राप्त न कर ले अर्थात् स्वयं केवलज्ञानरूप-अवस्था को न पा लेवे। बस यही इस कथन का तात्पर्य है ॥१७९॥

विशेषार्थ—इसका स्पष्ट सारांश यह है कि ज्ञानी विरागी जीव तो यथाशक्य आत्म समाधि में तल्लीन रहता है, अतः चलाकर तो किसी भी वस्तु से राग-द्वेष और मोहभाव नहीं करता अतः बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा तो वह निरास्रव होता ही है। रही बात अबुद्धिपूर्वक होने वाले अव्यक्त-रागादि-भावरूप-आस्रव की सो उसे मिटा डालने के लिए ही वह बार-बार दृढ़ता के साथ आत्मतल्लीनतारूप-समाधि को प्राप्त करता है जिससे वह अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त होकर पूर्ण-निरास्रव हो जाता है। बस इसीलिए वह निरास्रव कहा जाता है।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के भावास्रव के निषेध की मुख्यता से तीन गाथायें हुईं।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी-जीव द्रव्यप्रत्ययरूप बन्ध के कारण विद्यमान रहने पर भी निरास्रव कैसे होता है सो बताते हैं—

अर्थ—वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के भी पूर्व की सराग दशा में बाँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म सत्ता में विद्यमान रहते हैं जो कि उपयोग में लाने पर नवीन कर्म बंध करने वाले होते हैं, जो कि आयु के बिना ज्ञानावर-

---

बाँधे हुए विगत में विधि-बंध सारे, सम्यक्त्व युक्त मुनि में रहते विचारे।
आते यदा उदय में यदि राग होता, होता नवीन विधि-बंधन, साम्य खोता ॥१८०॥

संतावि णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१८१॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१८२॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१८३॥ (चतुष्कं)

सव्वे पुव्वणिवद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्ययाः सन्ति तावत्सम्यग्दृष्टेः । **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि विद्यन्ते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदयप्रायोग्यकर्मतापन्नं कर्म बध्नन्ति । केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन, न चास्तित्वमात्रेण बन्धकारणं भवन्तीति । **संताविणिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स** सन्त्यपि विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिङ्गव्यभिचारोऽपि, इति वचनान्नपुंसकलिङ्गे पुल्लिङ्गनिर्देशः । पुल्लिङ्गेऽपि नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । कारके कारकान्तरनिर्देशो भवति, इति ।

णादि सात कर्मों का तथा आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले होते हैं । किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि के तो वे सब प्रत्यय निरुपभोग्य रूप से सत्ता में होते हैं उपयोग में आकर रागकारक नहीं होते । अतः नवीन बंध कारक भी नहीं होते । जैसे स्त्री बालावस्था में है तो वह राग पैदा करके उसको विवश करने वाली नहीं होती, अपितु वही स्त्री युवावस्था को प्राप्त होने पर रागोत्पादक होकर विवश करने वाली होती है । इसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि के सत्ता में प्रत्यय विद्यमान होने पर भी बाल स्त्री के समान होने से रागकारक नहीं होते अतः नवीन कर्म बंध करने वाले भी नहीं होते ॥१८०-१८३॥

टीका—सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स उपशम श्रेणी में प्राप्त हुए वीतराग सम्यग्दृष्टि-जीव के पूर्व में बंधे हुए सब ही मिथ्यात्वादि-कर्म सत्ता में विद्यमान होते हैं । **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** वे सब उपयोग में आने पर—तत्काल उदय को प्राप्त होने पर आत्मा में रागद्वेषादि पैदा करने से नूतन-कर्मबन्ध के करने वाले होते हैं । किन्तु पूर्वद्रव्यकर्मों की सत्ता मात्र से बंध करने वाले नहीं होते । **संताविणिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स** कहीं प्राकृत में लिङ्गव्यभिचार भी होता है । नपुंसकलिंग के स्थान में पुल्लिग का और पुल्लिग के स्थान में नपुंसकलिंग का और कारक में कारकान्तर का निर्देश भी हो जाया करता है । जैसे मनुष्य के लिए बालस्त्री उपभोग योग्य नहीं होती वैसे ही उदय से पहले अनुदयदशा में रहने

जैसी यहाँ नव लता सम सौम्य बाला, होती युवा पुरुष की नहिं भोग शाला ।
ज्यों ही वही मद भरे कुचधार पाती, भोग्या, बनी, पुरुष के मन को चुराती ॥१८१॥
वे सुप्त-गुप्त विधि भी नहिं भोग्य होते, आते यदा उदय में फिर भोग्य होते ।
रागादि, जीवकृत-भाव निमित्त पाते, सप्ताष्ट भेद मय कर्म तभी बनाते ॥१८२॥
शुद्धोपयोग बल से समदृष्टि योगी, होता न बंधक अतः, तज भोग भोगी ।
औचित्य आस्रव बिना विधि-बंध कैसा ? हो जाय कारण बिना फिर कार्य कैसा?॥१८३॥

तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवन्ति । केन दृष्टान्तेन ? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य । **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवन्ति । रागादिभावेन नवतराणि च बध्नन्ति । कथं ? यथा तरुणी स्त्री नरस्येति । अथ तमेवार्थं दृढयति । उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीय-स्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवन्ति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबन्धकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नन्ति, नचास्तित्वमात्रेणेति । रागादिभावास्तवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बन्धकारणं न भवन्ति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबन्धको भणित इति । किञ्च विस्तरः, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः, त्रिचत्वारिं-शत्प्रकृतीनामबन्धकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति । तथा चोक्तं सिद्धांते "द्वादशाङ्गावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकरणानि भवन्ति" तद्यथा, तत्र द्वादशाङ्गश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः । निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदन-

---

वाले पूर्वबद्धकर्म-फलकारक नहीं होते **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** किन्तु उदय काल में ही वे सब कर्म उपभोग के योग्य होते हैं—फलकारक होते हैं, रागादिरूप-विकारभाव पैदा करने से नूतन-कर्म का बंध करने वाले होते हैं, जैसे स्त्री, तरुण होने पर मनुष्य को रागी बनाकर विवश करने वाली होती है । **होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा** उदय होने से पूर्वकाल में अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार निरुपभोग्य होकर अर्थात् फलकारक न होकर जब उदयकाल को प्राप्त होते हैं तब उपभोग होते हुए फलदायक हुआ करते हैं तब **सत्तट्ठविहा-भूदा णाणावरणादि भावेहिं** यह जीव अपने रागादिभावों के अनुसार आयु-बन्ध के काल में तो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों को और शेष काल में आयुष्क के बिना सात प्रकार के कर्मों को नूतन-कर्म के रूप में बांधता रहता है । किन्तु अस्तित्व मात्र से ही पुरातन-कर्म नूतन-कर्म-बन्ध करने में कारण नहीं हुआ करते अर्थात् बिना रागादिकभाव के द्रव्यकर्म [प्रत्यय] विद्यमान होते हुए भी कर्मबन्ध के कारण नहीं होते इसलिए सम्यग्दृष्टि-जीव अबन्धक होता है ऐसा कहा है । खुलासा इसका यह है कि यह संसारी जीव जब अनन्त-संसारात्मक मिथ्यादृष्टिपन को पारकर चतुर्थगुणस्थान में पहुँचता है तथा अविरत-सरागसम्यग्दृष्टि बनता है तो इसके मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का नूतन-बन्ध होने से रह जाता है शेष ७७ प्रकृतियों का बंध करता रहता है किन्तु पूर्व की अपेक्षा स्वल्प-स्थिति और अनुभाग को लिए हुए बांधता है, एवं संसार की स्थिति को छेदकर उसे परीतसंसार बना लेता है । जैसा कि सिद्धांत में कहा है 'द्वादशांगाव-गमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकारणानि भवंति" (१) परिपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त होना (२) अरहन्त भगवान के प्रति भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ होना (३) शुद्धात्म स्वरूप से एकाग्रतारूप अविचलित परिणाम होना (४) और केवली समुद्घात का होना ये चार कारण संसार की स्थिति को छेदने के लिए होते हैं। वहाँ द्वादशांग के विषय में जो ज्ञान हैं वह व्यवहारनय से इतर जीवादि बाह्य समस्त पदार्थों का श्रुत के द्वारा ज्ञान हो जाना है और निश्चयनय से वीतराग रूप स्वसंवेदनात्मक ज्ञान का हो जाना सो द्वादशांगावगम कहलाता है । भक्ति नाम सम्यक्त्व का है जो व्यवहार से तो पंचपरमेष्ठी की समाराधनारूप होती है वह सराग सम्यग्दृष्टि जीवों के हुआ करती है, किन्तु निश्चय से तो

लक्षणं चेति। भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पञ्चपरमेष्ठ्याराधनारूपा। निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति। न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं एकाग्रपरिणतिरिति। तत्रैवं सति द्वादशाङ्गागमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातम्। भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातम्। अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानन्तरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवन्ति। केषां? छद्मस्थानामिति। केवलिनां तु भगवतां दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणरूपः केवलिसमुद्घातः संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थः। एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बन्धकारणं न भवन्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥१८०-१८३॥

अथ यत एव कर्मबन्धहेतुभूता रागद्वेषमोहा ज्ञानिनो न सन्ति, तत एव तस्य कर्मबन्धो नास्तीति कथयति–

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१८४॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१८५॥ (युगलं)

वह भक्ति वीतराग-सम्यग्दृष्टि जीवों के शुद्धात्म तत्त्व की भावना के रूप में हुआ करती है। निवृत्ति-वापिस लौटना–न होना सो अनिवृत्ति कहलाता है अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत न होना, एकाग्रता रूप परिणमन हो सो अनिवृत्ति है। इस प्रकार द्वादशांग का निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का ज्ञान हो जाना सो द्वादशांगागम कहलाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व का होना सो भक्ति कहलाती है। सराग चारित्र हो जाने पर वीतराग चारित्र का भी होना सो अनिवृत्ति परिणाम है। इस प्रकार भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय के रूप में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं वह संसार की स्थिति के छेदने के कारण होते हैं जो कि छद्मस्थ जीवों के हुआ करते हैं किन्तु केवली भगवान् के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण जो केवली समुद्घात होता है वह संसार की स्थिति छेदने में कारण होता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार द्रव्यप्रत्यय होकर भी रागादिरूप भाव आस्रव के न होने पर नूतनबन्ध करने वाले नहीं होते। इस प्रकार के कथन की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं ॥१८०-१८३॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा के कर्म बंध के कारण राग, द्वेष, मोह नहीं होते। इसी से उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता–

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म बंध के कारण होते हैं। उनकी कारणता को प्रस्फुट कर बताने वाले जीव के राग, द्वेष और मोह भाव हैं जिनके न होने पर मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय होकर भी अपना कार्य नहीं कर पाते। एवं रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते हैं, अतः आस्रव भाव के न होने से सम्यग्दृष्टि जीव के नूतन कर्मबंध

योगी विराग समदृष्टि वही सही है, सम्मोह रोष रति ये जिनमें नहीं है ।
रागादि आस्रव बिना, विधि बंध हेतु, होते न प्रत्यय कभी यह जान रे तू ॥१८४॥
सिद्धान्त में कथित प्रत्यय चार होते, दृष्टाष्ट कर्म जिस कारण बंध होते ।
रागादि हेतु बनते चउ प्रत्ययों के, रागादि का विलय ही विधि-बंध रोके ॥१८५॥

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्ति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। तथाहि, अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः। कस्मात्? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढ़त्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य—"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स।" इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः। कस्मादिति? चेत्; निर्विकारपरमानन्दैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सतिषट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पञ्चमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः। कस्मादिति चेत्? चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचि-

---

नहीं होत. है ॥१८४-१८५॥

टीका—रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष और मोहभाव नहीं होते हैं क्योंकि इन भावों के होने पर सम्यग्दृष्टिपन बन ही नहीं सकता। इसे स्पष्ट कर बतला रहे हैं—सम्यग्दृष्टि जीव के अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले रागद्वेष और मोह भाव नहीं होते—यह पक्ष है क्योंकि, नहीं तो केवलज्ञानादि अनंत गुणों वाले परमात्मा में उपादेयता स्वीकार होकर वीतराग और सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व और नवपदार्थों में रुचि होने रूप व तीनमूढता, आदि पच्चीस दोषरहित तथा "संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती, वच्छल्लं अणुकम्पा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स" इस गाथा में बताये हुए (१) संवेग—धर्म के प्रति अनुराग, (२) निर्वेद—भोगों में अनासक्ति, (३) निंदा—अपने आप को भूल करने वाला मानना (४) गर्हा—गुरुओं के आगे अपनी भूल स्वीकार करना, (५) उपशम—हर्ष और विषाद में उद्विग्न न होना, (६) भक्ति—पंच परमेष्ठियों में अनुराग, (७) वात्सल्य—साधर्मियों के प्रति प्रीतिभाव और (८) अनुकम्पा—किसी को भी दुखी देखकर द्रवित हो जाना इन आठ गुणों वाले चतुर्थगुणस्थान सम्बन्धी सम्यक्त्व की अन्यथा अनुपपत्ति है। यह हेतु हुआ। अथवा अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण नामवाले क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष और मोहभाव सम्यग्दृष्टि-जीव के नहीं होते, यह पक्ष हुआ। क्योंकि, नहीं तो निर्विकार-परमानंदरूप-सुख ही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मा में उपादेयपना होकर षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थों में रुचिरूप तथा तीन-मूढ़तादि पच्चीसदोषरहित-भाव तथा उसी के साथ होने वाले प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा देवधर्मादिक के विषय में आस्तिक्यभाव की अभिव्यक्ति है लक्षण जिसका ऐसे पंचमगुणस्थान के योग्य देशचारित्र के साथ में होने वाला सराग सम्यक्त्व अन्यथा नहीं हो सकता, यह हेतु हुआ। अथवा अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, और प्रत्याख्यानावरणरूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष, और मोहभाव सम्यग्दृष्टि-जीव के नहीं होते, यह पक्ष हुआ। क्योंकि, नहीं तो चिदानंद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा में

रूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्—शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसञ्जातसहजा-नन्दैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुप-पत्तेरिति हेतुः । तथाचोक्तम्—आद्याः सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं । तृतीयाः संयमं तुर्य्या यथाख्यातं क्रुधादयः ॥ इति गाथापूर्वार्द्धे व्याख्यानं गतम् । **तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति**—यस्माद्गाथायाः पूर्वार्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न सन्ति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण उदयमात्रेण वा द्रव्यप्रत्ययाः सम्यग्दृष्टेर्बन्धहेतवो न भवन्तीति । **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि** मिथ्यात्वाविरतिकषाययोग-रूपचतुर्विधो हेतुः ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मणः कारणं भवति । **तेसिं पि य रागादि** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानां उदयागतानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणं भवन्ति । कस्मात् ? इति चेत् **तेसिम-**

उपादेयबुद्धि होकर षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थों में रुचिरूप तथा तीन-मूढ़तादि पच्चीसदोषरहितरूप एवं उसी के साथ होने वाले प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा देव-धर्मादि के के विषय में आस्तिक्य भाव के होने रूप लक्षणवाले छट्ठे–गुणस्थान के योग्य सरागचारित्र के साथ में होने वाला सरागसम्यक्त्व अन्यथा नहीं हो सकता, यह हेतु हुआ । अथवा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और तीव्र संज्वलन रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले प्रमादकारक राग, द्वेष और मोहभाव सम्यग्दृष्टि-जीव के नहीं होते, यह पक्ष हुआ । क्योंकि फिर तो शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव-वाले परमात्मा में उपादेयबुद्धि होकर उसके ही योग्य-शुद्धात्मा की समाधि से संज्ञात–अनुभूत जो सहजानन्द-स्वलक्षण-वाले सुख की अनुभूति होना ही है स्वरूप जिसका ऐसे अप्रमत्तादि-गुणस्थानवर्ती वीतरागचारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले अर्थात् वीतरागचारित्र के विना होने वाले वीतरागसम्यक्त्व की उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकती है । जैसा कि "आद्याः सम्यक्त्वचारित्र, द्वितीया घ्नंत्यणुव्रतं । तृतीया संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः" इसमें बताया है कि अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तो सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को ही नहीं होने देते । दूसरे ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ सम्यक्त्व को नहीं रोकते पर चारित्र के एकदेश–अंशरूप अणुव्रतात्मक चारित्र को नहीं होने देते । तीसरे; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ सकलसंयम–महाव्रतरूपचारित्र को नहीं देते एवं चौथे; संज्वलनात्मक क्रोध, मान, माया और लोभकषाय, यथाख्यातचारित्र को नहीं होने देते इस प्रकार यह मूलग्रन्थ की पूर्वार्द्ध गाथा का व्याख्यान हुआ । **तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति** जैसा कि पूर्वार्द्ध गाथा में बताया है उसी क्रम से सम्यग्दृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोहरूपभाव नहीं होते । एवं उनके न होने से सत्ता में होने वाले या उदय में होने वाले मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय-कर्मबंध के कारण नहीं होते हैं । **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि** क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन-कर्मबंध के कारण हैं । **तेसिंपि य रागादी** उन उदय में आए हुए मिथ्यात्वादि-द्रव्यप्रत्ययों के भी कारण जीवगत-रागादिभावरूप प्रत्यय होते हैं । **तेसिमभावे ण बज्झंति** उन जीवगत

भावे ण बज्झंति तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यन्ते यतः कारणादिति। ततः स्थितं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणम्। तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणकारणव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ॥१८४-१८५॥

रागादि-भावप्रत्ययों के न होने पर पूर्वोक्त द्रव्यप्रत्यय भले ही उदय में आये हुए क्यों न हों तो भी वीतरागरूप-परमसामायिकभावना में परिणत रहने वाले अभेदरत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर यह जीव नवीनकर्मों से नहीं बंधता है। इसलिए यह बात माननी पड़ती है कि यद्यपि उदय में आए हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय नवीन-कर्मों के आस्रव के कारण होते हैं, किन्तु उनके भी कारण जीवगत-रागादिभावप्रत्यय होते हैं। इस प्रकार कारण से कारण का व्याख्यान जानना योग्य है ॥१८४–१८५॥

विशेषार्थ—आत्मा से अतिरिक्त किसी भी पर-पदार्थ में 'यह अच्छा है' इस प्रकार का विचार रागभाव है और 'यह बुरा है' यह द्वेषभाव है और इस प्रकार की उलझन में अपने आपको अटकाये रखना यह मोहभाव है एवं यह राग-द्वेष और मोहभाव जहाँ पर सर्वथा नहीं है उसी जीव को यहाँ इस अध्यात्मशास्त्र में सम्यग्दृष्टि माना है। यह सम्यग्दृष्टि-अप्रमत्त-दशा में समीचीन ध्यान की एकता होने पर सप्तमादि-गुणस्थानावस्था में हुआ करता है। उससे नीचे तो कुछ न कुछ हीनाधिक-रूप में मोह बना ही रहता है उस समय वह कर्म के कर्तृत्वपने से दूर नहीं रह सकता। छद्मस्थ के अप्रमत्तपन तो अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रह सकता है। यदि इस समय में इसने अपने मोहनीय-कर्म को सत्ता में से उखाड़ फेंका तब तो सदा के लिए सच्चिदानन्द बन जाता है, नहीं तो फिर इसका उपयोग आत्मा से हटकर इतर-वस्तुओं पर चला जाया करता है ताकि रागभाव करके यह फिर से पूर्व की भाँति नूतन-कर्म बांधने लग जाता है जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः, पश्यन्ति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥
प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध, द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥

अर्थात् जो लोग, निर्विकार-ज्ञान ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धनय को अर्थात् शुद्धात्मा की भावना को प्राप्त होकर वहीं निरन्तररूप से एकाग्र रहते हैं वे सदा के लिए रागादि-विकार-भावों से रहित होकर समय के साररूप अपनी आत्मा को बन्ध से रहित अवलोकन करते हैं। किन्तु शुद्धात्मा की भावना रूप उस शुद्धनय को प्राप्त होकर भी उससे चिगकर अज्ञानी बनते हुए जो लोग फिर से रागादि विकारभाव को प्राप्त हो जाते हैं तब वे लोग उदीयमान-पूर्वबद्ध अपने मिथ्यात्वादि-द्रव्य-प्रत्ययों से नाना प्रकार के विकल्प-जाल को उत्पन्न करने वाले नूतन-कर्म-बन्ध को फिर से करने लग जाते हैं।

अथ यदुक्तं पूर्वं रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहितानां बहिर्मुखजीवानां पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नन्ति तमेवार्थं दृष्टान्ताभ्यां दृढयति—

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥१८६॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥१८७॥ (युगलं)

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं यथा पुरुषेण गृहीताहारः स परिणमत्यनेकविधं बहुप्रकारम् । किं ? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांसवसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति । कथंभूतः सन् ? उदराग्निसंयुक्तः इति दृष्टान्तो गतः । **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते**—तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसंयुक्ताहारदृष्टान्तेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च

अब आचार्यदेव, ऊपर जो कह आये हैं कि रागादि-विकल्परूप-उपाधि से रहित परम-चैतन्य-चमत्कार ही लक्षण जिसका ऐसा जो निज-परमात्म-तत्त्व उसकी भावना से रहित बहिर्मुख-वाले संसारी जीवों के पूर्व-बद्ध-द्रव्यप्रत्यय होते हैं वे सब नवीन-कर्मबन्ध किया करते हैं । उसी का समर्थन दो दृष्टांतों के द्वारा कर रहे हैं—

अर्थ—जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसकी जठराग्नि का संयोग पाकर उसके बलाबल के अनुसार माँस, चर्बी, रुधिर आदि के रूप में अनेक रूप परिणमन करता है वैसे ही संसारी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय भी जो कि इस जीव के साथ एक क्षेत्र अवगाह रूप हो रहे हैं वे सब इस जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नाना प्रकार के नूतन कर्म का बन्ध करते हैं ॥१८६-१८७॥

टीका—जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन अनेक प्रकार की अवस्थाओं में परिणमन करता है जो कि **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** उदर की अग्नि का संयोग पाकर माँस चर्बी, लोह आदि के रूप में परिणमन करता है यह दृष्टांत हुआ । **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते** उसी प्रकार इस चेतना लक्षण वाले संसारी अविवेकी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय [न कि विवेकी वैरागी के] उदराग्नि स्थानीय रागादि परिणाम को पाकर बहुत भेदवाले कर्म का बन्ध किया

जैसा यहाँ उदर के अनलानुसार, औ क्षेत्र आयु निजकाय बलानुसार ।
खाया हुआ अशन मांसवसादिकों में, कालानुसार ढलता तन-धातुओं में ॥१८६॥

वैसा अनेक विधि पुद्गल प्रत्ययों में, ज्ञानी बँधा विगत में विधिबंधनों से ।
हो ! कर्म-बन्ध, पर से मन जोड़ता है, आधार शुद्धनय का जब छोड़ता है ॥१८७॥

विवेकिनः । पूर्वं ये बद्धाः, मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः, जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते बहुविकल्पं कर्म बध्नन्ति । **णयपरिहीणा दु ते जीवा** येषां जीवानां सम्बन्धिनः प्रत्ययाः कर्म बध्नन्ति ते जीवाः । कथंभूताः ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद् भ्रष्टाः च्युताः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति । एवं कार्यकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ।।१८६-१८७।।

इति **श्रीजयसेनाचार्य** कृतायां **समयसार**व्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** सप्तदशगाथाभिः पञ्चस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण । पञ्चमः आस्रवाधिकारः समाप्तः ।

करते हैं। **णयपरिहीणा दु ते जीवा** जिन जीवों के द्रव्यप्रत्यय नवीन बन्ध करने वाले होते हैं वे जीव कैसे होते हैं ? इस का आचार्य समाधान करते हैं, वे लोग परमसमाधि ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान स्वरूप शुद्धनय से दूर रहने वाले हैं अथवा इस वाक्य का दूसरा व्याख्यान इस प्रकार भी होता है कि "न च परिहीणास्तु ते [प्रत्ययाः] जीवात्" अर्थात् वे द्रव्यप्रत्यय अशुद्धनय की अपेक्षा से उस जीव से परिहीन नहीं हैं, भिन्न नहीं हैं किन्तु उस जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर रहने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जिसमें अपना शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य ध्येय होता है तथा जो सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर डालने में समर्थ होता है ऐसा शुद्धनय विवेकियों द्वारा त्यागने योग्य नहीं है ।।१८६-१८७।।

इस प्रकार कारण के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं ।

विशेषार्थ--जहाँ पर सब पर पदार्थों को स्मरण में न लाकर केवल अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान किया जाता है उस परम समाधि अवस्था का नाम ही शुद्धनय है; जिसके द्वारा चिरसंचित दुष्कर्मों का भी क्षणमात्र में नाश किया जा सकता है, अतः विवेकी मुमुक्षु महर्षियों को उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और प्राप्त हो जाने पर फिर वह छूटने न पावे ऐसा प्रयास बनाये रखना चाहिये । क्योंकि उसके छूटने पर ही नवीन कर्म बन्ध होता है परन्तु रहने पर बन्ध नहीं होता जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य लिख गये हैं कि--

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बंध एव हि ।।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** की समयसार की व्याख्या
जिसमें शुद्धात्मा की अनूभूति का लक्षण बतलाया गया है,
जिसका नाम तात्पर्यवृत्ति है
उसकी हिन्दी टीका में १७ गाथाओं
द्वारा संवर के विरोध में यह
पाँचवा आस्रव अधिकार
पाँच स्थलों से पूर्ण हुआ ।

संवराधिकारः

अथ प्रविशति संवरः। संवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र संवरो भवतीत्यास्रवविपक्षद्वारेण, चतुर्दशगाथापर्यन्तं वीतरागसम्यक्त्वरूपं संवरव्याख्यानं करोति। तत्रादौ भेदज्ञानात् शुद्धात्मोपलाभो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **उवओगे**—इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **जह कणयमग्गि** इत्यादि गाथाद्वयम्। ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **सुद्धं तु वियाणंतो** इत्यादि गाथैकम्। ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **अप्पाणमप्पणा** इत्यादि गाथात्रयम्। अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टान्तेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **उवदेसेण** इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तरं उदयप्राप्तप्रत्ययगतानां रागाद्यव्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन **तेसिं हेदू** इत्यादि गाथात्रयम्। एवं आस्रवविपक्षद्वारेण संवरव्याख्याने समुदायपातनिका। तद्यथा—प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति—

अब संवर प्रवेश करता है। इस संवर के अधिकार में जहाँ पर मिथ्यादर्शन और रागादि में परिणमन होता हुआ बहिरात्मा की भावना रूप जो आस्रव भाव नहीं है वहाँ संवर होता है। इस प्रकार आस्रव के विपक्षरूप-वीतरागसम्यक्त्वरूप संवर का व्याख्यान चौदह गाथाओं में करते हैं। वहाँ सबसे पहले संक्षेप में मुख्यरूप से यह व्याख्यान करते हुए कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है जिसमें **उवओगे** इत्यादि तीन गाथायें हैं।इसके पश्चात् भेदज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका परिहार करते हुए **जहकणयमग्गि** इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे यह आत्मा शुद्धभावना से ही शुद्ध होता है इस कथन की मुख्यता से **सुद्धं तु वियाणंतो** इत्यादि एक गाथा है। उसके आगे-संवर किस प्रकार होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हुए **अप्पाणमप्पणा** इत्यादि तीन गाथायें हैं। उसके आगे आत्मा तो छद्मस्थ के परोक्ष है उसके ज्ञान-गम्य नहीं है फिर उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है ? ऐसा पूछने पर देवतारूप दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष आत्मा भी जाना जा सकता है ऐसा बताते हुए "**उवदेसेण**" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे उदय को प्राप्त हुए रागादि-विकारभावों का अभाव हो जाने पर जीव के रागादि-आस्रवभावों का भी अभाव हो जाता है इस प्रकार संवर के क्रम की मुख्यता से **तेसिं हेदू** इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार आस्रव के प्रतिपक्षरूप में संवर का व्याख्यान हुआ है उसकी यह समुदाय पातानिका है।

अब यहाँ पर सबसे पहले निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान का निरूपण करते हैं। वह भेदज्ञान शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के संवर का परमोत्तम कारण है—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८८॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८९॥

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१९०॥ (त्रिकलम्)

उवओगे उवओगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मातिष्ठति। **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो** शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा। **कोहे कोहो चेव हि** क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति। **उवओगे णत्थि खलु कोहो** उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुटं क्रोधः। **अट्ठ वियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो** तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि, औदारिक-

---

अर्थ—ज्ञान और दर्शनरूप-चेतना के परिणमन का नाम उपयोग है जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध है। अतः एक उपयोग शब्द से अभेद-विवक्षा करके आत्मा का ग्रहण करना और दूसरे से चैतन्य परिणामरूप ज्ञान-दर्शनमय उपयोग लेना। उपयोग में क्रोधादि-कषायभाव नहीं होता और क्रोधादि कषायभाव हो जाने पर कोई भी शुद्धात्मा नहीं रहता, किन्तु क्रोध के समय में आत्मा स्वयं क्रोधरूप होता है किन्तु जो आत्मा शुद्ध है उसमें क्रोध का कोई लेन-देन नहीं है यह निश्चित बात है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और औदारिकादि शरीर रहने पर भी आत्मा शुद्ध नहीं रहता है क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानावरणादि कोई भी कर्म और औदारिकादि कोई भी शरीर नहीं है। इस प्रकार का अविपरीत अव्याहत ज्ञान जब इस जीव को हो जाता है उस समय अपने उपयोग में शुद्ध होता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा भी कुछ विकारभाव नहीं करके अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है ॥१८८-१९०॥

टीका—उवओगे उवओगो क्योंकि ज्ञान और दर्शनरूप उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है अतः अभेदविवक्षा से यहाँ पर उपयोग शब्द से आत्मा को लिया गया है, उस उपयोग-स्वरूप-शुद्धात्मा में ज्ञान-दर्शनस्वरूप-उपयोग मात्र ही होता है अर्थात् उसमें क्रोधादिक-विकारभाव नहीं होते हैं। **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो** शुद्धनिश्चयनय से क्रोधादिक-परिणामों के होने पर कोई भी उपयोग अर्थात् आत्मा नहीं रहता—वह अनात्मा, भ्रष्टात्मा बन जाता है। **कोहे कोहो चेव हि** क्योंकि क्रोध होने पर आत्मा स्वयं ही क्रोधरूप होता है। **उवओगे णत्थि खलु कोहो** परन्तु

शुद्धात्म में नियम से उपयोग भाता, क्रोधादि में न उपयोग कभी सुहाता ।
वो क्रोध, क्रोध भर में उपयोग में ना, हे ! भव्य क्रोध अब तो बस छोड़ देना ॥१८८॥
चैतन्य धाम उपयोग निरा निहाला, नोकर्म कर्म जिसमें न, सदा उजाला ।
नोकर्म कर्म जड़ पुद्गल का पिटारा, होता कभी न उसमें, उपयोग प्यारा ॥१८९॥
ऐसा जिसे अविपरीत विबोध होता, सारी प्रवृत्ति तजता, मन मैल धोता ।
शुद्धोपयोग सर में डुबकी लगाता, योगी वही, नित उसे शिर मैं नँवाता ॥१९०॥

शरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोगः, उपयोगशब्दवाच्यः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा। **उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि** उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति। **एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स** इदं तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसंवित्तिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञानं यदा भवति जीवस्य। **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा** तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलम्भो भवति शुद्धात्मोपलम्भे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति न परिणमति। कथं भूतः सन्? निर्विकारचिदानन्दैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभावः सन्निति। यत्रैवम्भूतः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यम्। एवं पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलम्भो भवति। शुद्धात्मोपलम्भे सति मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१८८-१९०॥

अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति पुनरपि पृच्छति—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१९१॥

उपयोग अर्थात् शुद्धात्मा में निश्चय से जरा-सा भी क्रोधभाव नहीं होता। **अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगे** वैसे ही ज्ञानावरणादि-रूप आठ प्रकार के द्रव्यकर्म तथा औदारिकादि शरीर-रूप नोकर्म के रहने पर भी शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावरूप-परमात्मा नहीं रह पाता है।। **उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि** उपयोगमय शुद्धात्मा में शुद्धनिश्चयनय से द्रव्यकर्म और नोककर्म भी नहीं हैं। **एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स** इस प्रकार का चिदानंदमय-एकशुद्धात्मा विपरीत-अभिप्राय से रहित संवेदनरूप-भेदज्ञान जब इस जीव को हो जाता है, **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा** तब इस प्रकार के भेदज्ञान के होने से इसे स्वात्मा की उपलब्धि हो जाने पर फिर वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भावों में से किसी भी प्रकार के भाव को नहीं करता है, नहीं परिणमता है। क्योंकि फिर तो वह निर्विकार चिदानंद रूप जो एक शुद्ध उपयोग उससे शुद्ध आत्मा होता हुआ शुद्ध स्वभाव का धारक बना रहता है। जहाँ पर इस प्रकार का संवर नहीं होता वहाँ पर वह आस्रव होता है, इस प्रकार इस अधिकार में सब स्थान पर जानना।

इस प्रकार पूर्व में कहे अनुसार भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। जिसके होने पर यह जीव मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भाव नहीं करता है तब इसके नूतन कर्मों का संवर हो जाता है इस प्रकार संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥१८८–१९०॥

आगे भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे होती है सो बताते हैं–

अर्थ—जैसे अग्नि से तपाया हुआ सोना भी अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपने का त्याग नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञानी तो अपने आप को जानता

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि, भाई नहीं कनकता तजता कदापि।
त्यों कर्म के उदय में तप साधु जाता, पै साधुता न तजता सुख आशु पाता ॥१९१॥

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१९२॥ (युगलम्)

जह कणयमग्गितविय पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि—यथा कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति। **तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति। किं तत् ?—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पाण्डवादिवदिति। **एवं जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति। कोऽसौ ? वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी। **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति। कथम्भूतः सन्? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमसोवच्छन्नः प्रच्छादितो झम्पितः। पुनरपि कथंभूतः सन् ? **आदसहावं अयाणंतो** निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति। एवं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥१९१-१९२॥

ही रहता है किन्तु अज्ञानी तो अज्ञान अन्धकार से ढँका हुआ होने के कारण अपने आप को नहीं जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है ॥१९१-१९२॥

टीका—जह कणयमग्गितविय पि कणयसहायं ण तं परिच्चयदि जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है। **तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** वैसे ही तीव्र परीषह या उपसर्गरूप घोर कर्म के उदय से सताया हुआ भी अभेद-रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे [समाधि स्वरूप] भेद-ज्ञान का धारी जीव रागद्वेष और मोह रूप परिणामों को न होने देने में तत्पर होता हुआ पाण्डव और राजकुमार के समान अपने शुद्धात्मा के संवेदन रूप ज्ञानीपने को नहीं त्यागता है। **एवं जाणदि णाणी** अपितु वह वीतराग स्वसंवेदन स्वरूप भेदज्ञान वाला जीव तो पूर्व प्रकार से समाधिस्थ हुआ अपने शुद्धात्मा के स्वरूप को जानता ही रहता है, उसी पर जमा रहता है। **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान नहीं होता इसलिये वह अपने आपको मिथ्यात्व और रागादिरूप ही मानता और जानता रहता है, **अण्णाणतमोच्छण्णो** क्योंकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से ढँका हुआ है। **आदसहावं अयाणंतो** और विकल्प रहित समाधि के न होने से विकारों से वर्जित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध आत्मा को नहीं जान पाता है, उसका अनुभव नहीं कर पाता ॥१९१–१९२॥

इस प्रकार भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे हो जाती है इस प्रश्न के उत्तर में ये दो गाथायें कही गई हैं।

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन दो गाथाओं में ज्ञानी को अपने आत्मा में सुदृढ़ होकर लगे रहने की प्रेरणा दी है। जो प्रयत्न करके भी शुद्धात्मा के ध्यान को प्राप्त नहीं करते हैं वे तो अज्ञानी ही हैं, किन्तु जो आत्मध्यान को प्राप्त करके भी घोर परीषह आदि के हेतुता से उस

ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता, शुद्धोपयोग-पय को भर-पेट पीता ।
रागी, सराग-निज को लखता रहेगा, अज्ञानरूप-तम में भटका फिरेगा ॥१९२॥

अथ कथं शुद्धात्मोपलम्भात्संवर इति पुनरपि पृच्छति—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१९३॥

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीवः । एवं गुणविशिष्टं यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यमिति हेतोः । **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** अशुद्धं मिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानं जानन्ननुभवन् सन् अशुद्धं नरनारकादिरूपमेवात्मानं लभते । स कः ? अज्ञानी जीव इति । एवं शुद्धात्मोपलम्भादेव कथं संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गता ॥१९३॥

अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्टे सति पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति—

आत्मध्यान रूप समाधि से चिग जाते हैं वे भी एक प्रकार से अज्ञानी ही हैं । वास्तविक ज्ञानी तो वही है जो किसी प्रकार का बाधक कारण आने पर भी समाधि से च्युत नहीं होकर अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये वहीं दृढ़ बना रहता है। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तपाया जाकर भी स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है । इसके उदाहरण पाण्डवादिक अनेक महापुरुष हैं जो आगम में बताये गये हैं ।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की समुपलब्धि हो जाने से संवर कैसे हो जाता है—

अर्थ—[जैसे की संगति करता है वह स्वयं भी वैसा ही बना रहता है इस कहावत के अनुसार] जो शुद्धात्मा के अनुभव में लगा रहता है वह अपने आपको भी शुद्ध बना लेता है किन्तु जो अपने को अशुद्ध समझे हुए रहता है वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता—सदा अशुद्ध ही रहेगा ॥१९३॥

टीका—**सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** क्रोधादि-भावकर्म, ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म, और औदारिकशरीरादि-नोकर्म इस प्रकार तीनों प्रकार के कर्मों से रहित तथा अनन्तज्ञानादि-गुण-स्वरूप शुद्धात्मा को, निर्विकार-सुख की अनुभूति ही लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा अर्थात् ध्यान के द्वारा जो जानता है अनुभव करता है वह ज्ञानी-जीव कहलाता है । क्योंकि जैसे गुणों से विशिष्ट जैसी आत्मा का अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करता है, अपने उपयोग में दृढ़ता से उतरता है, वह अपने आपको भी वैसा ही बना लेता है क्योंकि उपादान के समान ही कार्य होता है यह नियम बना हुआ है । **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** परन्तु जो अपने आपको मिथ्यात्वादि-विकारभावों में परिणत हुआ अशुद्ध जानता है, अनुभव करता है वह अज्ञानी-जीव अपने-आपको नरनारकादि-पर्यायरूप में अशुद्ध ही पाता है ॥१९३॥

अब संवर होने का प्रकार कौन-सा है इसी का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध, जाने, बने सहज शुद्ध-अबद्ध-बुद्ध ।
रागी स्व को समझ रागमयी बिचारा, अज्ञान के तिमिर में निज को बिसारा ।
होता न मुक्त भव से दुःख हो अपारा ॥१९३॥

अप्पाणमप्पणा रुंधिदूणदो पुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१९४॥

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१९५॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥१९६॥ (त्रिकलम्)

अप्पाणमप्पणा रुंधिदूण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु आत्मानं कर्मत्वापन्नं आत्मना करणभूतेन द्वयोः पुण्य-पापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य । **दंसणणाणह्मि ठिदो** दर्शनज्ञाने स्थितः सन् । **इच्छाविरदो य अण्णह्मि** अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथम-गाथा गता । **जो** यः कर्ता । **सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा** आत्मा, पुनरपि कथंभूतः ? **सव्वसंग-**

अर्थ—जो पुरुष पुण्य और पापरूप दोनों प्रकार की क्रियाओं में भटकने वाले अपने मन को अपने आप में रोककर अपने से अन्य देहादि वस्तुओं में होने वाली इच्छा रहित होता हुआ मात्र दर्शन-ज्ञानमय-स्वभाव में स्थित होता है तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ अपने द्वारा अपने आपका ध्यान करता है, कर्म व नोकर्म किसी का भी चिंतवन नहीं करता है वही एक अपने शुद्धात्मा का ध्यान कर पाता है । हाँ, जो इस प्रकार सब ओर से अपने मन को हटाकर मात्र अपने दर्शन-ज्ञानमय-स्वभाव में रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मों से रहित कर लेता है ॥१९४-१९६॥

टीका—जो **अप्पाणमप्पणा रुंधिदूणदो पुण्णपावजोगेसु** पुण्य और पाप के आधारभूत दोनों प्रकार की शुभाशुभ-क्रियाओं से अपनी आत्मा को प्रवर्तमान अपने करण–साधनभूत-स्वसंवेदन-ज्ञान के बल से दूर हटा कर **दंसणणाणह्मि ठिदो** दर्शन और ज्ञान में स्थित होता हुआ; **इच्छाविरदो य अण्णह्मि** इन देहादिक और रागादिक सभी प्रकार के अन्य-द्रव्यों में इच्छा रहित होता है । यह पहली गाथा हुई । **जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा** इस प्रकार सर्वप्रकार के परिग्रह से

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियों से, पूरा बचाकर सुखासुख साधनों से ।
सम्यक्त्व बोधव्रत में रुचि से लगाता, है त्याग राग पर का, निज गीत गाता ॥१९४॥

वो सर्व संग तज के मुनि हो इसी से, जाने नितान्त निज में निज को निजी से ।
एकत्व की वह छटा मन को लुभाती, नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती ॥१९५॥

ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी, सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत साधु ज्ञानी ।
हो, कर्म-मुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसेगा ॥१९६॥

मुक्को निस्सङ्गात्मतत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसङ्गमुक्तः सन् । **झायदि** ध्यायति । कं ? **अप्पाणं** निजशुद्धात्मानं । केन करणभूतेन ? **अप्पणो** स्वशुद्धात्मना । **णवि कम्मं णोकम्मं** नैव कर्म नोकर्म ध्यायति, आत्मानं ध्यायन् । किं करोति ? **चेदा चिंतेदि** एवं गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिन्तयति । किं ? **एयत्तं** 'एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा' इत्याद्येकत्वं इति द्वितीयगाथा गता । **सो** इत्यादि । **सो** स पूर्वसूत्रद्वयोक्तः पुरुषः । **अप्पाणं झायंतो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्मतापन्नं चिन्तयन् निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन् । **दंसणणाणमइओ** दर्शनज्ञानमयो भूत्वा । **अणण्णमणो** अनन्यमनाश्च । **लहदि** लभते । कमेव ? **अप्पाणमेव** आत्मानमेव । कथंभूतं ? **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मनिर्मुक्तं । केन ? **अचिरेण** स्तोककालेन । एवं केन प्रकारेण संवरो भवति, इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१९४-१९६॥

रहित जो आत्म तत्त्व है उससे विलक्षण बाह्य और अभ्यन्तररूप सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ करणभूत अपनी शुद्धात्मा से अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान करता है । **णवि कम्मं णोकम्मं** किन्तु कर्म और नोकर्म का चिंतवन नहीं करता है । तो फिर वह आत्मा का ध्यान करने वाला क्या करता है ? कि **चेदा चिंतेदि एयत्तं** उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट वह चेतना-गुणधारी-आत्मा केवल एकत्व का चिंतवन करता है जैसा कि—'एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावः मत्तः सर्वेपि सर्वथा ।' इस श्लोक में बताया गया है कि मैं तो एक हूँ, मेरा यहाँ कोई नहीं है, किसी भी प्रकार के सम्पर्क से दूर रहने वाला हूँ, केवल ज्ञान गुण का धारक हूँ मुझे योगी लोग ही ध्यान के बल से जान-पहचान सकते हैं और कोई नहीं, इसके सिवाय जितने भी संयोगज भाव हैं अर्थात् शरीरादिक हैं वे मेरे से सर्वथा भिन्न हैं, इस प्रकार चिंतवन करता है । यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । **सो अप्पाणं झायंतो** पूर्वसूत्रोक्त पुरुष उपर्युक्त प्रकार से आत्मा का चिन्तवन करता हुआ—निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता हुआ । **दंसणणाणमइओ** दर्शन और ज्ञानमयी होकर **अणण्णमणो** तथा अपने आत्मा में एक चित्त होकर **लहदि अप्पाणमेव** अपने आप को ही प्राप्त कर पाता है । किस प्रकार कर पाता है ? कि **अचिरेण कम्मणिम्मुक्कं** बहुत ही शीघ्र भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के भेद से जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनसे रहित कर पाता है ।

संवर किस प्रकार होता है इस प्रश्न का विशेष स्पष्टीकरण करने के रूप ये तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥१९४–१९६॥

विशेषार्थ—आचार्य देव इन तीनों गाथाओं में संवर का पात्र कौन है ? संवर कौन कर सकता है ? और उसका स्पष्ट फल क्या है ? यह बताते हुए बताया है कि जो व्यक्ति भलाई और बुराई से दूर हट कर एकाग्रचित्त होता हुआ राजस और तामस वृत्ति इन दोनों का त्याग करके सात्त्विकता को प्राप्त हो जाता है और संसार की दृश्यमान वस्तुओं में अब जिसकी कोई भी इच्छा न रहने से जिसने सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है वही जीव शान्त चित्त हो शुद्धात्मा का ध्यान कर सकता है जो कि संवर होने का अद्वितीय साधन है । उस शुद्धात्मा के ध्यानरूप संवरतत्त्व को भली प्रकार प्राप्त कर लेने पर फिर अपुनर्भवता प्राप्त करने में देरी नहीं लगती उसके द्वारा वह शीघ्र प्राप्त कर ली जाती है । हाँ, उपर्युक्त प्रकार के वास्तविक त्याग के बिना ही शुद्धात्मा के ध्यानरूप संवर तत्त्व के हो जाने की बात जो कही जाती है वह बिना मुँह के भोजन कर लेने जैसी है, उसमें कोई सार नहीं है ।

अथ परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीति प्रश्ने सत्युत्तरं ददाति—

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ।।१९७।।

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि यथा लोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति । **भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य** तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते । कोऽसौ ? जीवः केन रूपेण ? मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति । तथा चोक्तं—रूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ।।१९७।। अथ—

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ।।१९८।।

अथ मतं **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं** योऽसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य

आगे जो बताते है किआत्मा परोक्ष है छद्मस्थ के देखने में नहीं आती है फिर उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है—

अर्थ—जैसे किसी के परोक्षरूप उपदेश द्वारा तथा लिखा देखकर जाना जाता है। वैसे ही यह जीव वचनों के द्वारा कहा जाता है तथा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है वह मानों प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है ।।१९७।।

टीका– **उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि** जैसे लोक व्यवहार में किसी परोक्ष देव के रूप को भी किसी दूसरे के कहने से या कहीं लिखा हुआ देखकर कि यह अमुक देवता का रूप है, देवदत्त आदिक जाना जाता है । **भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य** उसी प्रकार यह जीव वचनों के द्वारा कहा जाता है तथा यह जीव मेरे द्वारा देखा गया और जाना गया, ऐसा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार विश्वास किया जा सकता है, समझा जा सकता है । ऐसा ही अन्य ग्रन्थ में कहा गया है कि "गुरूपदेशाभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं, जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरं ।" "अर्थात् जो गुरु महाराज के उपदेश से उनके बताये हुए मार्ग के द्वारा अभ्यास करने से अपनी बुद्धि के विवेक द्वारा अपने आपके तथा औरों के अंतरंग तत्त्व को जानता है वह निरन्तर होने वाले मोक्ष सुख को जानता है ।।१९७।।

अर्थ—कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्म तत्त्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है । परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ ज्ञान से भी जान लिया जाता है ।।१९८।।

टीका—**कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** कौन समझदार साधु इस समय ऐसा कह सकता है कि **रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** आत्मा के स्वरूप को मैंने प्रत्यक्ष ही देख लिया है ।

शिल्पादि लेख लख के जिस भाँति जाना-जाता परोक्षतम-पूर्ण पदार्थ बाना ।
सत् शास्त्र के मनन से गुरुदेशना से, हो जाय ज्ञात यह जीव सुसाधना से ।।१९७।।
प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली है, जैसे निजात्म लखते सबसे बली है ।
साक्षातकार जिनका बन जाय ऐसा–छद्मस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा ।।१९८।।

पार्श्वे पृच्छामो वयं ? नैवं, **कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** कोऽविदितार्थः साधुः सम्प्रतिकाले ब्रूयात् ? न कोपि । किं ब्रूयात्, न कोपि । किं तु **रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं, चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत् । अपि तु नैवं । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपम् ? **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानं, इति । किञ्च विस्तरः । यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इन्द्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम् । तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति । किं तु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति । तथापि श्रवणकाले श्रोतॄणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः । एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥१९८॥

अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणामध्यवसानानामभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्यानं कथयति—

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो यं ॥१९९॥

जैसा कि चतुर्थकाल में केवलज्ञानी देख लिया करते थे परन्तु ऐसा तो कोई भी नहीं कहता । कहना तो यह है कि वह आत्मस्वरूप **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवलज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसा श्रुतज्ञान में अर्थात् मानसिक-ज्ञान में प्रगट हो जाता है । भावार्थ यह है कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से रागादि-विकल्प रहित स्वसंवेदनरूप-भावश्रुतज्ञान, केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है तथापि सर्वसाधारण को होने वाला जो इन्द्रिय-मनोजनित सविकल्पज्ञान होता है उसकी अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष है । अतः स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जाना जाता है इसलिये प्रत्यक्ष होता है पर केवलज्ञान की दृष्टि में तो वह परोक्ष ही होता है । किन्तु सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता, अपितु सोचो कि चतुर्थकाल में भी केवली भगवान् क्या आत्मा को हाथ में लेकर दिखलाते हैं ? अर्थात् नहीं, वे अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा कहकर चले जाते हैं । तो भी दिव्यध्वनि सुनने के काल में सुननेवालों के लिए आत्मा का स्वरूप परोक्ष ही होता है । तत्पश्चात् श्रोता लोग परमसमाधि स्वीकार करते हैं उस ध्यानस्थ अवस्था में ही वह उनके प्रत्यक्ष होता है—अनुभव गोचर होता है वैसा ही आज भी हो सकता है । इस प्रकार परोक्ष आत्मा का किस प्रकार ध्यान किया जाता है । इसका समाधान करते हुए दो गाथाएँ समाप्त हुईं ॥१९८॥

अब उदय में प्राप्त हुए द्रव्यप्रत्यय ही हैं स्वरूप जिनका ऐसे रागादि-अध्यवसानभाव, उनका अभाव हो जाने पर जीवगत रागादि-भावकर्मरूप-अध्यवसानों का भी अभाव हो जाता है इत्यादि रूप से संवर के क्रम का व्याख्यान करते हैं—

अर्थ—सर्वज्ञदेव ने पूर्वोक्त रागद्वेष और मोहरूप आस्रवों के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग

मिथ्यात्व औ अविरती जड़-बोध, योग, रागादि के जनक ये सुख के वियोग ।
आलोक से सकल लोक आलोक देखा, सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥१९९॥

हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो ॥२००॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥२०१॥ (त्रिकलम्)

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणां भावास्रवाणां हेतवः कारणानि भणितानि । कानि ? उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः ? सर्वदर्शिभिः । ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि, तानि जीवगतान्येव भवन्ति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भावप्रत्ययानि कथं भवन्तीति ? नैवं, यतः कारणात् भावकर्म द्विधा भवति । जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च । तथाहि—भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते । पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । तथा चोक्तं—**'पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु'**—इति जीवभावगतं भण्यते **'पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु'**—इति पुद्गलद्रव्यगतं ॥ अत्र दृष्टान्तो यथा मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं, तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतम् । एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं च द्विधेति भावकर्मव्याख्यान-

---

ये चार अध्यवसान कहे हैं । ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है और आस्रवभाव के न होने से कर्मों का भी निरोध हो जाता है, कर्म के अभाव से नोकर्म का निरोध हो जाता है और नोकर्म के रुक जाने से संसार का भी निरोध हो जाता है ॥१९९-२०१॥

टीका—तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जीवगत रागादि विभाव रूप भावास्रवों के भी हेतु उदय को प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्ययों में होने वाले रागादि अध्यवसान सर्वज्ञ देव ने बतलाये हैं । यहाँ शंका हो सकती है कि अध्यवसान तो भावकर्म रूप होते हैं जो कि जीवगत ही हो सकते हैं । उदय को प्राप्त द्रव्यप्रत्ययगत भावप्रत्यय कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हैं कि शंका ठीक नहीं है क्योंकि भावकर्म जीवगत और पुद्गल कर्मगत दो प्रकार का होता है । जैसा कि कहा है—"दव्वं पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भाव तु" यह जीवगत भावकर्म की बात हुई और "पुगलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मंतु" यह पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म की बात हुई ॥ उसी को दृष्टाँत द्वारा समझाते हैं कि किसी मीठे या कड़वे पदार्थ को खाने के समय में उसके मधुर या कटुक स्वाद को चखनेरूप जो जीव का विकल्प होता है वह जीवगत-भाव कहलाता है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति में कारणभूत ऐसा उस मधुर या कटुक द्रव्य में रहने वाला शक्ति का अंश-विशेष होता है वह पुद्गलद्रव्यगत-भाव कहा जाता है । इस प्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत के भेद से दो प्रकार का

होता जभी विलय भी इनका तभी से, हो नष्ट आस्रव मुनीश्वर का सही है ।
औचित्य ! आस्रव जभी मिटते सभी हैं, आठों कुकर्म मिटते सहसा तभी हैं ॥२००॥
दुष्टाष्ट कर्म मिटते तन मेल टूटे, संदेह क्या तन मिटा जग जेल छूटे ।
विज्ञान की किरण उज्ज्वल पूर्ण फूटे, आनन्द लाभ फिर तो चिरकाल लूटे ॥२०१॥

काले सर्वत्र ज्ञातव्यम् । कानि तानि ? अध्यवसानानि । **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतियोगश्चेति प्रथमगाथा गता ।। **हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययानां जीवगतभावास्रवहेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणां अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिरूपभावास्रवनिरोधलक्षणः संवरो जायते । **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरास्रवपरमात्मतत्त्वरूपविलक्षणस्य जीवगतभावास्रवस्य भावेन स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोधरूपः संवरः । कस्य ? परमात्मतत्त्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मणः इति द्वितीयगाथा गता ।। **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** ततश्च नवतरकर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते निरोधः संवरः । **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** नोकर्मनिरोधेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसार-

---

होता है । ऐसा भावकर्म के व्याख्यान में सर्व ही ठौर जानना चाहिये । वे अध्यवसान कौन से हैं ? **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग के भेद से चार प्रकार के हैं । यह पहली गाथा का अर्थ हुआ । **हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं ऐसे जीवगत भावास्रवों के जो हेतु कहे गये हैं उन द्रव्यकर्मस्वरूप-उदय में आये हुए द्रव्यप्रत्ययों का वीतराग-स्वसंवेदन-ज्ञानी जीव के अभाव हो जाता है एवं उनके न होने पर नियम से उसके अवश्य ही रागादि-भावास्रवों के निरोधस्वरूप-संवर हो जाता है । **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** और इस प्रकार आस्रव से रहित जो परमात्म-तत्त्व उससे विलक्षणरूप जीवगत-भावास्रव के न होने से परमात्म-तत्त्व को आच्छादन करने वाले नवीन-द्रव्यकर्मों का भी निरोध अर्थात् संवर हो जाता है यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** इस प्रकार नवीन-कर्म के अभावरूप संवर के हो जाने पर शरीरादिकरूप-नोकर्म का भी निरोधात्मक संवर हो जाता है । **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** इस प्रकार नोकर्म का अभाव हो जाने पर संसार से दूरवर्ती ऐसा जो शुद्धात्मतत्त्व उसका प्रतिपक्षभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच प्रकार के संसार का भी अभाव हो जाता है ।

विशेषार्थ—जब तक यह संसारी जीव अपने आप को और शरीर को एक मानता रहता है तब तक स्वयं—शरीर को बिगड़ता हुआ देखकर उसे बनाये रखने के लिए मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति प्रयोगात्मक नाना प्रकार के दुष्प्रयास निरन्तर करता रहता है । अतः राग, द्वेष और मोह के चक्कर में फंस कर नूतन-कर्मबंध करने के कारण जन्म-मरण के झंझट से उऋण नहीं हो पाता किन्तु शरीर और आत्मा में जो भेद है उसे यदि वास्तविक रूप से जान लेता है तो फिर आपको अविनश्वर व चेतनस्वरूप और इस शरीर को जड़ एवं विनश्वर जानकर शरीर के साथ संबंध रखनेवाली इन दृश्यमान इतर वस्तुओं का परित्याग कर देता है । रहा यह शरीर, सो इसे भी निस्सार व बेकार समझकर इससे भी उपेक्षा कर आत्म-तल्लीन हो जाता है । ऐसी दशा में फिर मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतात्मक प्रयोग का ठिकाना ही कैसा ? और जब नहीं, तो रागद्वेष और मोह भाव भी कहाँ ? अतः फिर नूतन-कर्म और नोकर्म तो होने से रह जाते हैं । सम्बद्ध कर्म और नोकर्मरूप भी निःसन्तानरूप से नष्ट हो जाते हैं । इस

निरोधनं भवतीति तृतीयगाथा गता। एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रयं गतम्। एवं पात्रवदास्रवविपक्षभूतः संवरो निष्क्रान्तः ॥१९९-२०१॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां
शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ
चतुर्दशगाथाभिः षट्स्थलैः
आस्रवविपक्षद्वारेण संवरनामा
षष्ठोऽधिकारः समाप्तः।

प्रकार शुद्धात्म-ध्यानरूप भेदविज्ञान से संवर होकर आत्मा सदा के लिए सच्चिदानन्द बन रहता है।

इस प्रकार संवर के क्रम का व्याख्यान करने वाली तीन गाथायें पूर्ण हुईं। इसके साथ-साथ यह संवर का प्रकरण भी समाप्त हुआ जो कि छह स्थलों में आई हुईं चौदह गाथाओं द्वारा वर्णित है ॥१९९–२०१॥

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** की समयसार की टीका जिसमें कि
शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका
कि नाम **तात्पर्यवृत्ति** है उसकी हिन्दी टीका में
चौदह गाथाओं द्वारा आस्रव के विरोधरूप
में छह स्थलों में संवरनामा छट्ठा
अधिकार पूर्ण हुआ।

निर्जराधिकारः

तत्रैवं सति रङ्गभूमेः सकाशात् शृङ्गाररहितपात्रवत् शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रान्तः। अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका **निर्जरा** प्रविशति। **उवभोज्जमिंदियेहिं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा दण्डकान् विहाय पाठक्रमेण पञ्चाशद्गाथापर्यन्तं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति। तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं ज्ञानवैराग्यशक्तेः सामान्यव्याख्यानार्थं **सेवंतोवि ण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्। ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणार्थं **परमाणुमित्तियं पि** इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रदशकम्। ततश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं **णाणगुणेहिं विहीणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकम्। ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं **णाणी रागप्पजहो** इत्यादि पञ्चमस्थले गाथा चतुर्दश। तदनन्तरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्शङ्काद्यष्टगुणां व्याख्यानार्थं **सम्मादिट्ठी जीवो** इत्यादिषष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति। इति षड्भिरन्तराधिकारैः निर्जराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा,

अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति—

अब यहाँ शृंगार रहित पात्र के समान शुद्ध जीव स्वरूप जो संवर है वह तो इस रंगभूमि में से चला गया और वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली संवरपूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है।

वहाँ **उवभोज्जमिंदियेहिं** इत्यादि गाथा को आदि लेकर दंडकों को छोड़ पाठक्रम से पचास गाथाओं पर्यन्त छह स्थलों से निर्जरा का व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य-निर्जरा, भाव-निर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का क्रम से वर्णन है। इस प्रकार प्रथम स्थल में पीठिका रूप से चार गाथायें हैं। उसके बाद ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए **सेवंतो वि ण सेवदि** इत्यादि रूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें हैं। उसके आगे उन्हीं ज्ञान और वैराग्य शक्तियों का विशेष वर्णन करने के लिए **परमाणुमित्तियं पि** इत्यादि दस सूत्र तीसरे स्थल में हैं। उसके आगे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान पाँच प्रकार है फिर भी परमार्थ से जो एक रूप ही है और मुक्ति का कारण एवं परमात्म पद का मूल है वह पद जिस स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्त होता है उसके सामान्य व्याख्यान के लिए **णाणगुणेहिं विहीणा** इत्यादि आठ सूत्र चौथे स्थल में हैं। फिर उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करने के लिए **णाणी रागप्पजहो** इत्यादि चौदह गाथायें पाँचवें स्थल में हैं। उसके आगे छठे स्थल में शुद्धनय का आश्रय लेकर चिदानंद रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक निःशंकितादि आठ गुणों के व्याख्यान के लिए **सम्मादिट्ठी जीवो** इत्यादि नौ सूत्र कहे गये हैं। इस प्रकार छह अंतराधिकारों से इस निर्जरा-अधिकार में समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे सबसे प्रथम द्रव्य-निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२०२॥

उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी—सम्यग्दृष्टिः कर्ता चेतनाचेतन-द्रव्याणां सम्बन्धि यद्वस्तूपभोग्यं करोति । कैः कृत्वा ? पञ्चेन्द्रियविषयैः । **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टे-र्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बन्धकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन् पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुण-स्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं, तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः । कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमान-मायालोभोदयजनिता रागादयो न सन्तीत्यादि । किं च सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका भवति । तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबन्धक इति । एवं द्रव्यनिर्जरा-व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥२०२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि वीतरागी जीव अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन-द्रव्यों का उपभोग करता है पर, वह सब उसके लिए कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है ॥२०२॥

टीका—उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पाँचों इन्द्रियों के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों में भोग्य और उपभोग्य वस्तु का जो उपभोग करता है, **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** वह सब उसके लिये निर्जरा का ही निमित्त होता है।जो वस्तु मिथ्यादृष्टि जीव के लिए राग-द्वेष और मोह भाव होने के कारण बंध में निमित्त कारण होती है वही वस्तु सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग-द्वेष और मोह भाव के न होने के कारण निर्जरा की निमित्त होती है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि राग-द्वेष और मोह भाव न होने पर सब ही निर्जरा का कारण बताया गया है सो ठीक, परन्तु गुरुमहाराज ! सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक-भाव होते हैं सब ही सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी नहीं होते हैं, इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इस ग्रंथ में वास्तविक में वीतराग-सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि का कथन यहाँ गौण है । यदि इसे भी यहाँ लिया जाये तो ? इस प्रश्न का समाधान पहले किया जा चुका है कि मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि जीव कम राग वाला होता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी-क्रोध, मान, माया और लोभ-जनित रागादिक नहीं होते हैं तथा श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ-जनित रागादिक नहीं होते हैं इत्यादि । तथा सम्यग्दृष्टि के जो भी निर्जरा होती है वह संवर-पूर्वक होती है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के वह हाथी स्नान के समान बन्धभाव पूर्वक हुआ करती है, इसलिये भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ॥२०२॥

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके, होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से, साधू सुधी न बँधते विधि बंधनों से ॥२०२॥

अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्यायति—

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेदयदि अथ णिज्जरं जादि ॥२०३॥

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखं दुःखं वा वस्तुस्वभावत एव जायते तावत् । **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेदयदि** निरुपराग-

---

विशेषार्थ—इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का ग्रहण दो प्रकार से होता है । एक तो वैषयिक-दृष्टि से और दूसरा विवेक-बुद्धि से । वैषयिक-दृष्टि से जो पदार्थ बन्ध का कारण होता है वही विवेक-बुद्धि के द्वारा निर्जरा के लिए कारण होता है। जैसे एक नवयुवती वेश्या एकाएक हृदय की गति रुक जाने से मरण को प्राप्त हो गई, जिसके शव को स्मशान में ले जाकर चिता पर रखा गया। उसे किसी कामी-पुरुष ने देखा तो सोचने लगा कि यह कितना सुन्दर रूप है यदि जीवित अवस्था में मुझे मिल जाती तो मैं इसका अवश्य आलिंगन करता। किन्तु वहीं पर एक मुनि महाराज विराज रहे थे, उनकी दृष्टि जब उस पर पड़ी तो वह सोचने लगे कि देखो ! इसने दुर्लभप्राप्त अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही भोग-विलास में गमा दिया इत्यादि । कामी के लिए जो बन्ध का कारण हुई वही श्री मुनि के लिए निर्जरा का कारण बनी । आचार्य देव ने यही बात कही है कि विरागी जीव को जो भी बाह्य-पदार्थ का समागम होता है वह उसके लिए निर्जरा का ही कारण हुआ करता है। हाँ इसी पर से यदि कोई यह मान कर कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के हेतु होते हैं और इसी प्रकार हम भी भगवान् की बात को ही मानने वाले हैं, सम्यग्दृष्टि हैं फिर बन्ध कैसा ? इस प्रकार स्वच्छन्द होकर भोग भोगने में लगा रहे तो वह अपने आपका बिगाड़ करने वाला ही होगा उसके तो बन्ध ही नहीं प्रत्युत घोर बन्ध होगा । कहा भी है कि—

"दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख सूई सिये न कन्था ।
दोय बात नहिं होय सयाने, विषय भोग अरु मुक्ति हु पाने ।"

इस प्रकार द्रव्यनिर्जरा का व्याख्यान एक गाथा के द्वारा करके अब भावनिर्जरा का भी स्वरूप निम्न गाथा में स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—बाह्य शुभ और अशुभरूप पदार्थ का समागम होने पर सुख और दुःखरूप जो साता-असातानामक वेदनीयकर्म है, उसकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है किन्तु वह मुक्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है फिर भी उसके राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं बनता ॥२०३॥

टीका— **दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च** उदय में आये हुए द्रव्यकर्म को यह जीव जब भोगता है तब नियम से साता और असाता वेदनीयकर्म के उदय के वश से सुख और दुःख अपने-वस्तु के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं । **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेदयदि** जो कि

भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते हैं, होते अवश्य सुख-दुःख नियोग से हैं ।
ले स्वाद दुःख सुख का बनते न रागी, वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०३॥

स्वसंवित्तिभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति । न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति । **अथ णिज्जरं जादि** अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं भवति । मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बन्धकारणं भवति । किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति । तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति । तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात् । इति भावनिर्जरा-व्याख्यानं गतम् ॥२०३॥

रागरहित-स्वसंवेदनभाव से उत्पन्न होने वाले पारमार्थिक-सुख से भिन्न प्रकार का होता है । उस उदय में आये हुए सुख या दुख को सम्यग्दृष्टि-जीव भी भोगता है, किन्तु वहाँ कुछ भी भला-बुरापन न मानकर रागद्वेष किए बिना उपेक्षा बुद्धि से उसे भोग लेता है—उसको पार कर जाता है—उसके साथ तन्मय होकर मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से अनुभव नहीं करता । **अथ णिज्जरं जादि** इसलिए वह उसके स्वस्थ भाव से निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, झड़ ही जाता है—प्रत्युत बन्ध नहीं कर पाता । किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव तो मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से उपादेय-बुद्धि से उसे भोगता है इसलिए उसके वह बन्ध का कारण होता है । जैसे कोई भी चोर स्वयं कभी मरना नहीं चाहता किन्तु कोतवाल से जब पकड़ लिया जाता है और मारा जाता है तो मरण का अनुभव करता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि-जीव भी यद्यपि आत्मोत्थ-सहज-सुख को उपादेय मानता है और विषय सुख को हेय, फिर भी चारित्रमोहकर्म के उदयरूप कोतवाल से पकड़ा हुआ वह उस विषय सुख का अनुभव भी करता है इसलिए वह कर्म उसके लिए निर्जरा का निमित्त होता है । इस प्रकार यह भावनिर्जरा का व्याख्यान हुआ ॥२०३॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सयोगकेवली-अर्हन्तभगवान् के प्रशस्त-साता-वेदनीयकर्म का उदय होता है जिससे वे चौंसठ चमर, सिंहासन, समवसरणादि बाह्य विभूति से विशिष्ट होते हैं, किन्तु वहाँ पर उनके नाममात्र की भी ममता न होने से बन्ध नहीं होता है । उसी प्रकार छद्मस्थ-वीतरागी-जीव भी कर्म के उदय से आये उपसर्गादि को निर्ममभाव से भोग लेता है, सहन कर जाता है अतः उसके भी तज्जन्य-बन्ध नहीं होता किन्तु वह निर्जीर्ण ही हो जाता है । जैसे कि सुदर्शन-मुनिराज को दबाकर वेश्या ने कामभोग-सम्बन्धी अनेक कुचेष्टायें की पर वे मुनिराज उन सबको समभाव से भोगते रहे, सहते रहे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ, अतः उस वेश्या के तो घोरकर्म का बन्ध हुआ किन्तु सुदर्शन-मुनिराज के तो कर्म की निर्जरा ही हुई । हाँ, भरतचक्रवर्ती सरीखे गृहस्थ-क्षायिक-सम्यग्दृष्टि ने सुभद्रादि-रानियों के साथ चलाकर प्रसंग किया वहाँ पर भी उनके सम्यग्दृष्टि होने मात्र से बन्ध नहीं हुआ हो और केवल निर्जरा ही हुई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए । यह बात अवश्य है कि अतत्त्व-श्रद्धानी-मिथ्यादृष्टि जैसा बन्ध नहीं होता किन्तु परीतसंसारात्मक बन्ध होकर चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थान-योग्य-निर्जरा होती थी । किन्तु सर्वथा बन्ध न होकर निर्जरा ही होना जैसा कि इस गाथा में बताया है, वह तो वीतरागरूप-निश्चय-सम्यग्दृष्टि के ही होती है क्योंकि उसकी ज्ञानशक्ति व वैराग्यशक्ति दोनों अपना बराबर काम करतीं रहतीं हैं ।

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुज्जंता वेज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति ।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥२०४॥

जह विसमुवभुज्जंता वेज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुपभुञ्जानाः सन्तो गारुडविद्यापुरुषाः, अमोघमन्त्रसामर्थ्यात् नैव मरणमुपयान्ति । **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी** तथा परमतत्त्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफलं भुङ्क्ते तथापि निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानामोघमन्त्रबलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्ति-व्याख्यानं गतम् ॥२०४॥

अथ संसारशरीरभोगविषयवैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥२०५॥

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतिकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिबन्नपि रतेरभावान्न माद्यति । **दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि**

अब यहाँ पर उनमें से पहले ज्ञानशक्ति का वर्णन करते हैं :—

अर्थ—जैसे वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्मफल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता ॥२०४॥

टीका—जह विसमुवभुज्जंता वेज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति जैसे मन्त्रविद्या के जानकार पुरुष विष को खाकर निर्दोषमन्त्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी** वैसे ही परम-तत्त्वज्ञानी-जीव शुभ व अशुभरूप कर्म के फल को भोगता हुआ भी वह, निर्विकल्प-समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञानरूप-अमोघ—कभी भी निष्फल नहीं होने वाले मन्त्र के बल से कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानशक्ति का व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥२०४॥

आगे संसार, शरीर व भोगों के विषय में जो वैराग्य की सामर्थ्य है उसे दिखलाते हैं:—

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अरतिभाव से अप्रीतिपूर्वक किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग में रागादि रहित हुआ ज्ञानी-जीव भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता है ॥२०५॥

टीका—जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो जैसा कोई पुरुष अपने बवासीर आदि रोग को मिटाने के लिये भांग आदि मादक पदार्थ पीता है। उसमें उसकी मादकता

खाता भले विष सुधी विष-मन्त्र-ज्ञाता, पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता ।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी, भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी ॥२०४॥
होता प्रमत्त नहि मादकता घटा के, जो मद्यपान करता रुचिको हटा के ।
ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे, ये कर्म से न बँधते, निज को निहारे ॥२०५॥

तहेव तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पञ्चेन्द्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन निर्विकारस्वसंवित्तिशून्यबहिरात्मजीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते। यदा तु हर्षविषादादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति। तदा सर्वथा न बध्यत इति वैराग्यशक्तिव्याख्यानं गतम्। एवं यथाक्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥२०५॥

अथैतदेव वैराग्यशक्तिस्वरूपं विवृणोति—

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि ॥२०६॥

को दबानेवाली औषधि डालकर अरुचि भाव से पीता है अतः वह उन्मत्त नहीं बनता है। **दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव** वैसे ही परमार्थ तत्त्व का जानकार पुरुष पंचेन्द्रियों के विषयभूत खान-पान आदि द्रव्य को उपभोग करने के समय में भी निर्विकार स्वसंवेदन से रहित होने वाले बहिरात्मा जीव की अपेक्षा से जिस-जिस प्रकार के रागभाव को नहीं करता है उस-उस प्रकार का कर्म बन्ध उसके नहीं होता। जब हर्ष-विषाद आदि रूप समस्त विकल्प जालों से रहित परम-आत्म-ध्यान वही है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग हो जाता है उस समय नूतन कर्मबन्ध नहीं करता है। यह उसकी वैराग्य शक्ति की विशेषता है ॥१०५॥

विशेषार्थ—आत्म-ध्यान करने वाले योगी-पुरुष की मूल में दो प्रकार की चेष्टायें होती हैं। (१) पहली तो एकाग्रता के साथ आत्मध्यान में तल्लीन हो रहने रूप (२) दूसरी उसी आत्म ध्यान को सुसम्पन्न करने में सहायरूप बनाने के लिये शरीर को आगमोक्त विधि से आहारादि देने में प्रवृत्त होने रूप। जब वह आत्म ध्यान में तल्लीन होता है तब उसके नूतन कर्मबंध नहीं होता किन्तु समीचीन आहार ग्रहण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है उस समय भी उसके किञ्चित् प्रवृत्यात्मक रागांश होता है उससे जो नूतन कर्मबन्ध होता है वह भी अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत की अपेक्षा से भी अत्यल्प रूप होता है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि उसके बाह्य वस्तुओं से वैराग्य होता है।

इस प्रकार यथाक्रम से द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का वर्णन करते हुए इस निर्जरा अधिकार में तात्पर्यव्याख्यान की मुख्यता से ४ गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे उस ही वैराग्यशक्ति का स्वरूप बताते हैं :-

अर्थ—कोई भोगों को सेवता हुआ भी सेवन नहीं करता है। [जैसे अभया रानी के चंगुल में फँसे हुए सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ-सा होकर भी वह उसका भोगने वाला नहीं होता] दूसरा कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है। जैसे कि किसी विवाह में जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नहीं होना है। उस विवाह का सब काम करते हैं ॥२०६॥

लो भोग, भोग कर भी मुनि हो न भोगी, भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्यागी, कर्त्ता कथं फिर बने पर का विरागी ॥२०६॥

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोवि निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वकीयगुणस्थानयोग्याशनपानादिपञ्चेन्द्रियभोगं सेवमानोऽपि सेवको न भवति । अन्यः पुनरज्ञानी कश्चिद् रागादिसद्भावादसेवमानोऽपि सेवको भवति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति । **पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति, तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरणिको न भवति । अन्यः पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरणिको भवति । तथा परमतत्त्वज्ञानी सेवमानोऽप्यसेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति ॥२०६॥

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेवं विशेषेण जानाति—

टीका—सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने-अपने गुणस्थान के योग्य खानपानादि रूप पंचेन्द्रियों के भोगों को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नहीं होता किन्तु अज्ञानी जीव उसे न सेवन करता हुआ भी उसके प्रति रागभाव होने से उसका सेवनवाला वना रहता है। इसी बात को दृष्टांत देकर अच्छी प्रकार समझाते हैं—**पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** जैसे कि जिसका विवाहादि नहीं होना है अतः वह विवाहादि प्रकरण का प्राकरणिक तो नहीं है, जो कि दूसरे घर से आया हुआ पहुना आदि है फिर भी वह उस विवाहादि का काम करता है किन्तु जो प्राकरणिक है–जिसका विवाहादि होना है–वह गीत-नृत्य आदि कोई भी प्रकार का काम नहीं करता है फिर भी उन–वैवाहिक कामों के प्रति उसका राग होने से वही प्राकरणिक कहलाता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव किसी विषय का सेवन करने वाला होकर भी वह उसका भोक्ता नहीं होता, किन्तु अज्ञानी जीव किसी वस्तु का न सेवन करने वाला होकर भी अपने रागभाव के कारण वह उसका भोक्ता बना रहता है ॥२०६॥

विशेषार्थ—आत्मा के साथ इन बाह्य वस्तुओं को चिपकाये रखने वाला आत्मा का ही राग भाव है। जिसके प्रति राग भाव होता है वह वस्तु दूर होकर भी आत्मा के पास में होती है और जिससे उसका राग नहीं होता वह समीप में होकर भी उसके लिए नहीं होती। जब ज्ञानी अर्थात् त्यागी का किसी भी वस्तु से राग नहीं होता किन्तु किसी भी प्रकार के परप्रयोगवश यदि उसके पास में कोई वस्तु होती है तो वह उसको स्वीकार करता हुआ–सा प्रतीत होता है फिर भी उसका कोई अपनेपन का सम्बन्ध नहीं होता। जैसे मुनि के पास में पिच्छी होती है, लोगों की दृष्टि में वह पिच्छी वाले कहलाते हैं तो भी उससे उनका कोई जातीय सम्बन्ध नहीं होता। उन्हें आगम की आज्ञा है जब भी कहीं पर बैठे तो वहाँ की भूमि एवं अपने शरीर को भी भली प्रकार झाड़ पौंछ कर बैठे इत्यादि। इसीलिये उसको वह रखते हैं अतः वह उनका परिग्रह नहीं होता। किन्तु गृहस्थ के पास में भले ही कुछ नहीं हो तो भी संसार भर को अपने पीछे लगाये हुए रहता है। यह सब वैराग्य की महिमा है।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके और पर के स्वरूप को विशेषतया अनेक प्रकार से जानता है :–

पुग्गलकम्मं कोहो[1] तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२०७।।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति । स कः ? शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एषः अक्षमारूपो भावः क्रोधः । **ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को** न वैष मम भावः । कस्मात् ? इति चेत्, टङ्कोत्कीर्णपरमानन्द-ज्ञायकैकभावोऽहं यतः । किं च–पुद्गलकर्मरूपः क्रोधः क्वास्ते ? भावरूप एव दृश्यते इति ? नैवं । पुद्गलपिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूपः स भावक्रोधः । इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति । कथं ? इति चेत् **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनो-कर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि षोडशसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येय-लोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानीति ।।२०७।।

अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति—

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विरागी जीव ऐसा जानता है कि राग नाम का पौद्गलिककर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीतिरूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो निश्चय से एकज्ञायक स्वभाव हूँ इसमें सन्देह नहीं ।।२०७।।

टीका– **पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो** पुद्गलकर्मरूप-द्रव्यक्रोध जो इस जीव में पहले से ही बद्ध हो रहा है उसका विशेष विपाक अर्थात् फलरूप उदय होता है जो कि शान्तरूप आत्म-तत्त्व उससे पृथग्भूत भिन्न अक्षमारूप भाव है वह भावक्रोध; **ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को** मेरा भाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक टांकी से उकीरे हुए के समान एक-परमानन्द रूप-ज्ञायकस्वभाववाला हूँ और इस प्रकार पुद्गल-कर्म के पिण्डरूप तो द्रव्यक्रोध है और उसके उदय से उपजा हुआ जो अक्षमारूप भाव है वह भाव-क्रोध है यह व्याख्यान पहले भी किया जा चुका है । वह कहाँ पर है ? कि 'पुग्गलपिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु' इसमें बताया है । इसी प्रकार क्रोध के स्थान पर मान, माया, लोभ, राग,द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन नाम बदलकर सोलह सूत्र भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यान करने योग्य हैं और इस प्रकार असंख्यात लोक परिमाण और भी जो जीव के परिणाम हैं वे सभी दूर करने योग्य हैं । सम्यग्दृष्टि जीव के लिए मिटा देने योग्य है ।।२०७।।

यदि कोई सम्यग्दृष्टि से पूछता है कि यह सब तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह इसका उत्तर भेदज्ञान-भावना के द्वारा इस प्रकार देता है :—

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है, तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा, ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ।।२०७।।

---

1 रागो इति पाठः ।

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।
परदव्वाणुवओगो ण हु देहो हवदि अण्णाणी ।।२०८।।

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो कथमेष विविधकर्मोदयफलविपाकस्तवस्वरूपं न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति । **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठन्ति तेषामुपयोग उदयोऽयं, औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत् । न केवलं भावक्रोधादि मम स्वरूपं न भवति, इति **ण हु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति हु स्फुटं । कस्मादिति चेत् ? अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात्, अहं पुनः अनन्तज्ञानादिगुणस्वरूप इति ।।२०८।।

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुञ्चन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति—

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो ।।२०९।।

एवं **सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीवः आत्मानं जानाति ।

अर्थ—यदि सम्यग्दृष्टि से कोई यह पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम वह तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह कहता है कि कर्म स्वयं परद्रव्य हैं जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, मेरे स्वभाव कैसे हो सकते हैं । देह तो स्पष्ट ही जड़स्वरूप है, मुझसे भिन्न है ।।२०८।।

टीका—कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो नाना प्रकार के कर्मोदय का विपाक वह तेरा स्वरूप क्यों नहीं है ? ऐसा यदि कोई पूछता है तो सम्यग्दृष्टि उत्तर देता है कि **परदव्वाणुवओगो** विकार रहित परम प्रसन्न भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप पौद्गलिक कर्म जो मेरी आत्मा में लगे हुए हैं उनके उदय से होने वाला यह क्रोधादिक तो औपाधिक भाव है जैसे कि डांक के कारण से होने वाला स्फटिक का काला, पीलापन है । अतः क्रोधादिक रूप भाव मेरा स्वभाव नहीं है । इतना ही नहीं किन्तु **ण हु देहो हवदि अण्णाणी** यह शरीर भी मेरे शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है, जड़ स्वरूप है और मैं अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप हूँ ।।२०८।।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और रागद्वेषादि भावों को छोड़ता हुआ ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है :—

अर्थ—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायकस्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यग्दृष्टि होता है ।।२०९।।

टीका—एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं इस उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप को टांकी से उकीरे हुए के समान सदा एक-सा रहने वाला ऐसा परमानन्द

रागादि भाव तुममें जब हो रहे हैं, कैसा कहो फिर उन्हें पर वे रहे हैं ।
भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे हैं, कायादि भी पर अतः मुझसे घिरे हैं ।।२०८।।

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला, पीता सदा परम पावन बोध प्याला ।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना में, देता न दृष्टि उदयागत वेदना में ।।२०९।।

कथंभूतं ? टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावं । **उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्च वियाणतो** उदयं पुनर्मम स्वरूपं न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मुञ्चति । किं कुर्वन् सन् ? नित्यानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं त्रिगुप्ति-समाधौ स्थित्वा जानन्निति ।।२०९।।

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति––

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२१०।।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं उदयविपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणां सम्बन्धी वर्णितः कथितः, जिनवरैः । **ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को** ते कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम

स्वभाव रूप जानता है । **उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो** और यह उदय है वह मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु यह तो कर्म का विपाक है ऐसा मानकर उसे छोड़ देता है क्योंकि वह त्रिगुप्ति-समाधि में स्थित होकर नित्यानन्द एक स्वभाव वाले परमात्म-तत्त्व को जानता रहता है ।।२०९।।

विशेषार्थ—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो सभी प्रकार के विभाव-भावों से रहित हो वही सम्यग्दृष्टि होता है । यह दशा कहाँ और किस समय होती है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि यह अवस्था त्रिगुप्तिरूप-परमसमाधि-काल में होती है, छद्मस्थ अवस्थाओं में नहीं, अतः वहीं पर सम्यग्दृष्टि होता है । इसी बात का समर्थन श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी किया है–'स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति' अर्थात् अपने आपके वस्तुत्व को, वास्तविक-स्वरूप को अनुभव करता हुआ यह जीव कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के विकारीभावों को छोड़कर उनसे रहित होता है । इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है । इसलिए निःसंकोचरूप से यह मान लेना चाहिए कि यहाँ पर वीतरागसम्यग्दृष्टि ही का वर्णन है, किन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती-सरागसम्यग्दृष्टि का नहीं है क्योंकि वह तो हर समय अविरत ही होता है, वैराग्ययुक्त नहीं होता और न वास्तविक आत्मानुभवरूप-ज्ञानयुक्त होता है क्योंकि वह तो कभी सामायिकादि के समय शुद्धात्मा का चिंतवन मात्र कर पाता है ।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्य रूप से अपने और पर के स्वभाव को अनेक प्रकार से जानता है :–

अर्थ—योगी जानते हैं कि श्री जिन भगवान् ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ।।२१०।।

टीका––उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय का फल ज्ञान को ढँकने आदि के भेद से अनेक प्रकार का श्री जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया

विश्वास हो विविध है विधि के विपाक, ऐसा कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख ।
होगा नहीं वह विभाव, स्वभाव मेरा, ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ।।२१०।।

स्वभावा न भवन्ति इति। कस्मात्? इति चेत्, टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावोऽहं यतः कारणात्। सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेवं जानाति इति भणितम्। कथं सामान्यं? इति चेत् क्रोधोऽहं मानोऽहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् 'विवक्षाया अभावः सामान्यमिति वचनात्।' एवं भेदभावनारूपेण ज्ञानवैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम् ॥२१०॥ इत ऊर्ध्वं गाथादशकपर्यन्तं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणं करोति। तद्यथा,

अथ रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति—

परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२११॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१२॥(युग्मम्)

परमाणुमित्तियंपि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं। **णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि** स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं

है। **ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को** वह कर्मोदय का प्रकार ज्ञानावरणादि भेद रूप से वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि मैं तो टांकी से उकेरी हुई वस्तु जैसे सदा एक-सी रहती है वैसे ही सदा बने रहने वाले परमानन्दमय और ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूँ। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि विरागी जीव सामान्य रूप से अपने और पर के स्वभाव को जानता है। सामान्य रूप से क्यों कहा? कारण-मैं क्रोध रूप हूँ या मान रूप हूँ इस प्रकार की विवक्षा का अभाव है। जिसमें विवक्षा का अभाव हो उसे सामान्य कहते हैं ऐसा नियम है।

इस प्रकार भेदभावना रूप से ज्ञान और वैराग्य दोनों के सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं। इसके आगे १० गाथाओं तक और भी ज्ञान और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करते हैं ॥२१०॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नहीं होता है :-

अर्थ—जिसके रागादिकों का लेशमात्र भी विद्यमान है तो वह जीव सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र का पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता। और जब आत्मा को नहीं जान सकता तो वह अन्य को भी नहीं जान सकता। एवं जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता वह जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता ॥२११-२१२॥

टीका—परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स जिसके हृदय में रागादि-विकार-भावों का स्पष्टरूप से जरा-सा लेश भी यदि विद्यमान है; **णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु**

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा, शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा।
होगा विशारद जिनागम में भले ही, आत्मा त्वदीय कुछ औ भव में डुले ही ॥२११॥
आत्मा न आतम-अनातम को लखेगा, सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा।
यों कुन्द-कुन्द कहते बन वीतरागी, क्यों व्यर्थ दुःख सहता तज राग रागी ॥२१२॥

न जानाति, नानुभवति । कथंभूतोऽपि ? सर्वागमधरोऽपि सिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि । **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो** स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नरागादिरूपमनात्मानं चाजानन् । **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो** स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ? न कथमपीति । किंच—रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः । तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिनः तीर्थंकर-कुमार-भरत-सगर-राम-पाण्डवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति ? इति । तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । कथं इति चेत् ? चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् । पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते । अत्र तु ग्रन्थे "पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्" ॥२११-२१२॥

सव्वागमधरोवि तो वह परमात्म-तत्त्व को नहीं जानने वाला होने से द्वादशांगमय सम्पूर्णशास्त्रों का पारगामी होकर भी शुद्ध-बुद्धरूप-एकस्वभाववाले-आत्मा को नहीं जानता-अनुभव नहीं करता है । अतः **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो** स्वसंवेदन-ज्ञान के बल से सहजानन्दरूप-एक-स्वभाववाले शुद्धात्मा को नहीं जानता हुआ तथा भावना नहीं करता हुआ वह शुद्धात्मा से भिन्न जो रागादिरूप अनात्मा को भी नहीं जानता हुआ, **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो** जब जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता है तो वह सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? इस पर यह शङ्का हो सकती है कि जब रागी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है तब क्या चतुर्थ व पञ्चमगुणस्थानवर्ती कुमार-अवस्था के तीर्थंकर, भरत, सगरचक्री, रामचन्द्र व पाण्डवादि सम्यग्दृष्टि नहीं होने चाहिये ? क्योंकि उनके राग तो स्पष्ट ही होता है । इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि यह बात नहीं है । मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से अल्प बन्ध होता है क्योंकि मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का उनके बन्ध नहीं होता । इसलिए सरागसम्यग्दृष्टि चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाली पाषाण रेखा के समान रागादिभावों का अभाव होता है तथा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाली भूमि रेखा के समान रागादिकों का अभाव होता है, यह बात पहले भी समझा चुके हैं । किन्तु इस ग्रन्थ में तो पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवों से ऊपर के गुणस्थानवर्ती-वीतरागसम्यग्दृष्टि जीवों को ही मुख्यता से ग्रहण किया है । सरागसम्यग्दृष्टियों को यहाँ पर गौण रक्खा गया है । जहाँ भी इस ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि का प्रसङ्ग आवे वहाँ सर्व ठिकाने ऐसा समझना चाहिए ॥२११-२१२॥

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके हृदय में कुछ भी राग का अंश है तो उसका मन उस राग से अनुलिप्त है । अतएव वह अपने आप को शुद्ध अनुभव नहीं कर सकता है । जो अपने आप को शुद्ध-अनुभव नहीं कर सकता वह आत्मा से भिन्न रहने वाले अकेले राग का भी अनुभव नहीं कर सकता वह तो दोनों का मिश्रित-अनुभव करता रहेगा । तब फिर सही-सही अनुभव करने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है । [तात्पर्य यह है कि यहाँ पर दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धारूप न लेकर अनुभूतिरूप लिया है ।] अनुभव तो प्राणी स्वयं जिस अवस्था में

अथ भाविनं भोगं ज्ञानी न काङ्क्षतीति कथयति—

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि ।।२१३।।

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं योऽसौ रागादिविकल्प कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदयः कर्मतापन्नो वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन, अनुभूयते । तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं । **तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकाङ्क्षति न वांछति कदाचिदपि ।।२१३।।

होता है उसी अवस्था का किया करता है। जैसे जो दुःखी होता है वह अपने आप को दुःखी और जो सुखी होता है वह अपने आपको सुखी अनुभव करता है। इसी प्रकार रागसहित अशुद्धावस्था में अपने आप का अशुद्ध ही अनुभव होगा। ऐसी दशा में वह सम्यग्दृष्टि सही अनुभव कर्त्ता कैसे हुआ? हाँ! जहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धा लिया जाता है वहाँ सराग दशा में अपने-आपको रागादि सहित अनुभव करते समय भी शुद्ध हो सकने का श्रद्धान होने से, कि 'मैं तो वर्तमान में रागादि-भावों से लिप्त होने के कारण से अशुद्ध हूँ किन्तु ये तो सब संयोगी भाव हैं अतः इन्हें दूर हटाकर शुद्ध हो सकता हूँ इत्यादि' सम्यग्दृष्टिपना बन सकता है किन्तु वह अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नहीं है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि भोगों की वांछा नहीं करता है :—

अर्थ—जो रागपूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनों ही समय समय पर विनष्ट हो जाते हैं। इन दोनों में से जो किसी को भी अंगीकार नहीं करता है किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है ।।२१३।।

टीका—जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं जो कोई रागादि रूप विकल्प है वह तो वेदन करने वाला, अर्थात् अनुभव करने वाला है अतः कर्त्ता है, और जो साता के उदय से होने वाला कर्म-रूप-भाव-रागादि-विकल्प से अनुभव किया जाता है, वे दोनों ही भाव-अर्थ-पर्याय की अपेक्षा से अपने अपने समय में होकर नष्ट हो जाते हैं, क्षणिक हैं। **तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि** अतएव वर्तमान में व आगामी काल में भी होने वाले वेद्य-वेदक-रूप दोनों भावों को विनश्वर जानता हुआ तत्त्वज्ञानी जीव उन दोनों में से किसी को कभी नहीं चाहता है ।।२१३।।

विशेषार्थ—वेद्य-वेदक-भाव-आत्मा का स्वभाव न होकर विभाव भाव है जो कि क्रम से होने वाला होकर क्षण-नश्वर है। जिसकी वांछा है ऐसा वेद्यभाव हुआ तो वेदक भाव नहीं है और जब वेदक भाव हुआ तब वेद्य-भाव नहीं रहा वह नष्ट हो गया। ऐसे सहानवस्थान होने से वांछित सिद्धि तो होती नहीं तब ज्ञानी जीव निष्फल वांछा कैसे करे? नहीं करे जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने कलश में भी कहा है—

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई, प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ थाई ।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा, कांक्षा पुनः किसलिए किसकी रखेगा? ।।२१३।।

अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबन्धनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वाञ्छति, इति प्रतिपादयति—

बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उपज्जदे रागो ॥२१४॥

बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स णेव उप्पज्जदे रागो स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागाद्युदयरूपेषु, अध्यवसानेषु बन्धनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः। कथंभूतेष्वध्यवसानेषु ? **संसारदेहविसएसु** निष्प्रयोजनबन्धनिमित्तेषु संसारविषयेषु भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा। इदमत्र तात्पर्यं–भोगनिमित्तं स्तोकमेव पापं करोत्ययं जीवः। निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत्। तथा चोक्तमपध्यानलक्षणं–'वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः'॥ इति अपध्यानेन कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते—

वेद्य-वेदक-विभाव चलत्वाद्वेद्यते न खलु काङ्क्षित मेव ।
तेन काङ्क्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोप्यतिविरक्तिमुपैति ॥

अर्थात् संसार की इन दृश्यमान क्षणिक वस्तुओं को वेद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य-भोगने योग्य समझकर अपने आपको वेदक अर्थात् अनुभवन करने वाला-भोगने वाला स्थापन करना सो असम्बद्ध है, किसी भी प्रकार घटित नहीं होता। अतः उस वेद्य-वेदक भाव को जो कभी नहीं चाहता-स्मरण भी नहीं करता है किन्तु इन सांसारिक वस्तुओं से अत्यन्त विरक्त हो रहता है दूर हो रहता है,वही विद्वान् अर्थात् ज्ञानी है।

आगे कहते हैं कि जो रागादिरूप अध्यवसान भाव हैं वे सभी दुर्ध्यानात्मक हैं अतः संसार में निष्प्रयोजन बंध के कारण बनते हैं उनमें से जो शरीर के संबंध को लेकर भोग के निमित्त बनते हैं उन सभी भावों को परमात्म-तत्त्व-वेदी जीव कभी नहीं चाहता है–

अर्थ—बंध व उपभोग के निमित्तभूत, ऐसे दो प्रकार के अध्यवसान के उदय होते हैं जो कि संसार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता ॥२१४॥

टीका—बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स णेव उपज्जदे रागो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के रागादि भावों के उदय रूप अध्यवसान बन्ध के निमित्त और भोग के निमित्त राग पैदा नहीं करता। वे अध्यवसान कैसे होते हैं? **संसारदेहविसएसु** कुछ तो संसार को लक्ष्य में लेकर बिना प्रयोजन ही बंध के करने वाले रहते हैं और कुछ वर्तमान शरीर को लक्ष्य में लेकर भोगों के निमित्त बनते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि यह जीव भोगों के निमित्त तो बहुत कम पाप करता है किन्तु शालिमत्स्य के समान बिना ही प्रयोजन अपने दुर्विचार से घोर पाप करता है। जैनागम में अपध्यान का लक्षण ऐसा कहा गया है—

"वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्चपरकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥

किसी भी प्रकार के बैर के कारण या अपने विषय साधने के राग के वश हो कर दूसरों के स्त्री-पुत्रादिक का बांधना, मार डालना या नाक आदि छेद डालना आदि का चिन्तन करना उसको जिनशासन में प्रवीण लोगों ने अपध्यान कहा है। इससे यह जीव घोर कर्म बन्ध करता है।

संसार-काय, विधिबंधन भोग द्वारा, धारा प्रवाह चलते जग में सुचारा ।
ज्ञानी तभी मुनि करें उनमें न प्रीति, आश्चर्य क्या ? जब हुई निज की प्रतीति ॥२१४॥

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ।।
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरङ्गम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्तुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ।।
आचारशास्त्रे भणितं—कंखदि कलुसिदभूदो दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
ण य भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ।।
इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा च शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः ।।२१४।।

जैसा कि लिखा है–

संकल्प कल्पतरु संश्रयणात् त्वदीयं, चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि, पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ।।

संसार की मोहमाया में फंसे हुए प्राणी को लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई ! अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में फंसकर जो तेरा मन नाना प्रकार की इच्छायें करता रहता है, उससे तेरा प्रयोजन तो कोई सिद्ध होता नहीं मात्र पाप का संचय होता रहता है।

दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्ते, श्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरङ्गम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे, कौतुस्तुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ।।

हे भाई ! दुर्भाग्य से खाने-पीने आदि के विषय में लालायित होकर जैसा तेरा मन दौड़-धूप मचाता फिरता है, वैसा ही यदि परमात्म स्मरण में लग जाये तो फिर सारे झंझट दूर हो जावें । इसी प्रकार आचारशास्त्र में भी लिखा है––

कंखदि-कलुसिद-भूदो, दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
ण य भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ।।

इन दुष्ट काम भोगों की वासनाओं में फंसा हुआ मनुष्य का मलीन मन नाना प्रकार की इच्छायें करता है उससे भोगों को न भोगता हुआ भी अपने उस दुर्भाव के द्वारा कर्म-बंध करता ही रहता है, ऐसा जानकर अपध्यान का त्यागकर शुद्धात्मा के स्वरूप में लगे रहना चाहये ।।२१४।।

विशेषार्थ––यहाँ पर आचार्य देव ने यह स्पष्ट कर दिखाया है कि जो संसार, देह और भोगों से सर्वथा विरक्त होता है और जिसके किसी भी प्रकार का आर्त्तभाव व रौद्रभाव नहीं होता है वही ज्ञानी होता है । ऐसा अप्रमत्त दशा में ही होता है उसके पहले नहीं । यहाँ शङ्का हो सकती है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक भी तो संसार, देह और भोगों से विरक्त होता है जैसा कि रत्नकरंडश्रावकाचार में लिखा है–'सम्यग्दर्शनशुद्धः, संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ।।' इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर जो 'निर्विण्ण' शब्द है उसका अर्थ विरक्त नहीं है किन्तु उद्विग्न अर्थात् अनासक्त ऐसा अर्थ है जो कि ठीक है । क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी घोर मिथ्यादृष्टि के समान संसार, शरीर और भोगों में आसक्त नहीं होता किन्तु उन्हें स्वीकार किये हुए होकर भी उनसे भयभीत-सा रहता है । अपितु विरक्त का अर्थ तो छोड़े हुए–उनसे दूर रहने वाला अर्थात् त्यागी ऐसा होता है, जो अविरत या

अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवतीति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यशक्तिं च प्रकटयति—

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं ॥२१५॥

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं मु गच्छेज्ज सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्व-रागादिकं परद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहमजीवत्वं जडत्वं गच्छामि । न चाहं अजीवो भवामि । **णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं** परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः ॥२१५॥

अथ किं तत् परमात्मपदमिति पृच्छति—

आदह्मि दव्वभावे अथिरे[1] मोत्तूण गिण्ह तव[2] णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२१६॥

आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्ठन्ति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा । **गिण्ह** हे भव्य ! गृहाण स्वीकुरु । कं ? कर्मतापन्नं । **तव णियदं**

देशविरत के साथ में ठीक नहीं बैठता प्रत्युत यहाँ पर तो ज्ञानी को सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर आत्म तल्लीन रहने वाला बतला आये हैं ।

अब मिथ्यात्वादि अपध्यान मेरा परिग्रह नहीं है और भेदज्ञानशक्ति व वैराग्यशक्ति की महिमा प्रकट करते हैं :-

अर्थ—यदि यह शरीरादिक परद्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाये तो फिर मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ । किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये यह सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है ॥२१५॥

टीका—मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज मैं तो सहज-शुद्ध-केवल-ज्ञान और दर्शन स्वभाववाला हूँ । अतः मिथ्यात्व व रागादिकरूप परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जाये तो मैं अजीवपने को अर्थात् जड़पने को प्राप्त हो जाऊँ, परन्तु मैं अजीव नहीं हूँ । **णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं** मैं तो परमात्मस्वरूप-शुद्धज्ञानमयी हूँ, इसलिये यह शरीरादिक परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ॥२१५॥

वह परमात्मपद क्या है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

अर्थ—आत्मा में जो द्रव्य और भावकर्म हैं उनको अस्थिर जान करके छोड़ दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्मपदार्थ को ग्रहण कर ॥२१६॥

टीका— आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण अधिकरणभूत आत्मद्रव्य में द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उनको विनाश होने वाले, अस्थिर जानकर छोड़ दे । **गिण्ह तव णियदं थिरमेगमिमं**

देहादि को यदि मदीय मनो ! कहूँगा, निःशंक चेतन, अचेतन मैं बनूँगा ।
मैं तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ, मेरा नहीं पर परिग्रह, मैं बना हूँ ॥२१५॥
ये द्रव्य-भाव मय कर्म विभाव सारे, छोड़ो इन्हें ध्रुव नहीं व्यय शील वाले ।
शुद्धात्म से प्रभव भाव-स्वभाव धारो, जो है अबाध ध्रुव केवल विश्व सारो ॥२१६॥

---

[1] अपदे इति पाठः । [2] तह इति पाठः ।

थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण भावं आत्मपदार्थं। कथंभूतं? तव सम्बन्धिस्वरूपम्। नियतं निश्चितम्। पुनरपि कथंभूतं ? स्थिरं, अविनश्वरम्। एकम् असहायम्। इमं प्रत्यक्षीभूतम्। पुनरपि किंविशिष्टम् ? उपलभ्यमानमनुभूयमानम्। केन कृत्वा ? परमात्मसुखसंवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञानस्वभावेनेति ॥२१६॥

अथ ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णातीति भेदभावनां प्रतिपादयति;

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२१७॥

को **णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं** परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा। को ब्रूयात् ? बुधो ज्ञानी, न कोपि। किं कुर्वन् ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो** चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति ॥२१७॥

अथायं च मे निश्चयः देहरागादिपरद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं निरूपयति—

भावं उवलंब्भंतं सहावेण और हे भव्य ! तू अपने स्वभाव को ग्रहण कर जो कि तेरा स्वभाव निश्चित है, सदा एकसा रहनेवाला है, पर की सहायता से रहित है और स्पष्ट रूप से तेरे अनुभव में आने वाला है। अर्थात् परमोत्कृष्ट आत्मसम्बन्ध-सुख का संवेदन ही है स्वरूप जिसका ऐसे स्वसंवेदन-ज्ञानस्वभाव के द्वारा जाना जाता है ॥२१६॥

विशेषार्थ—जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान तक सभी भाव आत्मा में होकर भी अनियत, अनेकरूप, क्षणिक-स्थिति वाले तथा व्यभिचारस्वरूप हैं। अतः आत्मा के पद नहीं हैं किन्तु जो स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है अव्यभिचारी है, सदा बना रहने वाला है वही आत्मा का पद है। वही ज्ञानी के द्वारा अनुभव करने योग्य है।

आगे ज्ञानी परद्रव्य को जानता है, ग्रहण नहीं करता, इस भेदभावना को बतलाते हैं–

अर्थ—कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी 'यह मेरा द्रव्य है' इस प्रकार कहता रहे। क्योंकि वह तो नियम से अपने आप को ही अपना परिग्रह जानता रहता है ॥२१७॥

टीका—को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं वह कौन-सा ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी, 'यह मेरा द्रव्य है' ऐसा स्पष्टरूप से कहता रहे? किन्तु कोई ज्ञानी भी ऐसा नहीं। **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो** क्योंकि वह तो निश्चितरूप से चिदानन्द ही है एकस्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा को ही अपना परिग्रह जानता रहता है ॥२१७॥

आगे कहते हैं कि ये शरीरादि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है। इसी बात को और भी दृढ़ता से कहते हैं :–

ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी, डूबा हुआ स्वमय में सब ग्रन्थ त्यागी।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी, ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी ? ॥२१७॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं ॥२१८॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं छिद्यतां वा द्विधा भवतु,भिद्यतां वा छिद्रीभवतु,नीयतां वा केनचित् । अथवा विप्रलयं विनाशं गच्छतु । एवमेव **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं** अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति । कस्मात् ? इति चेत् टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावोहं, यतः कारणात् अयं च मे निश्चयः ॥२१८॥

अथात्मसुखे सन्तोषं दर्शयति—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥२१९॥

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो हे भव्य पञ्चेन्द्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, सन्तुष्टो भव, तृप्तो भव नित्यं सर्वकालं । **तो होहदि उत्तमं**

अर्थ—यह शरीरादिक पर द्रव्य भले ही छिद जावो, भिद जावो, अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट हो जावो, जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है । इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ स्वभाव में रहता है ॥२१८॥

टीका—**छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** भले ही यह शरीर छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, चाहे यह भिद जावे अर्थात् नाना छेद वाला बन जावे, इसे कोई कहीं ले जावे, अथवा नष्ट हो जावे । **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं** भले ही इसकी कैसी भी दशा क्यों न हो जावे, इसका मुझे कोई भी विचार नहीं क्योंकि यह शरीर मेरा परिग्रह नहीं है । मैं तो टांकी से उकीरे हुए के समान सदा एक-सा रहने वाला एवं परमानन्द ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूँ अर्थात् मैं तो इससे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला हूँ यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥२१८॥

अब आत्म सुख में ही सन्तोष है ऐसा बतलाते हैं :—

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह । उसी में सदा के लिए संतोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो सब इच्छाओं को छोड़, तभी सदा बना रहने वाला उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥२१९॥

टीका—**एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो** हे भव्य ! तू पंचेन्द्रिय-जन्य सुख को छोड़कर निर्विकल्पस्वरूप-आत्मध्यान के बल से सहज-स्वाभाविक और आत्मसुख में लीन हो, सन्तुष्ट बन एवं सदा के लिए तृप्त हो रह । **तो होहदि उत्तमं सोक्ख** उस

हो जीर्ण शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही, भाई भले अनल से पल में जले ही ।
हो खण्ड-खण्ड अणु होकर भी बिखरेगा, मेरा न राग तन में फिर भी जगेगा ॥२१८॥
सद्बोध रूप सर में डुबकी लगा ले, संतप्त तू स्नपित हो सुख शान्ति पाले ।
औ अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके, विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥

सोक्खं ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति ।।२१९।।

अथ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्ष-विषादादिविकल्पजालरहितं परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।२२०।।

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं यत्तन्निश्चयेन एकमेव पदं परं, किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवन्ति, तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्म-वशेन मतिश्रुतज्ञानादिभेदभिन्नं जातं । **सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** स एष लोकप्रसिद्धः पञ्चज्ञाना-भेदरूपः परमार्थः यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः । एवं ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरण-रूपेण सूत्रदशकं गतं ।।२२०।। अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यन्तं तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुणः तस्य सामान्यविवरणं करोति । तद्यथा—

सर्वोत्कृष्ट आत्मसुख के अनुभव करने से तुझे सदा बना रहने वाला मोक्षसुख प्राप्त होगा ।।२१९।।

विशेषार्थ—ज्ञानी को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं—हे भाई ! यदि तू ज्ञानी बना रहना चाहता है तो आत्मा के सिवाय इतर सभी वस्तुओं को भूलकर केवल आत्मध्यान में तल्लीन हो रहना चाहिये तभी तू ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बन सकता है ।

आगे कहते हैं कि जिस परमार्थरूप-मोक्ष के कारणभूत पद में मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान भेद नहीं हैं वह परमात्मपद हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के विकल्पजाल से रहित है । उस परमपद को यह आत्मा परमयोगाभ्यास से ही अनुभव करता है :—

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं वह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थरूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है ।।२२०।।

टीका—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ज्ञानमति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के नाम से भेद होकर भी वास्तव में एक रूप ही रहता है । जैसे मेघों के द्वारा आच्छादन होने के तारतम्य के भेद से सूर्य प्रकाश में भेद हो जाते हैं वैसे ही मतिज्ञानावरणादि भेद वाले कर्म के वश से जिसमें मतिश्रुतादि भेद हो जाते हैं । **सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** इन लोक प्रसिद्ध पाँच भेदों द्वारा भी जो भेद को प्राप्त को नहीं होता वह परमार्थरूप ज्ञान सामान्य है जिसको प्राप्त करके यह जीव निर्वाण को प्राप्त होता है ।।२२०।।

इस प्रकार ज्ञानशक्ति और वैराग्य-शक्ति का विशेष वर्णन करने में दश गाथायें पूर्ण हुईं । आगे आठ गाथाओं में उस ही परमात्मपद का प्रकाश करने वाला जो ज्ञान गुण है उसका सामान्य वर्णन करते हैं ।

विज्ञान पंचविधि एक निजातमा है, सत्यार्थ है निरखते अघ खातमा है ।
लेता सहाय निज का यदि चाव से तू, लेगा विराम चिर चेतन छाँव में तू ।।२२०।।

अथ मत्यादिपञ्चज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादिकायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभन्त इति कथयति—

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं[1] जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।२२१।।

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति निर्विकारपरमात्मतत्त्वोपलब्धिलक्षणज्ञानगुणेन विहीनाः रहिताः पुरुषाः बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि मत्यादिपञ्चज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणं स्वसंवेद्यं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणमिदं पदं न लभन्ते । **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं** हे भव्य तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति ।।२२१।।

अब सबसे प्रथम यह बताते हैं कि मत्यादि पाँच ज्ञानों के द्वारा भी जिसका भेद नहीं हो पाता है जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है और परमात्म पद स्वरूप है उस पद को शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य केवल कायक्लेशादि रूप व्रत तपश्चरणादि करने वाले प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वे स्वसंवेदन ज्ञान से हीन हैं—

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू कर्मों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद को नहीं प्राप्त होते हैं ।।२२१।।

टीका—**णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति** सभी प्रकार के विकार से वर्जित जो परमात्म-तत्त्व उसकी उपलब्धि होना ही है लक्षण जिसका ऐसे ज्ञान गुण से रहित बहुत से पुरुष, शुद्धात्मा ही उपादेय है इस स्वसंवेदन ज्ञान से रहित ऐसे घोर-काय-क्लेश आदि तपश्चरण को करते हुए भी मत्यादि-पाँच प्रकार के ज्ञानों से भी जिसमें भेद नहीं हो सके ऐसे साक्षात् मोक्ष के कारणभूत तथा शुद्धात्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका ऐसे अपने आपके द्वारा ही अनुभव करने योग्य पद को नहीं पा सकते हैं । **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं** इसलिए हे भव्य ! यदि तू कर्मों से मुक्त होना चाहता है तो उस उत्तम पद को स्वीकार कर ।।२२१।।

विशेषार्थ—'ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं' अमृतचन्द्राचार्य के उस वचनानुसार जब छद्मस्थ आत्मा का ज्ञान, ज्ञान को ही विषय करने वाला हो जाता है उस समय उसमें अपने आपके सिवाय और किसी का भान भी नहीं रहता । तब उसको ज्ञान गुण या ज्ञानभाव कहते हैं । स्वरूपाचरण, स्वसंवेदन, आत्मानुभव, शुद्धोपयोग और शुद्धनय आदि सब इसी के नाम हैं । इस ज्ञान गुण को प्राप्त किये बिना आज तक किसी को न तो मोक्ष प्राप्त हुआ और न हो सकता है । यह बाह्य तपश्चरण आदि तो उसके साधन मात्र हैं उसी को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं । क्योंकि बाह्य त्याग तपस्या के बिना वह ज्ञान मात्र अवस्था कभी प्राप्त नहीं हो सकती । जैसे कि खेती के बिना अन्न नहीं हो सकता है किन्तु खेती होकर भी यदि अन्न न आवे तो फिर वह घास है केवल पशु के खाने की वस्तु है । वैसे ही त्याग तपस्या अंगीकार करके भी शुद्धात्मा के

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते, पीते सुधा न निज की रह जाय रीते ।
विज्ञान को भज अतः, विधि काटना है, तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ।।२२१।।

---

1 णियदमेदं इतिपाठः ।

अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं अपरिग्रहो भणितः । कोसौ ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्विच्छा वाञ्छा मोहो नास्ति । तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥२२२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२३॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छः—तस्य

ध्यान की ओर यदि लक्ष्य न रखा गया तो वह त्याग तपस्या केवल स्वर्ग सुख देने वाली है, उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ।

आगे विशेष परिग्रह के त्याग कराने के अभिप्राय से उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करते हैं–

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है—पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता, क्योंकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है । वह केवल ज्ञायक होकर रहता है ॥२२२॥

टीका—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं जो इच्छा रहित होता है वह अपरिग्रही होता है । जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा नहीं होती अर्थात् बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नहीं होता । इससे स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोड़कर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहता है । **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** इसलिए पुण्य रूप धर्म का परिग्रहवान् न होकर, किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर उस पुण्य रूप से परिणमन नहीं करता हुआ तन्मय नहीं होता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका जानने वाला ही होता है ॥२२२॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह रहित है—अन्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह इच्छा से रहित है । अतः वह किसी भी प्रकार के पाप की भी इच्छा नहीं करता, इसलिए उसके पाप का भी परिग्रह नहीं है । वह तो उसका मात्र जानने वाला रहता है ॥२२३॥

टीका—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं जिसके बाह्य द्रव्यों में

धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग, चाहे नहीं मुनि परिग्रह का सुयोग ।
त्यागी रहा इसलिए शुभ धर्म का है, ज्ञाता निरन्तर, न बंधक कर्म का है ॥२२२॥
होता अधर्ममय है अशुभोपयोग, ज्ञानी न चाहत कभी अघ संग योग ।
ज्ञाता अतः मुनि निसंग कुभोग का है, सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२३॥

परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा काङ्क्षा नास्ति। तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूपमधर्मं पापं नेच्छति। **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् विषयकषायरूपस्याधम्स्याऽपरिग्रहः सन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति। एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदश-सूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ॥२२३॥

धम्मत्थि अधम्मत्थी आयासं सुत्तमंग-पुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं दुयमणु अतिरियणेरइयं ॥२२४॥

अपरिग्रहो भणितः। कोऽसौ ? अनिच्छ तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा आकांक्षा नास्ति। तेन कारणेन परमतत्त्वज्ञानी चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं विहाय धर्माधर्माकाशाद्यङ्गपूर्वगतश्रुतबाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-देवमनुष्यतिर्यङ्नारकादिविभावपर्यायान्नेच्छति इति ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। ततः कारणात्तद्विषये निष्परिग्रहो भूत्वा तद्रूपेणा-परिणमन् सन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥२२४॥

वांछा नहीं है वह परिग्रह रहित है। इसलिये तत्त्वज्ञानी जीव विषय-कषाय-रूप अधर्म को, पाप को कभी नहीं चाहता। **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** इसलिए वह विषय-कषाय-रूप पाप का ग्राहक न होता हुआ यह पाप मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर पाप-रूप से परिणमन नहीं करता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका ज्ञायक ही होता है।

इस प्रकार अधर्म के स्थान पर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ऐसे १७ सूत्र पृथक्-पृथक् व्याख्यान करने योग्य हैं। इसी प्रकार शुभ व अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित व अनंतज्ञानादि गुण सहित है स्वरूप जिसका ऐसे शुद्धात्मा का विरोध करने वाले और भी असंख्यात-लोक-प्रमाण-विभाव-परिणाम स्थान त्यागने योग्य हैं ॥२२३॥

अर्थ—परमतत्त्वज्ञानी जीव धर्म-अधर्म, आकाश, अङ्गपूर्व का श्रुतज्ञान, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी व अन्य परिग्रह की इच्छा नहीं करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है ॥२२४॥

टीका—परमतत्त्वज्ञानी जीव परिग्रह रहित होता है क्योंकि वह इच्छा रहित होता है, जिसके बाह्य पदार्थों में आकांक्षा नहीं होती उसके परिग्रह भी नहीं होता, यह नियम है। इसलिए परमतत्त्वज्ञानी जीव चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिसका ऐसी शुद्धात्मा को छोड़कर धर्म, अधर्म और आकाश आदि अंग-पूर्वात्मक श्रुत में बताते हुए बाह्य और अंतरंग परिग्रह तथा देव, मनुष्य तिर्यंच और नारकादि विभाव पर्यायों को नहीं चाहता है ऐसा समझना चाहिए। इस कारण इस विषय में परिग्रह रहित होता हुआ उस रूप से परिणमन नहीं करता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका मात्र ज्ञायक ही होता है ॥२२४॥

तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ, शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ ।
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी, संसार सौख्य नहिं चाहत वीतरागी ॥२२४॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी [1] ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२५॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्च्छा ममत्वं नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ॥२२५॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी [2] ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२६॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । कोऽसौ ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्वाकाङ्क्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है । इस प्रकार जो ज्ञानी होता है वह भोजन की इच्छा नहीं करता है । इस कारण से भोजन को नहीं ग्रहण करता हुआ केवल ज्ञाता ही रहता है ॥२२५॥

टीका—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी** जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा, मूर्च्छा, ममत्व परिणाम नहीं है, वह अपरिग्रहवान् कहा गया है क्योंकि इच्छा अज्ञानमय भाव है। इससे इसका होना ज्ञानी के संभव नहीं है अतः ज्ञानी के भोजन की भी इच्छा नहीं होती। इसलिये वह **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** आत्म सुख में संतुष्ट होकर भोजन व तत्संबंधी पदार्थों में परिग्रह रहित होता हुआ जैसे दर्पण में आये हुए प्रतिबिंब के समान केवल आहार में ग्रहण करने के योग्य वस्तु का उस वस्तु के रूप से ज्ञायक ही होता है । किन्तु रागरूप से उसका ग्रहण करने वाला नहीं होता ॥२२५॥

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है । इस प्रकार ज्ञानी जीव किसी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं करता है । इस कारण उसके पीने का भी परिग्रह नहीं होता है अतः वह तो उसका केवल ज्ञाता ही रहता है ॥२२६॥

टीका—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी** जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहलाता है अर्थात् जिसके बाह्य-पदार्थों में इच्छा, मूर्च्छा व ममत्व-परिणाम नहीं है वह अपरिग्रहवान् कहा गया है । अतः इच्छा जो अज्ञानमय भावरूप है वह ज्ञानी के कभी सम्भव नहीं है । अतएव उसके पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं हो सकती इसलिए **अपरिग्गहो दु**

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है, इच्छा कभी अशन की करता नहीं है ।
ज्ञाता अतः अशन का रहता सही है, निस्संग को मुकति की मिलती मही है ॥२२५॥
ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है, वो-चाहता तरलपान कभी नहीं है ।
ज्ञाता रहा इसलिए रस पान का है, निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

---

[1] णाणी य णिच्छदे असणं, इति पाठः । [2] णाणी य णिच्छदे पाणं, इति पाठः ।

विविधपानकविषय निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुनो वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति ॥२२६॥ तथा चोक्तम्—

ण बलाउसाहणट्ठं ण शरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठं । णाणट्ठं संजममट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥
अक्खामक्खणिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारणणिमित्तं । पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥

पाणस्स जाणगो तेण सो होदि स्वाभाविक परमानन्द सुख में सन्तुष्ट होकर नाना प्रकार के पानक के विषय में परिग्रह रहित होता हुआ ज्ञानी जीव तो दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान वस्तुस्वरूप से उस पानक का ज्ञायक ही होता है—राग से उसका ग्राहक नहीं होता ॥२२६॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि ज्ञानी जीव को इच्छा नहीं होती अतः उसको किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं होता। वह तो निष्किञ्चन होकर आत्म-तल्लीन रहता है। इस पर शङ्का हो सकती है कि ऐसा जीव इन छद्मस्थों में कौन है, जिसके इच्छा बिल्कुल नहीं होती हो क्योंकि गृहस्थ के तो अनेक प्रकार की इच्छा हर समय लगी रहती है और मुनि-त्यागी-तपस्वी के भी और नहीं तो भोजन की इच्छा तो होती है और वह आहार भी ग्रहण करता ही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुनि जब अप्रमत्तरूपसे आत्मध्यान में मग्न होता है उस समय उसके किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं होती है अतः वास्तवमें वहाँ ज्ञानी होता है, जैसा कि "झाणणिलीणो मुणि णाणी" सिद्धान्त के इस वाक्य से स्पष्ट है। रही मुनि के आहार ग्रहण करने की बात सो सब वह प्रमत्तसंयत-दशा में हुआ करता है। यह आहार लेना भी शरीर को मोटा-ताजा सुन्दर बनाये रखने के लिये नहीं, किन्तु संयम के सम्पादन के लिये ज्ञानोपार्जन के लिए एवं ध्यान की सिद्धि के लिये होता है। जैसे गाड़ी चलाने के लिये उसके बांग लगाया जाता है वैसे ही केवल प्राण-संधारण के लिये ऋषि लोग भोजन करते हैं और प्राणों का संधारण भी जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त हो उसे सम्पादन करने लिये किया करते हैं। जैसा कि टीकाकार द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गाथाओं में लिखा हुआ है :—

ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठं ।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥
अक्खामक्खणिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारणणिमित्तं ।
पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥ (युग्मं)

अतः कारणमें कार्य का आरोप कर लेने से मुनि का आहार लेना भी परिग्रह न होकर वह ज्ञान-ध्यानरूप ही कहा जाता है। हाँ, जो लोग चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी कह कर उसे भी इन्हीं गाथाओं पर से अनिच्छक और निष्परिग्रही समझ बैठते हैं उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती, क्योंकि जो जीव छःखण्ड पृथ्वी को तो अपने पीछे लगाये बैठा है और अपने साधारण से स्वार्थ के लिये मोक्षगामी अपने भाई के ऊपर सुदर्शनचक्र चला देता है उसे ज्ञानी कहना ज्ञानी शब्द की विडम्बना ही है। उसे ज्ञानी तो नहीं किन्तु निष्परिग्रही ज्ञानी लोगों का श्रद्धालु, उनका हृदय से समादर करने वाला कह सकते हैं। अन्यथा मिथ्यादृष्टि तो उनका नहीं मानने वाला एवं विरोधी होता है। हाँ, यदि द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा अविरत

अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसंहरति—

इच्चादि एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ।।२२७।।

इच्चादिएदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी इत्यादिकान् पुण्यपापाशनपानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति । अनिच्छन् स कथंभूतो भवति ? **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः । पुनश्च कथंभूतो भवति ? जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालम्बोऽपि, अनन्तज्ञानादि-गुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालम्बन एव तिष्ठतीति भावार्थः ।।२२७।।

अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वाञ्छां न करोति कथयति—

सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी या अनिच्छक आदि रूप कहा जाए तो कहा जा सकता है क्योंकि आगे चलकर वह भी वैसा बनने वाला होता है। किन्तु ग्रन्थ की शब्द सारणी को देखते हुए यहाँ पर उसका प्रसंग नहीं है। उपर्युक्त गाथाओं में ज्ञानी को बाह्यवस्तुओं का ग्राहक तो नहीं किन्तु ज्ञायक बताया गया है। उसका तात्पर्य यह कि जिस अवस्था को प्राप्त करके यह छद्मस्थ जीव ज्ञानी कहलाता है, वह अप्रमत्त दशा दो भागों में विभक्त होती है। एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। सविकल्पदशा में शरीरादि बाह्य वस्तुओं को स्मरण करते हुए उनसे आपको पृथक् समझता हुआ वह दूसरे भाग में स्वयं निर्विकल्परूप से अपने आप में स्थिर हो रहता है।

अब परिग्रह त्याग के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं :-

अर्थ—उपर्युक्त अनेक भावों को आदि लेकर और भी अनेक प्रकार के सभी भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता, नहीं वांछा करता, किन्तु वह तो सब ओर से, सब ठौर निरालंब होकर ज्ञायक ही रहता है ।।२२७।।

टीका—इच्चादि एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी परमात्मतत्त्व का जानने वाला जीव ऊपर कहे हुए पुण्य-पाप और भोजन-पानादि इन बाह्य में होने वाले सभी भावों को कभी भी नहीं चाहता है। **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** क्योंकि वह तो नियम से टांकी से उकेरे हुए के समान सदा एक-सा रहने वाला और परमानन्दस्वरूप-ज्ञायकभाव है उस मय हो रहता है। वह ऊर्ध्व, मध्य और अधोरूप तीनों जगत् एवं भूत, भावी, वर्तमानरूप तीनों कालों में होने वाले बाह्य-अभ्यंतरपरिग्रहरूप चेतनाचेतनात्मक सभी परपदार्थों में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से निरालम्ब होकर अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान निश्चल अवलम्बन सहित ठहरता है ।।२२७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान व भविष्य के भोगों की इच्छा नहीं करता है :-

---

यों अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग निसंग ज्ञानी, होता निरीह सबसे सुन संत वाणी ।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है, ज्ञानाभिभूत-समता रस पी रहा है ।।२२७।।

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२२८॥

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति तस्य तस्मिन् भोगविषये 'षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्', कोऽसौ निरीहवृत्तिर्भवति ? स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकालं। **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबन्धरूपभाविभोगोदयस्याकाङ्क्षां न करोति। किं च विशेषः। य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालम्बनो भावः स एव स्वसंवेदन-ज्ञानगुणो भण्यते। तेन ज्ञानगुणावलम्बनेन य एव पुरुष ख्याति-पूजा-लाभभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिविभाव-रहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानन्दवासनावासितं चित्तं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुखेन वासितं रञ्जितं मूर्च्छितं परिणतं तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः।

अर्थ—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कालिक कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वांछा नहीं करता तथा भूत कालीन कर्म का भोग तो रहा ही नहीं है ॥२२८॥

टीका—उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं उत्पन्न हुए कर्मोदय के भोगने में स्वसंवेदन ज्ञानी जीव सदा ही वियोगबुद्धि एवं हेयबुद्धि वाला होता है। [यहाँ गाथा में जो तस्य शब्द पड़ा है, वह षष्ठी का एकवचन है जो 'उत्पन्नोदयभोगे' इस सप्तमी के एक वचनात्मक पद का विशेषण है किन्तु साधारण नियमानुसार विशेषण और विशेष्य में एक विभक्ति होनी चाहिए। टीकाकार ने इसका उत्तर यह दिया है कि षष्ठी और सप्तमी में कहीं अभेद भी होता है]। **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** वही ज्ञानी आगामी काल में उदय में आने वाले निदानबंध स्वरूप भविष्यकालीन भोगों का उदय, उसकी वांछा कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं करता। इसका स्पष्ट विवेचन यह है कि भोग, उपभोग आदि चेतन और अचेतनात्मक जितने भी द्रव्य हैं उन सबके विषय में निरालंबन रूप आत्मा के जो परिणाम हैं उसी का नाम स्वसंवेदन ज्ञान गुण है। इस स्वसंवेदन ज्ञान गुण के आलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ व भोगों की इच्छारूप निदानबंध आदि विभाव परिणाम से रहित होता हुआ तीन लोक और तीन काल में भी अपने मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन द्वारा विषयों के सुख में आनन्द की वासना से वासित होने वाले चित्त का त्याग कर अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा से रहित चित्तवाला होकर शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग–परमानन्दसुख के द्वारा वासित अर्थात् रंजित व मूर्छित रूप में परिणत अर्थात् उसी रूप अपने मन को संतृप्त, व तल्लीन बनाकर रहता है, वही जीव शुद्ध आत्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका तथा जिसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का भेद नहीं है, परमार्थ नाम से कहा जाने योग्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा जो परमागम की भाषा में वीतराग धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान स्वरूप कहा जाता है और अपने ही द्वारा संवेदन करने योग्य शुद्ध

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥२२८॥

यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूपं मोक्षं लभते। कस्मात्? इति चेत्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणाद् इति। एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपञ्चज्ञानविकल्परहितमखण्डपरमात्मपदं न लभ्यते इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतम् ॥२२८॥

अथानन्तरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यन्तं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति। तद्यथा—ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते इति प्रतिपादयति—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥ (युग्मं)

हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहितः स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलो यतः कारणात्, ततः कर्दममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति। अज्ञानी पुनः स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपञ्चेन्द्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्तः काङ्क्षितो मूर्च्छितो मोहितो भवति यतः कारणात् ततः कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा

आत्मा का स्थान है ऐसे ज्ञान को परम समरसी भाव के द्वारा अनुभव करता है। दूसरा जीव उसका अनुभव, नहीं कर सकता है एवं वह जैसे परमात्म पद का अनुभव करता है उसी प्रकार परमात्मपदस्वरूप-मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि उपादान कारण के समान ही कार्य हुआ करता है ऐसा नियम है। इस उपर्युक्त स्वसंवेदन ज्ञानगुण के विना मत्यादि पाँच ज्ञानों के विकल्प से रहित अखण्ड परमात्मपद को कभी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार संक्षेप से व्याख्यान करने की मुख्यता से आठ गाथाओं का वर्णन हुआ ॥२२८॥

अथानन्तर इस ही ज्ञानगुण का चौदह गाथाओं द्वारा विशेष व्याख्यान करते हैं—

सबसे प्रथम यह बताते हैं कि ज्ञानी सभी द्रव्यों में रागरहित वीतरागी होता है इसलिए नूतन कर्मबंध नहीं करता किन्तु अज्ञानी जीव राग सहित होता है अतः कर्म बन्ध करता है—

अर्थ—ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता। जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है। किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे में फँसकर नित्य नये कर्म बंध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है ॥२२९-२३०॥

टीका—स्वसंवेदन ज्ञानी जीव हर्ष-विषादादि विकल्पभावों की झंझट से रहित होता हुआ सभी द्रव्यों के प्रति होने वाले रागादिक विकारभावों का त्यागी होता है इसलिए कीचड़ में पड़े हुए सोने के समान वह नवीन कर्मरूप रज से लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञान के न होने से पंचेन्द्रिय के विषयादि सभी प्रकार के परद्रव्यों में रागभावयुक्त, आकांक्षायुक्त

ज्ञानी न बंध करता विधि से घिरा हो, पंचेंद्रि के विषय से जब वो निरा हो।
हो पंक में कनक पै रहता सही है, आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२२९॥
पंचेंद्रियों विषय में रममान होता, तो मूढ़ बंध विधि को स्वयमेव ढोता।
लोहा स्वयं कि जब कर्दम संग पाता, धिक्-धिक् स्वभाव तजता झट जंग खाता ॥२३०॥

---

1 रज्जतएण इतिपाठः।

बध्यते इति ॥२२९-२३०॥

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह—

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण ।
णागं होदि सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥२३१॥

मूर्च्छावान् एवं मोही रहता है इसलिए वह कीचड़ में पड़े हुए लोहे के समान नवीन-कर्मरूप रज से बँध जाता है ॥२२९–२३०॥

विशेषार्थ—ज्ञानी को नवीन कर्मबन्ध नहीं होता, अज्ञानी ही कर्मबन्ध किया करता है। ऐसा बताते हुए उस ज्ञानी को स्वसंवेदन करने वाला बतलाया है। यह स्वसंवेदन क्या है ? इसके विषय में आत्मानुशासन में भी एक श्लोक आया है :–

वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहु, रात्मनोऽनुभवं दृशः ॥

अर्थात् जहाँ पर योगी के ज्ञान में ज्ञेयपना व ज्ञायकपना ये दोनों अपने आप में ही हों, ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसंवेदन है इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। अर्थात् सब परद्रव्यों से हट कर अपने आपके द्वारा आप में ही लीन होने का नाम स्वसंवेदन है। यह योगी के अर्थात् त्रिगुप्तिरूप-समाधि में निरत मुनि के ही होता है। यही बात यहाँ कही है। सब ठौर हर्ष–विषादादि से रहित होने वाले ज्ञानी को संसार में देहयुक्त होते हुए भी नवीन कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु जिसके कहीं पर भी कुछ भी हर्ष-विषाद-रूप विभाव विद्यमान है उसके उपर्युक्त स्वसंवेदनज्ञान न होने से उसके रागभाव के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता ही है। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि स्वसंवेदनज्ञान तो अविरत सम्यग्दृष्टि के भी होता है। उसका उत्तर यह है कि उसको तो अपनी आत्मा का चेतन लक्षण के द्वारा परोक्षज्ञान होता है जैसा कि धूम को देखकर उससे अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु योगी को हर्ष-विषादादि रहित अपने शुद्धात्मा का जैसा मानसिकप्रत्यक्ष होता है वैसा नहीं होता, जिसको कि स्वानुभव कहा जावे। यही बात पञ्चास्तिकाय की गाथा १२७ की टीका में आई है—"य प्यनुमानेन लक्षणेन परोक्षज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्परहितस्वसंवेदन-ज्ञानसमुत्पन्न परमानन्दरूपानाकुलत्वसुस्थितवास्तविकसुखामृतजलेन पूर्णकलशवत् सर्वप्रदेशेषु भरितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतरेषांन भवति इत्यलिंगग्रहणोऽस्ति ॥

अब पूर्व-बद्धकर्मों की निर्जरा न होकर, किस प्रकार मोक्ष होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अर्थ व टीका—नागफणी, थूहर की जड़, हथिनी का मूत्र, गर्भनाग अर्थात् सिन्दूरद्रव्य

सिंधूर नागफणि की जड़ ढूँढ़ लाओ, औ मूत्र भी हथिनि की उनमें मिलाओ ।
ज्यों धोंकनी धुनकती रस प्राप्त होता, सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३१॥

नागफणी नामौषधी तस्या मूलं । नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं । गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं । नाग सीसकं । अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । कथंभूतः सन् ? भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टान्तगाथा गता ॥२३१॥

अथ दार्ष्टान्तिमाह—

कम्मं इवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभावो ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥२३२॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोगीहिं ॥२३३॥(युग्मम्)

द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामाः कालिकासंज्ञा ज्ञातव्याः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भेदाभेदरूपं परमौषधं जानीहि इति । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निभवति । द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या । आसन्नभव्यजीवो लोहं भवति । स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्योषध-ध्यानाग्निभ्यां संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभिः धमितव्यो ध्यातव्यः । इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्टचार्वाकमतानुसारिभिरिति ॥२३२-२३३॥

अथ ज्ञानिनः शङ्खदृष्टान्तेन बन्धाभावं दर्शयति—

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो कादुं ॥२३४॥

और नाग अर्थात् सीसा धातु इनको धोंकनी से अग्नि पर तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो स्वर्ण बन जाता है ॥२३१॥ वैसे ही—

अर्थ व टीका—द्रव्यकर्म तो कीट है, रागादि-विभावपरिणाम कालिका है, भेदाभेदरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नाम की परमौषधि है ऐसा जानो । वीतराग-विकल्परहित-समाधिरूप ध्यान है वही अग्नि है और आसन्न-भव्यजीवरूप लोहा है । उस भव्य लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादिरूप औषध तथा ध्यानरूप अग्नि के साथ संयोग मिलाकर परमयोगी लोगों को बारह प्रकार के तपश्चरणरूप धमनी में धमना चाहिये इस प्रकार करने से जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है वैसे ही मोक्ष भी हो जाता है । इसमें भट्ट और चार्वाक मत वालों को सन्देह नहीं करना चाहिये ॥२३२-२३३॥

अब ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता, उसे शंख के दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं :-

अर्थ—जैसे शंख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उन वस्तुओं

है अष्ट कर्म मल किट्ट असार सारा, लोहा बना पतित आतम है हमारा ।
रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो, सम्यक्त्व-बोध-व्रत औषध पात्र मानो ॥२३२॥
सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ, त्यों धोंकनी तपमयी तुम तो चलाओ ।
योगी बनो सतत आतम गीत गालो, ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो ॥२३३॥
जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है, निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है ।
कोई नहीं धवलता उसकी मिटाता, है कृष्णता न उसमें पुनि डाल पाता ॥२३४॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदं[1] णेदुं ।।२३५।।
जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।।२३६।।
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।।२३७।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं सयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ।।२३८।। (कुलकम्)

यथा सजीवस्य शङ्खस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते । किं कुर्वाणस्यापि ? भुञ्जानस्यापि । कानि ? कर्मतापन्नानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते । कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किं कुर्वाणस्यापि भुञ्जानस्यापि । कानि ? स्वीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि

के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञानी भी सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं हो सकता है । किन्तु वही शंख जब श्वेतपने को छोड़कर कृष्णरूप में परिणमन करता है तब उसके श्वेतपना नहीं रहता । उसी प्रकार ज्ञानी भी यदि अपने ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमन करता है तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है ।।२३४-२३८।।

टीका—जैसे भोगने में आने वाले सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों को खाने वाले शङ्ख का श्वेतपना किसी भी द्रव्य द्वारा काला नहीं किया जा सकता है। यह व्यतिरेक दृष्टांत की गाथा हुई । उसी प्रकार ज्ञानी जीव का वीतराग-स्वसंवेदनरूप-भेदज्ञान को अज्ञानरूप अर्थात् रागरूप कोई नहीं किया जासकता है भले ही वह अपने गुणस्थान अनुसार सचित्त अचित, या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों का उपभोग करता है क्योंकि किसी के स्वभाव को नहीं बदला

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे, ज्ञानी मुनीश मुनिके व्रत पा अनोखे ।
ऐसा विबोध मुनिका डिग क्यों सकेगा ? रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा ।।२३५।।

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा, आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा ।
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी, वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ।।२२६।।

निर्जीव शंख खुद वो निज से चिगेगा, आत्मीयता धवलता यदि हाँ तजेगा !
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी, वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ।।२३७।।

ज्ञानी स्वयं यदि मनो ! भजता विधी को, विज्ञान की उजलता तजता निधी को ।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना ! ! दुर्भाग्य पाक सहता भव दुःख नाना ।।२३८।।

---

[1] सक्कमण्णाणदं इति पाठः ।

विविधद्रव्याणि । ततः कारणात् चिरन्तनबद्धकर्मनिर्जरैव भवति । नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति । यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशङ्खः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात्, अन्तरङ्गस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथैव च यथा निर्जीवशङ्खः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अन्तरङ्गोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इति निर्जीवशङ्खनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्वभावच्युतः सन्नज्ञानत्वं गच्छेत् । तस्य संवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थः । इत्यन्वयदार्ष्टान्तगाथा गता ॥२३४-२३८॥

जा सकता है एवं जब वह ज्ञानस्वरूप ही रहता है, रागरूप नहीं होता तब उसके पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है नवीन बंध नहीं होता है । यह व्यतिरेक दार्ष्टांत गाथा हुई । जहाँ अन्वय और व्यतिरेक शब्द आते हैं वहाँ क्रमशः विधिरूप व निषेधरूप अर्थ लिया जाता है– ऐसा जानना चाहिए । हाँ, जहाँ वही पूर्वोक्त सजीव शङ्ख किसी भी परद्रव्य के लेप के वश से अपने अन्तरङ्गरूप उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेतपने को छोड़कर काला बनने चले तो श्वेतपन को छोड़ देता है । यह अन्वय दृष्टांत गाथा हुई । इसी प्रकार निर्जीव शङ्ख भी कृष्ण-स्वभाव परद्रव्य के लेप के वश से अपने अंतरङ्ग उपादान परिणाम के अधीन होता हुआ श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला बनने चले तो श्वेतपने को छोड़ ही देता है । इस प्रकार निर्जीव शङ्ख को निमित्त लेकर कही हुई अन्वयरूप दूसरी दृष्टांत गाथा हुई । उसी प्रकार उस शङ्ख के समान ज्ञानी जीव भी अपनी बुद्धि को बिगाड़ लेने से वीतराग-ज्ञानस्वभाव को छोड़कर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप अज्ञानतया परिणत होता है तब अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञानपने को प्राप्त होता है यह स्पष्ट ही है फिर उसके संवर पूर्वक निर्जरा भी नहीं होती है । यह दार्ष्टांत गाथा हुई ॥२३४–२३८॥

विशेषार्थ–स्पष्टीकरण यह है कि कार्य में उपादान व निमित्त दो प्रकार के कारण होते हैं । जो स्वयं कार्यरूप में परिणत हो उसे उपादान कहते हैं और जो उसमें सहयोग दे उसे निमित्त कहते हैं । लौकिक दृष्टि में निमित्त की मुख्यता और परमार्थ दृष्टि में उपादान की मुख्यता होती है । यह शास्त्र परमार्थी लोगों के लिए है सो यहाँ उपादान पर बल देते हुए शङ्ख का दृष्टांत देकर समझाया है कि काली-पीली वस्तुओं को खाकर भी शंख सफेद ही रहता है क्योंकि उसका स्वभाव श्वेत ही है । हाँ, यदि वह आप ही काला बने तो बन सकता है । वैसे ही ज्ञानी जीव को विकारी बनाने के लिए बाह्य निमित्त चाहे कितने ही क्यों न हों पर वे सब उसको– [ज्ञानी जीव को] विकारी नहीं कर सकते हैं । गजकुमार को चिगाने के लिए ब्राह्मण ने कितना बबंडर किया उनके माथे पर सिगड़ी जला दी फिर भी वे अपने ध्यान में ही रत रहे । किन्तु ज्ञानी जहाँ स्वयं ही बिगड़ने लगे और अपने उपयोग को बिगाड़े तो साधारण से निमित्त पर भी बिगाड़ हो सकता है । जैसे कि माघनन्दी आचार्य कुम्हार की लड़की को देखकर भ्रष्ट हो गये । इस प्रकार होने में तो ज्ञानी की स्वयं की ही भूल है और कोई क्या करे? उसे तो सावधान रहना चाहिए ।

अथ सरागपरिणामेन बन्धः तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२३९॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सोवि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥२४०॥
जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देदि राया विविह-सुहुप्पादगे भोगे ॥२४१॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४२॥ (चतुष्कं)

यथा कश्चित्पुरुषः, वृत्तिनिमित्तं राजानं रागेन सेवते ततः सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति । कान्? विविध-सुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिजीवविषयेऽन्वयदृष्टान्तगाथा गता । एवमेवाज्ञानी जीवपुरुष शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युतः

आगे दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा बतलाते हैं कि सराग परिणाम से बंध और वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है—

अर्थ—लोक में जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तब राजा उसके साधनभूत यथोचित पारितोषिक देता है । वैसे ही वह अज्ञानी जीव विषय सुख के लिए कर्मराजा की सेवा करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुख को उत्पन्न करने वाले भोग देता है । किन्तु यदि वही पुरुष किसी प्रकार के फल की इच्छा बिना राजा की सेवा करता है तो राजा उसे पारितोषक नहीं देता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि विरागी जीव विषयों के सुख के लिए कर्मरूपी राजा की सेवा नहीं करता है तब वही कर्मरूपी राजा नाना प्रकार के सुख पैदा करने वाले भोगों को नहीं देता है ॥२३९-२४२॥

टीका—जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो उस सेवक को राजा नाना प्रकार की सुखदायक वस्तुयें देता है यह अज्ञानी जीव के विषय में अन्वय दृष्टान्त का वर्णन करने वाली गाथा हुई । इसी प्रकार शुद्धात्मा से उत्पन्न होने वाले सुख से दूर होता हुआ अज्ञानी जीव भी विषय सुख के लिए कर्म रूपी राजा की सेवा करता है । अतः वह पूर्वोपार्जित पुण्य

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा, मानो धनाढ्य बनने करता सदैवा ।
राजा उसे सुखद-सुन्दर-सम्पदायें, देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासतायें ॥२३९॥
हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे, संसारिजीव यदि संपति-भोग पाने ।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी, देता उसे क्षणिक-भौतिक-दुःखकारी ॥२४०॥
मानो धनाढ्य बनने करता न सेवा, कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा ।
राजा कभी न मनवांछित सम्पदायें, देता उसे सुखद पूर्ण विलासतायें ॥२४१॥
साधू विराग दृग पा निज में लसें वे, ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवें ।
तो कर्म भी न उनको सुख-सम्पदा दे, तू कर्म-धर्म पर ध्यान अतः सदा दे ॥२४२॥

सन्नुदयागतं कर्मरजः सेवते विषयसुखनिमित्तं ततः सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्म राजा ददाति । कान्? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षारूपान् शुद्धात्मभावानां विनाशकान् रागादिपरिणामान् इति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाकाङ्क्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबन्धिपुण्यराजाः कालान्तरे भोगान् ददाति । तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरम्परां प्रापयन्तीति भावार्थः । एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् । ततः सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः पूर्वोपार्जितमुदयागत कर्मरजः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानन्दात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्ध्या न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधविषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते । तदपि पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्म भवान्तरे तीर्थंकर—चक्रवर्ति—बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति, भरतेश्वरादीनामिव । इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता । एवं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारणं पूर्वं यद्व्याख्यातं परमात्मपदं, तत्पदं येन

कर्मरूपी राजा भी उसे विषय सुख को उत्पन्न करने वाले भोगों की अभिलाषा वाले एवं शुद्धात्मा की भावना को नष्ट करने वाले रागादि परिणामों को उत्पन्न कर देता है । इसी गाथा का दूसरा अर्थ करते हैं कि कोई जीव नवीन पुण्यकर्म बंध के निमित्त भोगों की इच्छामय निदान भाव से शुभकर्म का अनुष्ठान करता है तो वह पापानुबंधी पुण्यरूपी राजा कालान्तर में उसे भोग उत्पन्न कर देता है, परन्तु वे निदान बंध से प्राप्त हुए भोग रावण आदि के समान उसे अन्त में नरक में गिराने वाले होते हैं और उसे दुःखों की परम्परा को प्राप्त कराते हैं । यह अज्ञानी जीव के प्रति अन्वय दृष्टांत गाथा हुई । अब यदि वही पुरुष किसी भी आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले भोग नहीं देता । यह ज्ञानी जीव के संबंध में व्यतिरेक दृष्टांत पूर्ण हुआ । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पहले के बाँधे हुए एवं उदय में आये हुए कर्म को शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सुख से दूर हटकर विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से अर्थात् प्रयत्न पूर्वक अपने विचार से उसे सेवन नहीं करता । इसलिए वह कर्म भी उसके लिए नाना प्रकार के सुख को उत्पन्न करने तथा भोगों की अभिलाषारूप तथा शुद्धात्मीक भावना को नष्ट करने वाले रागद्वेषादिपरिणामों को नहीं उपजाता है। इसी का अब दूसरे प्रकार से व्याख्यान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि के न होने से अशक्यानुष्ठान के रूप में विषय कषायों से बचने के लिए व्रत-शील या दान पूजादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है, किन्तु भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध के साथ उस पुण्य कर्म का अनुष्ठान नहीं करता, तो वह पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म आगे के भव में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेवादि के अभ्युदयरूप में उदय में आया हुआ भी पूर्व भव में भाये हुये भेद-विज्ञान की भावना के बल से शुद्धात्मा की भावना का मूलोच्छेद करने वाले भोगों की अकांक्षा रूप निदान बंध वाले ऐसे विषय सुखों को उपजाने वाले रागादि परिणामों को पैदा नहीं करता है । जैसे कि भरतेश्वर

निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते। तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ॥२३९-२४२॥ इत ऊर्ध्वं निश्शङ्काद्यष्टगुणकथन गाथानवकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति।

तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ता सन्तः सम्यग्दृष्टयो घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूपं स्वस्वभावं न त्यजन्तीति कथयति—

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२४३॥

चक्रवर्ती आदि के पैदा नहीं किया। यह सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रति दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई।

विशेषार्थ– आचार्य श्री ने यहाँ यह बात बतलाई है कि अज्ञानी जीव फल प्राप्त करने की इच्छा से कार्य करता है परन्तु ज्ञानी फल की इच्छा के बिना ही करता है। इस पर यह शंका हो सकती है कि जब फल पाने की इच्छा ही ज्ञानी के नहीं हैं तो फिर वह कुछ करता भी क्यों है? इसका उत्तर यह है कि वह जो कुछ भी करता है वह पर-प्रयोग वश होकर करता है। जैसे कि मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं तो उन्हें परमागम में एक स्थान पर अधिक ठहरने की आज्ञा नहीं है इसलिये गमन करते हैं। गृहस्थ यदि कहीं पर जाता है तो कुछ लाभ पाने के लिए या वहाँ का सौन्दर्य आदि देखने के लिए जाता है तो वह देखकर या प्राप्त कर प्रसन्न होता है आदि। परन्तु मुनि में ऐसी बात नहीं है उन्हें इस स्थान से न तो द्वेष होता है और न कोई संबंध ही रखते हैं। वे तो जैसे यहाँ बैठे थे वैसे ही वहाँ जा बैठते है, अपने आपमें प्रसन्न रहते हैं स्वस्थित रहते हैं इत्यादि। यही बात यहाँ बतलाई है।

इस प्रकार जिस परमात्मपद का वर्णन इन विशेषणों से किया जा चुका है वह मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान के भेद से भी भेद को प्राप्त नहीं होता। जो परमार्थशब्द से कहा जाने योग्य है, जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है, शुद्धात्मा का संवेदन होना ही जिसका लक्षण है, जो अपने आपके द्वारा ही जानने योग्य है और संवर पूर्वक निर्जरा का उपादान कारण है, वह पद जिस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण वाले भेद-विज्ञान गुण के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता है उसी भेद विज्ञान गुण का विशेष व्याख्यान इन चौदह गाथाओं में पूर्ण हुआ ॥२३९–२४२॥

अब इसके आगे नव गाथाओं में निःशंकितादि आठ गुणों का वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे प्रथम पहली गाथा में यह बताते हैं कि जो सम्यक्त्वी जीव निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुखरूप अमृतरस के आस्वादन से संतुष्ट रहते हैं वे घोर उपसर्ग के आने पर भी सात प्रकार के भय से रहित होने के कारण निर्विकार रूप स्वानुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं उसी में तल्लीन रहते हैं।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक कहे गये हैं इसलिये निर्भय होते हैं। वे मरणादिरूप सात प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके निःशंक होने का अर्थ है ॥२४३॥

निःशंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले, सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती, तो भीति ही स्वयं हो भय-भीत रोती ॥२४३॥

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्माराधनां कुर्वाणाः सन्तो निश्शंका भवन्ति यस्मात्कारणात् । **णिब्भया तेण** तेन कारणेन निर्भया भवन्ति । **सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा** यस्मादेव कारणाद् इहलोक-परलोक-अत्राण-अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवन्ति । **तह्मा दु णिस्संका** तस्मादेव कारणात् घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेपि निश्शङ्का शुद्धात्मस्वरूपे निष्कम्पाः सन्तः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानन्दतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवन्ते पाण्डवादिवत् ।।२४३।।

टीका—सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोष परमात्मा का आराधन करते हुए निःशंक होत हैं **णिब्भया तेण** इसी से वे भय रहित होते हैं। **सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा** क्योंकि इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, **अरक्षाभय**, अगुप्तिभय, वेदनाभय, और आकस्मिकभय इन सात भयों से रहित होते हैं। **तह्मा दु णिस्सका** इसलिये वे घोर उपसर्ग के आ पड़ने पर भी पाण्डवादि के समान निःशंक होते हैं अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप में निश्चल रहते हुए उस परमात्मस्वरूप से च्युत नहीं होते हैं ।।२४३।।

विशेषार्थ—शंका शब्द के मुख्यता से दो अर्थ हैं। सन्देह और भय। आचार्यश्री ने यहाँ पर भय अर्थ को लेकर प्रतिपादन किया है। समन्तभद्रादि ने अपने रत्नकरण्ड आदि ग्रंथों में 'सन्देह' अर्थ को लेकर लिखा है जैसे—'इदमेवेदृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ।।' इससे स्पष्ट है जहाँ सन्देह नहीं होता वहाँ भय भी नहीं होता ऐसा नहीं है, सोही यहाँ पर भी समझना चाहिए। देखो, अनादिकाल से अज्ञानी प्राणी शरीर और आत्मा को एक समझ रहा है अतः शरीर को नष्ट होता हुआ देखकर आत्मा को भी नष्ट हुआ मान रहा है एवं दुःखी हो रहा है। किन्तु जब सन्तों का समागम प्राप्त करता है तो उनके कहने से कि हे भाई! यह तेरा शरीर नाशवान् है जो कि जड़ है किन्तु तेरा आत्मा तो इसमें रहता हुआ भी भिन्न है जो कि अमूर्तिक, चैतन्य और नित्य है। यह शरीर जो रूपादिमान् है वह तो यहीं पड़ा रह जायेगा, किन्तु आत्मा तो अपनी करनी के अनुसार अन्यत्र जाकर अपना ठाठ दिखाने लगेगा। जैसा कि व्यन्तरादिक के मुँह से सुनने में आता है इत्यादि। तब यह मानने लग जाता है कि जैसा कि श्री गुरु कहते हैं वह ठीक ही है। फिर भी इस शरीर से ममत्व बनाये ही रहता है कि यह शरीर है तो भगवान् भजन आदि कर लेता हूँ। यदि यह अस्वस्थ रोगी आदि हो जाये तो मैं क्या करूं इत्यादि रूप से भय बना ही रहता है यह अविरत सम्यग्दृष्टि की अवस्था है। जिसको कि लक्ष्य में लेकर रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निःशंकितादि अंगों का लक्षण लिखा है परन्तु जब वही विरक्त होता है तो धन-धान्यादि का त्याग करके एकान्त में आत्म—ध्यानस्थ रहता है, वहाँ पर शरीर से निरपेक्ष होने के कारण उसे फिर वहाँ किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसी विरत सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर यहाँ इस प्रकार निःशंकितादि आठ अंगों का वर्णन किया है। जैसा कि आत्मख्यातिकार के द्वारा लिखे गये सप्त भयों के वृत्तों में आये हुए अन्तिम चरण पर से स्पष्ट होता है—"निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति" अर्थात् वह ज्ञानी सदा निरन्तर स्वयं सहज ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करता है अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन रहता है।

अथानन्तरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निश्शङ्काद्यष्टगुणा नवतरबन्धं निवारयन्ति ततः कारणाद्बन्धो नास्ति किं तु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति—

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाधकरे[1] ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४४॥

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे यः कर्त्ता मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्याबाधसुखादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा बाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुरः पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्शङ्को भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन छिनत्ति । **सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिनिश्शङ्को मन्तव्यः । तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शङ्काकृतो नास्ति बन्धः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२४४॥

आगे कहते हैं कि वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के निःशंक आदि आठ गुण नवीन बंध का निवारण करते रहते हैं इसलिये उसके बन्ध नहीं होता अपितु संवर पूर्वक निर्जरा होती है:—

अर्थ—जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोह भाव, व बाधा को उत्पन्न करने वाले, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही निःशंक सम्यग्दृष्टि होता है ॥२४४॥

टीका—जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे जो कोई मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे संसार रूप वृक्ष के जड़ सरीखे हैं एवं निष्कर्म जो आत्मतत्त्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं अमोही अव्याबाध और बाधा रहित सुख आदि गुणों का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे पृथक् होने के कारण बाधा पैदा करने वाले हैं ऐसे उन आगम प्रसिद्ध चारों पायों को शुद्धात्मा की भावना में शंका रहित होकर स्वसंवेदन नाम वाले ज्ञान रूप खड्ग के द्वारा काट डालता है। **सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह चेतनस्वरूप आत्मा ही निश्शंक सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके शुद्धात्मा के विषय में शंका को पैदा करने वाला बंध नहीं होता किन्तु पूर्वबद्धकर्म की निर्जरा ही निश्चित रूप से होती है ॥२४४॥

विशेषार्थ—यहाँ पर भी आचार्य उसी वीतरागी सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर कह रहे हैं कि जिसने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दिया है और कर्म बंध के करने वाले चारों प्रत्ययों से दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में लगकर अपने स्वस्थ भाव का ही अनुभव किया है। न कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का जो अपने सहोदर भाई पर चक्र चला रहा है या भय के मारे घबराकर लोहे के कीलों से टकरा जाने के कारण मर जाता है। यही बात आगे की गाथाओं से भी झलकती है।

मिथ्यात्व और अविरती कुकषाय योगों को रोकते, विधिविमोहक बाधकों को ।
निःशंक हैं निडर हैं समदृष्टि वाले, वे वीतराग बनके मुनि शील-पाले ॥२४४॥

---

1 कम्मबंधमोहकरे इति पाठः ।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२४५।।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु यः कर्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा-काङ्क्षां वाञ्छां न करोति । केषु ? पञ्चेन्द्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु । अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोकाकाङ्क्षा समस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु च । **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः संसारसुखे निष्काङ्क्षितो मन्तव्यः । तस्य विषय-सुखकाङ्क्षाकृतो नास्ति बन्धः, किंतु पूर्वसञ्चितकर्मणो निर्जरैव भवति ।।२४५।।

जो ण करेदि दुगुंच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२४६।।

जो ण करेदि दुगुंच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावनाबलेन जुगुप्सां निन्दां दोषं द्वेषं विचिकित्सां न करोति, केषां संबन्धित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गन्धादिविषये वा । **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।।२४६।।

अर्थ—जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को निःकांक्षित इच्छा रहित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ।।२४५।।

टीका जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु जो आत्मा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुए परमानन्द सुख में संतुष्ट होकर कांक्षा अर्थात् कुछ भी वांछा नहीं करता है अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषय सुख-रूप जो कर्मों के फल हैं उनमें तथा समस्त वस्तुओं के धर्मों में स्वभावों में या विषय सुख के कारणभूत नानाप्रकार पुण्यरूप धर्मों में अथवा इहलोक व परलोक संबंधी इच्छाओं के कारणभूत समस्त परसमय[कुशास्त्र]हैं उनके द्वारा प्ररूपित कुधर्मों में भी कुछ भी इच्छा नहीं रखता है । **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह आत्मा सम्यग्दृष्टि इच्छा व कांक्षा रहित है ऐसा जानना चाहिये । ऐसे ज्ञानी जीव के विषयों के सुख की इच्छा नहीं होती इसलिये उसके वांछाजन्य बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ।।२४५।।

अर्थ—जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोष से रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ।।२२६।।

टीका—जो ण करेदि दुगुंच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं जो चेतन आत्मा परमात्म-तत्त्व की भावना के बल से सभी वस्तुओं के स्वभावों के प्रति जुगुप्सा, ग्लानि, निन्दा या विचिकित्सा नहीं करता, दुर्गन्ध के विषय में ग्लानि नहीं करता **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह ही ग्लानि रहित सम्यग्दृष्टि माना गया है । उसके पर पदार्थों के द्वेष निमित्तक बन्ध नहीं होता

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में, धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में ।
होता वही मुनि निकाक्षित अङ्ग धारी, बंदूं उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ।।२४५।।
कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ, सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लान करते मुनि हो किसी से, धारे तृतीय दृग अङ्ग तभी रुची से ।।२४६।।

जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु[1] ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४७॥

जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढो भवति । **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स खलु स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य च बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बन्धः परसमयमूढताकृतो वा, किंतु पूर्वं बद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२४७॥

जो सिद्धभत्ति जुत्तोउवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहण-गारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४८॥

किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२४६॥

अर्थ—जो चेतन आत्मा सर्वकर्मों के उदयरूप भावों में मूढता, मोह, ममता धारण नहीं करता वह वास्तव में अमूढदृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ॥२४७॥

टीका—जो हवदि असम्मूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा में ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चयरत्नत्रयमय भावना का बल है उससे समाधि परिणामों से शुभ और अशुभ कर्मों से उपजाये हुए परिणाम स्वरूप इन बाह्य द्रव्यों के विषयों में सर्वथा असम्मूढ़ है मोह-ममता नहीं रखता है, **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वास्तव में वही सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि अंगका धारी माना जाना चाहिए । इस ज्ञानी जीव के बाह्य पदार्थों में मूढ़ता ममता से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२४७॥

विशेषार्थ– इस गाथा के दूसरे चरण के आत्मख्यातिकार के पाठ में तथा तात्पर्यवृत्तिकारके पाठ में थोड़ा सा अन्तर है। आत्मख्याति-कार का पाठ है 'चेदासद्दिट्ठी सव्वभावेसु' जिसका अर्थ होता है विश्व के सभी पदार्थों में समीचीन दृष्टि वाला, किन्तु तात्पर्यवृत्ति में पाठ है "सव्वेसु कम्मभावेसु" शुभ या अशुभ कर्मों के द्वारा उपजाये हुए शुभ-अशुभ भावों से जिनका उपयोग होता है ऐसे सभी पदार्थों में जो असम्मूढ़ है । इस प्रकार अर्थ पर दृष्टि डालने पर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । मूल मतलब दोनों का एक है । आत्मख्यातिकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होता है अर्थात् शुद्धात्मध्यान में तल्लीन रहता है बाह्य पदार्थों से उसका विचार दूर हटा हुआ है । यही बात तात्पर्यवृत्तिकार कह रहे हैं अर्थात् दोनों के ही कहने में त्रिगुप्तिमय परम समाधि में निरत रहता हुआ मुनि ही वास्तव में अमूढ़दृष्टि या सम्यग्दृष्टि है ।

अर्थ—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढकने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है ॥२४८॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में, हो लीन आप अपने-अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़-दृष्टि, नासाग्र-दृष्टि रख नासत कर्म-सृष्टि ॥२४७॥
मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े, है सिद्धभक्तिरत है मनको मरोड़े ।
सम्यक्त्वसंग उपगूहन अङ्गधारी, वे मान्य पूज्य अनगार, नहीं अगारी ॥२४८॥

---

1 चेदा सद्दिट्ठी सव्यभावेसु इति पाठः ।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्तः मिथ्यात्व-रागादिविभावधर्माणामुपगूहकः प्रच्छादको विनाशकः। **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी मन्तव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२४८॥

उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं ।
सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२४९॥

उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं यः कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गे गच्छन्तं सन्तमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति। **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः स्थितिकरणयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बन्धः किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२४९॥

टीका—जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति से युक्त है तो वह मिथ्यात्व और रागादिरूप-विभाव-भावों का उपगूहक अर्थात् दबानेवाला है या नाश करने वाला ही है, **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** तो ऐसा वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी माना जाना ही चाहिए। उस जीव के दोषों को नहीं छिपाने रूप अनुपगूहन के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४८॥

विशेषार्थ—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में वास्तव में अपना मन लगाया है-उसमें तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावों पर कहाँ रहेगा, वे तो सब दबे ही रहेंगे अतः वह दोषों का उपगूहक ही रहता है। उपगूहन का दूसरा नाम उपबृंहण अर्थात् गुणों को बढ़ाना है जिसको आत्मख्यातिकार ने लिया है वह इस प्रकार है कि जब अपने उपयोग को सिद्धों के स्वरूप में लगा लिया तब आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिव्यक्त होती है, पुष्ट होती है, बढ़ती है, एवं आत्म-दुर्बलता से होने वाला बंध न होकर निर्जरा ही होती है।

अर्थ—जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपने आप को बचाकर मार्ग में स्थापना करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण सहित है, ऐसा समझना योग्य है ॥२४९॥

टीका—उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं जो कोई मिथ्यात्व और रागादिरूप उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने आप को परम-उत्तमरूप योगाभ्यास के बल से अपनी शुद्ध आत्मा की भावना स्वरूप जो मोक्ष-मार्ग, शिवमार्ग है उसमें निश्चलतया स्थापन करता है। **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह सम्यग्दृष्टि जीव स्थितिकरण-गुण युक्त माना जाना चाहिये। उसके अस्थितीकरण रूप दोष का किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु निश्चितरूप से पूर्व-बद्ध कर्म की निर्जरा होती है ॥२४९॥

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता, सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता ।
वो ही स्थितीकरण अंग सु धारता है, संसार से तिर रहा जग-तारता है ॥२४९॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५०॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि यः कर्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्वं भक्तिं करोति । केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां । कथंभूतानां ? साधूनां मोक्षमार्ग साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनां । **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्वत्सलभावयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बन्धः किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥२५०॥

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५१॥

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथ-रूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारदुःखकारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्थभावसारथिबलेन दृढतरध्यानखडगेन हन्ति । **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बन्धः किंतु

अर्थ—जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले तीनों साधुओं के प्रति वात्सल्यभाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्यगुण का धारी माना जाना चाहिए ॥२५०॥

टीका—जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गमि जो कोई मोक्ष-मार्ग में ठहरकर मोक्ष-मार्ग के साधन करने वाले इन तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपने ही भावों की अथवा व्यवहार से उस रत्नत्रय के आधार भूत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों की भक्ति करता है उनमें धार्मिक-प्रेम करता है, **सो वज्छलभवोजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह सम्यग्दृष्टि जीव वत्सल-भाव युक्त माना जाना चाहिए । उसके अवात्सल्य-भाव कृत बन्ध नहीं होता । किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी रथ में आरूढ होकर मन रूपी रथ के वेगों को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए ॥२५१॥

टीका—विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदिजो चेदा जो चेतन आत्मा अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि स्वरूप विद्यामयी रथ पर आरूढ़ होकर मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, लाभ तथा भोगों की इच्छा को आदि लेकर निदानबंध आदि विभावरूप परिणाम होता है जो कि द्रव्य, क्षेत्रादि रूप पांच प्रकार सांसारिक दुःखों के कारण होते हैं एवं जो आत्मा के शत्रु हैं ऐसे मनोरथ के वेगों को चित्त की तरंगों को स्वस्थ-भाव-समभाव रूप सारथी के बल से और दृढ़तर ध्यान-रूप-खड्ग के द्वारा नष्ट कर देता है । **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला माना गया है। अतः उसके अप्रभावना से

ज्ञानादि रत्नतिय में शिवपंथियों में, वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुँगवों में ।
माना गया समय में सम-दृष्टिवाला, वात्सल्य अंग अवधारक शांत शाला ॥२५०॥
हो रूढ़ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता, जो धावमान मन को झट थाम लेता ।
सम्यक्त्व मंडित महामुनि साधना है, होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५१॥

पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति। एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं। इदं तु निश्शङ्काद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातं। निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यञ्जनचोरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासंभव योजनीयं। निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ? इति चेन्नैवं। अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति। तथाचोक्तं—'जइजिणमइ पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुणह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं' इति। किं च—संवरपूर्विका पूर्वनिर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति स च निश्चयरत्नत्रयलाभो, वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभवहिर्द्रव्यनिरालम्बने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीवदुर्लभः। कस्मात् ? इति चेद् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषय-

---

होने वाला बंध नहीं होता किन्तु निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है।

इस प्रकार शुद्ध-नय का आश्रय लेकर संवर पूर्वक जो भावनिर्जरा होती है उसके उपादान कारण-रूप तथा शुद्धात्मा की भावना स्वरूप जो निःशंकितादि आठ गुण होते हैं उनके व्याख्यान करने की मुख्यता से नव गाथायें पूर्ण हुईं।

यह निःशंकितादि गुणों का जो व्याख्यान है वह निश्चयनय की प्रधानता से किया गया है। इस व्याख्यान को निश्चय रत्नत्रय का साधक जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमें स्थित होने वाले सराग सम्यग्दृष्टि के ऊपर भी अंजन चौरादिक की कथारूप जो व्यवहारनय है उसके द्वारा यथा संभव लगा लेना।

टीकाकार के इस कथन को लेकर शंका पैदा होती है कि निश्चयनय का व्याख्यान करने के बाद भी व्यवहारनय का व्याख्यान यहाँ क्यों किया ? टीकाकार इसका उत्तर देते हैं कि सुवर्ण और स्वर्ण-पाषाण में परस्पर कार्य कारण-भाव है वैसा ही कार्यकारण-भाव निश्चयनय और व्यवहारनय में है, व्यवहारनय कारण है तो निश्चयनय उसका कार्य है यह बात दिखलाने के लिए ही यहाँ यह प्रयास किया गया है जैसे कि—

'जइ जिणमइ पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुणह। एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं' अर्थात्—यदि जिनमत का रहस्य प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय इन दोनों में से किसी को मत भूलो क्योंकि व्यवहारनय को छोड़ देने से अभीष्ट सिद्धि का मूल कारण जो तीर्थ है वह नष्ट हो जाता है और निश्चयनय को भुला देने पर समुचित वस्तु-तत्त्व ही नहीं रह पाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के जो संवर पूर्वक निर्जरा होती हुई बताई गई है वह भी प्रधानतया निर्विकल्प-समाधि के होने पर ही होती है। जो कि निर्विकल्प-समाधि, शुद्धात्मा के समीचीन तन्मयरूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान-रूप निश्चयरत्नत्रय-स्वरूप होती है तथा आर्त्त और रौद्रभाव से रहित धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानमय होती है और शुभ और अशुभ रूप बाह्य-द्रव्यों के आलंबन से सर्वथा रहित होती है। यह निर्विकल्पसमाधि वास्तव में अत्यन्त-दुर्लभ है क्योंकि साधारण निगोद से निकलकर, एकेन्द्रियपना, विकलेन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना, संज्ञीपना, संज्ञी में भी पर्याप्तपना, मनुष्यपना, उत्तमदेश, उत्तमकुल, सुडौलशरीर, इन्द्रियों की पूर्णता, रोगरहित आयु,

बन्धाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—बहिरात्मजीवसंबन्धिनो बन्धकारणभूतस्य शृङ्गारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशतः सतः शान्तरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूतं भेदज्ञानं प्रतिषेधं करोतीति उपदिशति—

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२५२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिबंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२५३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२५४॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबन्धो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२५५॥

अब यह बताते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव के कर्मबन्ध का कारणभूत जो मिथ्याज्ञान है वह शृंगारसहित पात्रस्थानीय है जो कि नाटक रूप से प्रवेश कर रहा है उसका प्रतिरोध करने वाला भेदविज्ञान है जो कि शान्तरस में परिणत होकर रहने वाला है और वीतराग रूप सम्यक्त्व को साथ में लिए हुए होता है।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अपनी देह में तैलादि लगाकर बहुत धूलवाले स्थान में स्थित होकर नाना हथियारों से व्यायाम करता है। वहाँ वह ताड़ का वृक्ष, केले का वृक्ष तथा बाँस के पिण्ड इत्यादि को तोड़ मरोड़ता है, भेदता है और सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा आघात करने वाले पुरुष के जो धूल या मिट्टी लगती है वह वास्तव में क्यों चिपकी है? कि उसने तैल लगा रखा है इसलिये उसके मिट्टी चिपक रही है शेष काय चेष्टाओं से धूल का चिपकना नहीं हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार की चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है वह अपने उपयोग में रागादि विकार भावों को करता हुआ

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि, कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी।
लो अंग अंग तिल तेल लगा-लगा के, आयाम नित्य करता बल को जगा के ॥२५२॥
स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को, बाँसों तमाल कदली तरु के दलों को।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता, आमूलतः कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५३॥
नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा, लो देह में चिपकती रज आ अपारा।
क्यों वस्तुतः चिपकती रज आ वहाँ है? क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है? ॥२५४॥
वो तेल लेप वश ही रज आ लगी है, भाई अकाट्य ध्रुव सत्य यही सही है।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है, ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२५५॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु ।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥२५६॥ (पंचकम्)

जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि व्याख्यानं क्रियते–यथानाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा। कान् ? तालतमालकदलीवंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबन्धिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीय-गाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चिन्त्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबंधः ? इति पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यङ्गरूपः तेन तस्य रजोबन्ध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिरित्युत्तरगाथा। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः। अथ दार्ष्टान्तिमाह—एवं **मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमानः। **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण** शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाणः सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः। एवं यथा तैलम्रक्षितस्य रजोबन्धो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबन्धो भवति इति बन्धकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपञ्चकं गतं ॥२५२-२५६॥

प्रवर्त्तता है इसलिये कर्मरज से लिप्त होता रहता है ॥२५२-२५६॥

टीका–जह णाम कोवि पुरिसो जैसे कोई भी पुरुष अपने शरीर में तेल आदि चिकना पदार्थ लगाकर बहुत सी धूल वाले स्थान में जाकर मुद्गरादि शस्त्रों से व्यायाम का अभ्यास करता है ; यह एक गाथा का अर्थ हुआ। वह ताड़ का वृक्ष, तमाखू का पौधा, केले का पेड़, बाँसों का बीड़ा और अशोक वृक्ष आदि नाना वृक्षों को छेदता भेदता है एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाले सचेतन और अचेतन द्रव्यों का घात करता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। उन नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा उपघात करते हुए उस जीव को जो धूलि लगती है वह सोचो किस कारण से धूलि लगती है ? इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में तीन गाथायें हुईं। उसका उत्तर यह है कि उसने अपने शरीर में तेलमालिश से चिकनापन कर रखा है उसी से वह धूलि उसके चिपकती है। यह चौथी उत्तर रूप गाथा हुई। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप चार सूत्रों द्वारा दृष्टान्त कहा गया। **एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात् विरति रहित जीव नाना प्रकार के शारीरिक व्यापारमय चेष्टाओं में प्रवर्तमान होता है तब वहाँ पर वह **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण** शुद्धात्मतत्त्व का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के न होने से मिथ्यात्व और रागादि-रूप उपयोगों को अर्थात् विकारी परिणामों को करता है, वह कर्मरूप रज से लिप जाता है बंध जाता है ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार तेल लगाये हुए पुरुष के जैसे धूलि चिपकती है वैसे ही मिथ्यात्व तथा रागादि रूप में परिणत जीव के कर्मबंध होता है। इस प्रकार कर्मबंध के कारण का व्याख्यान करने के रूप में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ॥ २५२–२५६ ॥

मिथ्यात्व मंडित कुधी त्रय योग द्वारा, चेष्टा निरन्तर किया करता बिचारा।
ज्यों रागरंग रँगता उपयोग को है, पाता स्वयं नियम से विधि योग को है ॥२५६॥

अथ गाथापञ्चकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावं दर्शयति—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणु बहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२५७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतल कदलिवंसपिण्डीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२५८॥
उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो ण रयबंधो ॥२५९॥
जो सो दु णेहभावो, तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहि सेसाहिं ॥२६०॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे, रागादी णेव बज्झदि[1] रयेण ॥२६१॥(पंचकम्)

आगे वीतरागसम्यग्दृष्टि जीव के कर्मबंध नहीं होता है, ऐसा पाँच गाथाओं से बतलाते हैं—

अर्थ—हाँ, वही पूर्वोक्त पुरुष यदि अपने शरीर में लगी हुई चिकनाहट को दूर करके अर्थात् हटाकर बहुत मिट्टी वाले स्थान में भी नाना शस्त्रों द्वारा अनेक प्रकार के व्यायाम करता है। ताड़वृक्ष की जड़ को, केले के वृक्ष को, बाँस के बीड़े को छेदता है भेदता है, और सचित्त अचित्त द्रव्यों का उपघात भी करता है। इस प्रकार नानाविध उपकरणों के द्वारा उपघात करने वाले के भी नाना प्रकार की कायिक चेष्टा करने पर भी उसके धूलि नहीं चिपकती सो क्यों नहीं चिपकती ? इस प्रकार विचार करो तो समझ में आवेगा कि उस मनुष्य ने जो तेल लगा रखा था उसी से उसके धूलि चिपकती थी, काय की अन्य चेष्टाओं से नहीं चिपकती थी, सो अब वह तैल नहीं है इसलिये नहीं चिपकती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विरत जीव भी नाना प्रकार के योगों में प्रवर्तमान होता हुआ भी अपने उपयोग में रागादिकों को नहीं करता इसलिये कर्मरज से लिप्त नहीं होता है ॥२५७-२६१॥

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि, कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो ! अंग-अंग तिल तेल बिना लगाया, व्यायाम नित्य करता बल को जगाया ॥२५७॥
स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को, बांसों तमाल कदली तरु के दलों को ।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता, आमूलतः कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५८॥
नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा, है देह में न चिपकी रज आ अपारा ।
क्यों वस्तुतः चिपकती रज ना वहाँ है, क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है? ॥२५९॥
ना तेल लेप तन पे उसने किया है, भाई नितान्त यह कारण ही रहा है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है, ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२६०॥
होता इसी तरह ही सम-दृष्टि वाला, चेष्टा अनेक विध है करता निहाला ।
रागाभिभूत उपयोग नहीं बनाता, पाता न बंध, उसको शिर मैं नवाता ॥२६१॥

---

1 लिप्पई इति पाठः ।

यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंशपिण्डीसंज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्संबन्धिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चिन्त्यताम् विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबन्धो न भवति। एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तर—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यङ्गरूपः तेन स तस्य रजोबन्धः. इति निश्चयतो विज्ञेयं। न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बन्धो नास्तीत्वभिप्रायः इत्युत्तरगाथा गता। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः। अथ दार्ष्टान्तिमाह - एवं **सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु** एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नाना प्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमानः। **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मलात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाणः सन्। **णेव बज्झदि रयेण** कर्मरजसा न बध्यते। एवं तैलभ्रक्षणाभावे यथा रजोबन्धो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्यभावाद् बन्धो न भवति, इति बन्धाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापञ्चकं गतं। किं च यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शान्तरसे स्वामित्वमज्ञानिनस्तु शृङ्गाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यं। इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतं ॥२५७-२६१॥

टीका—जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष शरीर से सर्व तैलादिरूप चिकने पदार्थ को सर्वथा दूर कर धूल भरे स्थान में भी अनेक हथियारों द्वारा व्यायाम परिश्रम करता है। यह प्रथम गाथा हुई। वहाँ वह ताल, तमाल, तम्बाखू, केला,बाँस का बीड़ा आदि वृक्षों को छेदता है भेदता है, उनमें होने वाले सचित्त और अचित्त पदार्थों को बिगाड़ता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। वैशाख आदि साधनों के द्वारा उपघात करते रहने वाले उस पुरुष के जो धूल नहीं चिपकती सो क्यों ? इस प्रकार प्रश्न करने रूप में तीसरी गाथा हुई। उसका उत्तर यह है कि उस पुरुष के शरीर में तेल चुपड़ने रूप चिकनापन था उसी से धूलि चिपकती थी यह निश्चित बात है। उसी की अन्य शारीरिक चेष्टाओं से धूलि नहीं चिपकती थी अब उसके शरीर में वह तैलादि जनित चिकनापन नहीं रहा इसलिये उसके धूलि नहीं चिपकती यह सब उत्तररूप गाथा का अभिप्राय हुआ। इस प्रकार चार गाथाओं में दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टांत कहते हैं कि **एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु** पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विरत जीव भी विविध प्रकार के योगों में अर्थात् अनेक प्रकार के मन, वचन, और काय सम्बन्धी व्यापारों में प्रवर्तमान होता हुआ भी **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मल आत्मा का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र का सद्भाव होने से रागादि के उपयोग स्वरूप विकारी परिणामों को नहीं करता है अतः **णेव बज्झदि रयेण** नूतन कर्मों से नहीं बंधता है। इस प्रकार तैलादिक की चिकनाहट न होने पर जैसे धूलि नहीं चिपकने पाती वैसे ही वीतरागसम्यग्दृष्टि जीव के रागादि-विकाररूप भाव न होने से बंध नहीं होता। इस प्रकार बंध के अभाव का कारण बताने के रूप में ये पाँच गाथायें आईं।

जैसा यहाँ पातनिका में बताया था कि ज्ञानी-जीव का स्वामीपना अर्थात् अधिकार तो एक शान्त रस पर होता है किन्तु अध्यात्म के विषय में इस नाटक के प्रस्ताव में नवों रसों का स्वामीपना है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अज्ञानी के पाँच तथा ज्ञानी के पाँच मिलाकर दश गाथाओं में यह बन्ध अधिकार का पहला स्थल पूर्ण हुआ ॥२५७–२६१॥

अथ वीतरागस्वस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षणं । तद्विपरीतं संज्ञानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२६२॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जो काम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी करता है वही काम सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भी करता है उसमें मिथ्यादृष्टि को बन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं होता । इस पर से कोई व्यक्ति "हम भी भगवान् के भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, हम कुछ भी करें हमारे बन्ध नहीं होता" ऐसा सोचकर यदि स्वच्छन्द हो जाता है तो वह भूल करता है क्योंकि जो कोई कुछ भी करेगा तो उसके बन्ध होगा ही । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कुछ भी करता नहीं है इसलिए उसके बन्ध नहीं होता ऐसा स्वयं आचार्यश्री कर्त्ताकर्म-अधिकार में बता ही आये हैं । यहाँ पर आचार्यश्री के कहने का इतना ही तात्पर्य है कि किसी-किसी कार्य में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों का सहयोग होता है तभी वह सम्पन्न होता है । वहाँ पर मिथ्यादृष्टि तो उस कार्य को चलाकर इच्छापूर्वक सम्पन्न करता है अतः उसके कर्मबन्ध हुए बिना नहीं रहता परन्तु सम्यग्दृष्टि तो वहाँ तटस्थ रहता है अतः उसके बन्ध नहीं होता । यहाँ उदाहरण में सुदर्शन-मुनि और वेश्या के प्रसङ्ग को ही लिया जा सकता है । वेश्या ने सुदर्शन-मुनिराज को प्रतिग्रहण के बहाने से अपने घर पर ले जाकर उनके साथ तीन दिन तक भारी कुचेष्टा की एवं घोर पाप बन्ध किया किन्तु वहीं पर श्री मुनिराज पूर्ण-निर्विकार बने रहे ऐसी दशा में उन्हें कर्म बन्ध कैसे हो सकता था ? हाँ, यदि वहाँ पर थोड़ा-सा भी भला-बुरापन मान करके भी तनिक-सा अपना कर्त्तापन का सम्बन्ध जोड़ लेते तो मुनि भी अज्ञानी बन करके कर्मबन्ध के करने वाले बन जाते क्योंकि कर्त्तापन और ज्ञानीपन दोनों एक साथ नहीं रहते जैसा कि अमृतचन्द्र आचार्य के निम्न वृत्त से स्पष्ट है :—

जानाति यः स न करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि [च] बन्धहेतुः ॥१६७॥

अर्थात्—जो जानता है वह करता नहीं और जो करता है वह जानता नहीं है, क्योंकि कर्त्तापन उस कार्य के प्रति इच्छा हुए बिना नहीं होता । इच्छा रागभाव है और राग अज्ञानमय अध्यवसान भाव है जो कि नियम से बन्ध का कारण होता है एवं वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है अर्थात् जहाँ पर किंचित् भी इच्छा या राग भाव है वहाँ मिथ्यादृष्टिपन है ऐसा आचार्यों ने कहा है ।

आगे यह बतलाते हैं कि वीतरागरूप स्वस्थभाव को छोड़कर हिंस्य-हिंसकभाव रूप से परिणमन करना यह अज्ञानी जीव का लक्षण है उससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण है :—

अर्थ—जो ऐसा मानता है कि मैं किसी पर जीव को मार रहा हूँ या मार सकता हूँ और मैं पर जीवों के द्वारा मारा जा रहा हूँ या मारा जा सकता हूँ अर्थात् कोई भी मुझे मार रहे हैं या मार सकते हैं ऐसा समझने

मारूँ उसे वह मुझे जब मारता है, मोही कुधी मनमना यह मानता है ।
मेरा नहीं मरण, हूँ ध्रुव शीलवाला, ज्ञानी कहे मुनि, निरा जड़ में निराला ॥२६२॥

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानहं हिनस्मि परैः सत्वैरहं हिंस्ये इति च योऽसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स एव बन्धहेतुः, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी। **णाणी एत्तो दु विवरीदो** एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रतः स ज्ञानीत्यर्थः ॥२६२॥

अथ कथमयमध्यवसायः पुनरज्ञानम् मिति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं[1] ॥२६३॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितम्। **आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं** तेषामायुःकर्म च न हरसि त्वं तस्यायुषः स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं त्वया तेषां मरणं कृतमिति ॥२६३॥

वाला जीव अज्ञानी है। ज्ञानी का विचार इससे उलटा होता है ॥२६२॥

टीका—जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी जो कोई ऐसा मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ तथा पर जीवों के द्वारा मैं मारा जा रहा हूँ, तो उनका यह भाव-विचार नियम से अज्ञानभाव है जो कि बंध का कारण है। इस प्रकार जिस किसी के भी यह विचार भाव होता है वही अज्ञानी मूर्ख होता है। **णाणी एत्तो दु विवरीदो** किन्तु जो इससे उलटे विचार वाला है जो कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र तथा निन्दा और प्रशंसा आदि विकल्पों में रागद्वेष नहीं करता हुआ शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख उसका आस्वादन करना ही है स्वरूप जिसका, ऐसे भेदज्ञान में तल्लीन होता है अर्थात् उपर्युक्त समभाव से तन्मय होता है वह ही ज्ञानी जीव होता है ॥२६२॥

अध्यवसान, अज्ञान कैसे हैं ? इसे दिखाते हैं :—

अर्थ व टीका—जीवों का मरण उनकी आयु के क्षय से होता है ऐसा ही जिनेश्वर देव ने कहा है। जब उनकी आयु का तू अपहरण नहीं कर सकता, [और तेरी आयु का अपहरण वे नहीं कर सकते हैं] तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया ॥२६३॥

देहावसान जब आयु विलीन होती, है भारती जिनप की सुख को सँजोती।
तू जीव की जब न आयु चुरा सकेगा, कैसा भला सहज मार उसे सकेगा ॥२६३॥

---

[1] **आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।**
आऊं न हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥१॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आऊं च ण दिंति तुंह कहं णु त जीविदं कयं तेहिं ॥३॥

अथ तदेव पुनरपि दृढ़यति—

विशेषार्थ—प्रत्येक प्राणी का जीवन उसकी आयु के ऊपर निर्भर है। यदि आयु निःशेष हो चुकी है तो वह कभी जीवित नहीं रह सकता और अभी शेष है तो वह किसी का मारा नहीं मर सकता क्योंकि कोई भी किसी की आयु को हड़प नहीं सकता है, वह तो उपभोग के द्वारा ही समाप्त होगी। हाँ उसका उपभोग दो प्रकार से होता है उदय से और उदीरणा से। उदय से आयु का उपभोग होना समुचितमरण है और उदीरणा होना उपभोग से अकालमरण कहलाता है परन्तु आयु का उपभोग होकर उसकी समाप्ति होना ही चाहिये तभी मरण होगा अन्यथा नहीं। रही निमित्त की बात सो निमित्त मिलने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होती तो किसी की साधारण निमित्त से भी मृत्यु हो जाती है और किसी के विना निमित्त के भी। जैसे कि तलवार से मर्म की चोट लगने पर भी नहीं मरता तो कोई साधारण चाकू की चोट से ही मर जाता है तथा मरने वाला बिना चोट खाये भी मर जाता है। अतः ऐसे अनियमित निमित्त को ज्ञानी महत्त्व नहीं देता है। शंका-तो फिर आपके कहने में हम कुछ भी करते रहें भले ही आँख मींचकर चलें भी तो कोई दोष नहीं है। उत्तर - हे भाई ! कुछ भी क्यों करते रहें। करना तो अज्ञान भाव है, बंध करने वाला है। इसके स्थान पर यों कहो कि कुछ भी नहीं करें निर्विकल्प-समाधि में लगकर आत्मतल्लीन होकर नवीन बंध न होने से ज्ञानी कहलाने के अधिकारी बने रहें उस अवस्था में चाहे कुछ भी हो हमारा उसमें क्या चारा है यदि कोई मरता है तो अपने आयु की समाप्ति पर, और कोई जीवित है तो अपने आयु के बल पर क्योंकि हमारा तो उधर उपयोग ही नहीं है। परन्तु समाधि से च्युत होने पर यदि वहां विकल्प आवे तो उसे मारने का विकल्प न करके बचाने का विकल्प करना चाहिए जैसा कि बालि मुनि ने या विष्णुकुमार मुनि ने किया था ताकि कर्म बन्ध भी हो तो वह शुभ हो अनन्तसंसार के कारणभूत अशुभकर्म बन्ध से बच जावें।

अब यह विचार अज्ञान क्यों है सो बताते हैं —

अर्थ—जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है क्योंकि पर जीव तेरा आयु कर्म नहीं हरते इसलिए उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ।।१।।

अर्थ—जो ऐसा मानता है–विचारता है कि मैं पर जीवों को जीवित रखता हूँ और ये दूसरे जीव भी मुझे जीवित रखते हैं तो वह मूढ़ है अज्ञानी है। ज्ञानी जीव तो इससे उलटा मानता है ।।२।।

अर्थ—पर जीव भी तुझे आयु नहीं दे सकते तो उन्होंने भी तुझे जीवित किया यह भी कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता ।।३।।

देहावसान जब आयु विलीन होती, है भारती जिनप की सुख को सँजोती।
कोई त्वदीय नहि आयु चुरा सकेगा, तेरा भला मरण क्या कि करा सकेगा ? ।।१।।
मैं आपकी मदद से बस जी रहा हूँ, जीता तुम्हें सहज आज जिला रहा हूँ, ।
ऐसा सदैव कहता वह मूढ़ प्राणी, ज्ञानी विलोम चलता जड़ से अमानी ।।२।।
है आयु के उदय पा जग जीव जीता, ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता।
कोई न आयु तुझमें जब डाल देता, कैसे तुझे फिर सुजीवित पाल लेता ? ।।३।।

आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आऊं च ण देसि तुमं कहं त ए जीविदं कदं तेसिं ॥२६४॥

आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः **आऊं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामैनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतम् न कथमपि। किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुप्तसमाधौ स्थातव्यं तावत्। तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन अस्य मरणं करोमि अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिन्तयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जात इति मत्वा मनसि रागद्वेषोरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥२६४॥

अथ दुःखसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२६५॥

अर्थ—जीव अपनी आयु के उदय से ही जीवित हैं ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। सो हे भाई! तू पर जीव को आयु तो देता नहीं है तो तूने उन जीवों को जीवित कैसे किया ॥२६४॥

टीका—आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू प्रत्येक जीव अपनी आयु के उदयसे जीवित है। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं तू **आऊं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयु कर्म तो उन्हें देता नहीं है क्योंकि उनकी आयु तो उनके शुभ तथा अशुभ परिणामों के अनुसार उपजी है तो फिर तूने उन्हें कैसे जीवित कर दिया। अर्थात् किसी भी प्रकार जीवित नहीं किया। इसलिये हो सके जहाँ तक इन सब विकल्पों को छोड़कर ज्ञानी जीव को स्वसंवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसी त्रिगुप्ति रूप समाधि में लगा रहना चाहिये और जब इसका अभाव हो जाये अर्थात् उसका उपयोग उस समाधि से हट जावे तो उस असमर्थ अवस्था में प्रमाद के कारण से 'मैं इस जीव को मार रहा हूं या जिला रहा हूं' ऐसा विकल्प आवे तो मन में ऐसा विचारना चाहिए कि इसके ऐसा होने में प्रधान कारण इसके शुभ तथा अशुभ कर्म का उदय है, मैं तो केवल निमित्त-मात्र हूँ, ऐसा विचार कर अपने मन में राग और द्वेष रूप अहंकार नहीं करना चाहिए इसका यही तात्पर्य है ॥२६४॥

आगे कहते हैं कि सुख और दुःख भी निश्चय से अपने ही कर्मों के उदय से होते हैं—

अर्थ—जो जीव अपने मन में ऐसा समझता है कि मैं इन पर-जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ, तो ऐसा विचार करने वाले जीव मूढ़ हैं अज्ञानी हैं ज्ञानी का विचार तो इससे उलटा होता है ॥२६५॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता, ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता ।
तू जीव में यदपि आयु न डाल देता, कैसा उसे तदपि जीवित पाल लेता ॥२६४॥

मैंने तुझे धन दिया कि सुखी बनाया, मारा, चुरा धन अपार, दुखी बनाया ।
मोही प्रमत्त जड़ की यह धारणा है, ज्ञानी चले न इस भाँति महामना है ॥२६५॥

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति यः कर्ता आत्मनः संबन्धित्वेन मन्यते। किम्? दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहम्। **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो** स चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बन्धकारणं, स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयम-भावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति ॥२६५॥

अथ परस्य सुख दुःखं करोमीत्यध्यवसायकः कथमज्ञानी जातः? इति चेत्—

[1] **कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता।**
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कदा ते ॥२६६॥
कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता।
कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२६७॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं दुहिदो कदो तेहिं ॥२६८॥ (त्रिकलम्)

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्त्वा जीवा सुखित-

---

टीका—जो अप्पणा दु मण्णदि दु क्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति जो कोई अपने मन में ऐसा मानता है कि मैं इन जीवों को दुखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ **सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो** यह उपर्युक्त अहंकार रूप परिणाम नियम से अज्ञान भाव है जो कि बंध का कारण है और यह भाव जिसके है वह अज्ञानी, बहिरात्मा है। ज्ञानी जीव तो इससे विपरीत विचारवाला है वह परम उपेक्षा-रूप, सर्वथा निर्वृत्तिरूप जो संयमभाव उसकी भावना में परिणत हो रहने वाला अभेदरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान में स्थित होता है ॥२६५॥

अस्तु मैं पर को सुख या दुःख दे सकता हूँ इस प्रकार के परिणाम करने वाला अज्ञानी कैसे है? सो कहते हैं—

अर्थ—अपने-अपने कर्मोदय के निमित्त से ही सब जीव सुखी या दुखी होते हैं ऐसा देखने में आ रहा है और तू उनको कर्म देता नहीं तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी या दुःखी किये गये। एवं वे सब जीव तुझे कर्म तो देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुझे दुःखी किया यह भी कैसे बन सकता है। तथा उन्होंने तुझे सुखी किया यह भी कैसे कहा जा सकता है? कभी नहीं कहा जा सकता ॥२६६-२६८॥

टीका—कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि अपने-अपने कर्मोदय

साता यदा उदय में अथवा असाता, होता सुखी जग दुखी, यह छन्द गाता।
तू डालता न पर में जब कर्म वैसा, भाई दुःखी जग सुखी बन जाय कैसा ॥२६६॥
लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो, औचित्य है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि, कैसे हुए तुम अपार दुखी तथापि ॥२६७॥
लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो, सिद्धान्त है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि, कैसे अकारण सुखी तुम हो तथापि ॥२६८॥

---

[1] कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे इति पाठः।

दुःखिता भवन्ति ? **कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं कथं ते जीवस्त्वाया सुखितदुःखिताः कृताः ? न कथमपि ? **कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवाः सुखितदुःखिता भवन्ति । **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं सुखीकृतस्तैः ? न कथमपि । **कम्मोदयेण जीवा दुःखिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे** यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति । **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं दुःखाकृतस्तः ? न कथमपि । किं च तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् 'अन्यस्मै परजीवाय सुखदुःखे ददामि', इति विकल्पं न करोति । यदा पुनर्निर्विकल्प-समाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमिति विकल्पो भवति तदा मनसि चिन्तयति—अस्य जीवस्यान्तरङ्गपुण्य-पापोदयो जातः अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति इति । एवं परजीवानां जीवितमरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थलं गतम् ॥२६६-२६८॥

को निमित्त लेकर ही सब जीव सुखी और दुःखी होते हैं। **कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते** अतः जबकि कर्म तो तुम देते नहीं हो फिर तुमने उन्हें दुःखी और सुखी कर दिया यह कैसे कहा जावे ? नहीं कहा जा सकता है। **कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** और जबकि कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सब संसारी जीव दुःखी और सुखी होते हैं। [यह नियम अटल है] **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** और इन संसारी जीवों ने जब वह कर्म तुझे दिया नहीं फिर उन्होंने तुझे सुखी बना दिया यह कैसे बन सकता है ? **कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे** कर्म के उदय से ही सब जीव सुखी और दुःखी होते हैं। **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** एवं जबकि कर्म उन्होंने तुझे दिया ही नहीं उन्होंने फिर हमें दुःखी बना दिया यह भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार सोच समझकर तत्त्वज्ञानी जीव 'मैं दूसरों को सुख-दुःख दे सकता हूँ अथवा वे मुझे सुख-दुःख दे सकते हैं' ऐसा विकल्प ही नहीं करता [वह निर्विकल्प समाधि में रत हो रहता है]। जबकि प्रमाद से, उस समाधि के टूट जाने पर मैं किसी को सुखी या दुःखी करता हूँ इत्यादि विकल्प आता है तब वह मन में ऐसा विचारता है कि इस जीव के ऐसा ही अंतरंग पुण्य या पाप का उदय हो आया है, उसी से ऐसा हुआ है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ। इस प्रकार विचार कर मन में हर्ष-विषादमय परिणामों के द्वारा किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता ॥२६६–२६८॥

विशेषार्थ—प्रद्युम्नकुमार को दुःखी करने का व मारने का कितना प्रयास किया गया परन्तु उसके पुण्य के उदय से जहाँ भी गया वहाँ लाभ ही हुआ। इसलिये मानना पड़ता है कि किसी के भी हानि, लाभ, सुख या दुःख होता है जो उसके पुण्य के अनुसार ही होता है। अतः ज्ञानी जीव तो ऐसी उलझन में न पड़कर अपनी शुद्धात्मा के चिंतवन द्वारा पूर्व कर्मों को हलका करने में ही लगा रहता है। हाँ, जब वह समाधि से च्युत हो जाता है तब उस प्रमत्तसंयत दशा में किसी के भी लिए अशुभनिमित्त न होकर शुभनिमित्तमात्र होने के कारण अपना कालक्षेप करता है।

इस प्रकार दूसरे जीवों को जीवदान करना, मार डालना, सुख देना और दुःख देना आदि का विचार करने वाली सात गाथाओं द्वारा यह दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ परो जनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुखं करोतीति योऽसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति—

जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥२६९॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो ।
तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२७०॥ (युग्मम्)

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते **तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात्कारणात् मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? किन्तु मिथ्यैव । **जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो** यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति । कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुटं स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव । **तह्मा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात् कारणात् न मारितो मया न च दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव । अनेनापध्यानेन स्वस्थभावाच्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ॥२६९-२७०॥

अब इसके आगे यह बताते हैं कि दूसरा कोई भी दूसरे को जिला सकता है, मार सकता है, सुख दे सकता है—इस प्रकार जो मानता है वह निश्चय से बहिरात्मा होता है—

अर्थ—जो कोई भी मरता है या दुखी होता है वह सब अपने कर्म के उदयानुसार ही होता है अतः मैंने अमुक को मार दिया या दुःखी कर दिया इस प्रकार का विचार, हे भाई ! क्या मिथ्या नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है । तथा जो नहीं मरता है या दुःखी नहीं हो रहा है वह भी सब अपने कर्म के उदय से ही है । इसलिये मैंने नहीं मरने दिया या मैंने दुःखी भी नहीं होने दिया—यह भी तेरा विचार क्या मिथ्या नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है ॥२६९-२७०॥

टीका—जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो जो कोई मरता है अथवा दुःखी होता है वह सब अपने कर्म के उदय से ही होता है अतः **तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** इसलिये मैंने अमुक को मार दिया या अमुक को दुःखी कर दिया यह तेरा विचार है, सो हे आत्मन् ! क्या झूँठा नहीं है ? अपितु झूँठा ही है । तथा **जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो** जो नहीं मरता है या दुःखी नहीं होता है वह भी अपने कर्मोदय के द्वारा ही होता है ऐसा स्पष्ट है । **तम्हा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** इसलिये मैंने उसे नहीं मरने दिया अथवा मैंने उसे दुःखी नहीं होने दिया इस प्रकार का विचार हे आत्मन् ! क्या झूँठा नहीं है ? अपितु यह झूँठा ही है प्रत्युत इस अपध्यान के द्वारा तू अपने स्वस्थभाव से च्युत होकर कर्म बन्ध ही करेगा—यही इसका तात्पर्य है ॥ २६९–२७० ॥

दुःखानुभूति करता यम धाम जाता, संसारिजीव उदयागत-कर्म पाता ।
मारा तुम्हें दुखित पूर्ण किया कराया, वो मान्यता तव मृषा, जिन देव गाया ॥२६९॥
मानो दुखी नहिं हुआ न मरा सदेही, जो भी हुआ वह सभी विधिपाक से ही ।
मैंने दुखी मृत नहीं तुमको बनाया, ऐसा विचार भ्रम है जिनने बताया ॥२७०॥

अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बन्धकारणं भवतीति कथयति—

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥२७१॥

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति एषा या मतिस्ते तव दुःखितसुखितान् करोम्यहं सत्त्वान् । **एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं** सैषा भवदीया मतिः हे मूढमते स्वस्थभावच्युतस्य शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति ॥२७१॥

अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बन्धहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति—

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदंते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥२७२॥

विशेषार्थ—यह सब कथन उन त्यागी-तपस्वी लोगों को लक्ष्य में लेकर किया गया है जिनका जीवन निश्चयनय के ऊपर अवलम्बित है और जिन्हें मात्र शुद्धात्मा के ध्यान से ही प्रयोजन रह गया है । यदि वे इस उलझन में पड़ते हैं तो आर्त्तभाव और रौद्रभाव को अपनाकर अपने ध्येय से च्युत होते हैं अतः मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहलाने के अधिकारी बन जाते हैं। बहिरात्मा शब्द के दो अर्थ हैं (१) पहला बाह्य शरीर पर ही है आत्मबुद्धि जिसकी (२) दूसरा बाह्य अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त इन दृश्यमान वस्तुओं पर मन है जिसका । आत्मा शब्द का अर्थ मन भी होता है सो यहाँ पर दूसरा अर्थ विवक्षित है । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—(१) पहला मिथ्या अर्थात् झूँठी या उल्टी है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि (२) दूसरा मिथ्या अर्थात् भूलभरी दृष्टि अर्थात् विचारधारा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि । यहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द का भी यह दूसरा अर्थ ही विवक्षित है ।

पूर्व के दो सूत्रों में कहा हुआ मिथ्याज्ञानरूपी भाव मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण होता है—

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरी जो ऐसी बुद्धि है कि मैं इन प्राणियों को सुखी या दुःखी करता हूँ, यह तेरी मूढ़बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि या मोहबुद्धि है यह शुभ या अशुभ कर्मों को बाँधने वाली है ॥२७१॥

टीका—एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति हे आत्मन् ! 'मैं इन जीवों को सुखी या दुःखी करता हूँ या कर सकता हूँ' इस प्रकार की बुद्धि, **एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं** यह तेरी मूढ़बुद्धि है जो कि तुझे स्वस्थभाव से दूर रखकर तेरे शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करने वाली है और इसका कुछ भी कार्य नहीं है ॥२७१॥

यह रागद्वेषरूप-अध्यवसानभाव ही बन्ध करने वाला है ऐसा आगे बतलाते हैं—

अर्थ—मैं इन संसारी प्राणियों को सुखी या दुःखी करता हूँ या कर सकता हूँ तथा मार सकता हूँ या जिला

मैं शीघ्र ही अति दुखी पर को बनाता, किंवा उसे सहज शीघ्र सुखी बनाता ।
ऐसा कहो भ्रमित ही मति आपकी है, बाँधे शुभाशुभ विधी खनि पाप की है ॥२७१॥
ऐसा विकल्प यदि हो जग को दुखी ही, सामर्थ्य है कर सकूँ अथवा सुखी ही ।
वो पाप का मलिन संग दिला सकेगा, या पुण्य का मुख तुम्हें दिखला सकेगा ॥२७२॥

मारेमि जीवावेमिय सत्ते जं एव मज्झवसिदंते ।
तं पाव-बंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥२७३॥ (युग्मम्)

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसितं रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा बन्धकारणं भवति, न चान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुमायाति। कस्मात् ? इति चेत्, तस्य सुखदुःखपरिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति। मारयामि जीवयामि सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सतः पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बन्धकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुमायाति। कस्मात् ? इति चेत्, तस्य परजीवस्य जीवितमरणादेः स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ॥२७२-२७३।

अथैवं निश्चयनयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहिं मा व मारेहिं ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२७४॥

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहिं मा व मारेहिं अध्यवसितेन परिणामेन बन्धो भवति, सत्वान् मारय

सकता हूँ, इस प्रकार का जो अध्यवसान भाव है वही तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण होता है ॥२७२-२७३॥

टीका—'मैं इन दृश्यमान जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ', इस प्रकार जो अध्यवसित अर्थात् रागादिरूप विकारभाव तेरे होता है वही उस समय शुद्धात्मा की भावना से गिरा हुआ होने के कारण तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण बनता है। वही तुझे दुःख देता है इसके सिवाय और कोई भी तुझे दुःखादि देने के लिए नहीं आता, क्योंकि जीव के जो सुख या दुःखरूप परिणाम होता है वह अपने से ही उत्पन्न किये हुये शुभाशुभरूप कर्मों के आधीन होता है। तथा 'मैं पर जीवों को मार रहा हूँ, मार सकता हूँ, एवं जिला रहा हूँ या जिला सकता हूँ, ऐसा जो तेरा अध्यवसान है वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से रहित होने वाले तुझको केवल पाप व पुण्य के बंध का करने वाला है और तेरे इस विचार से और कुछ भी होना जाना नहीं है क्योंकि पर जीव का मरना और जीना आदि तो उसी के उपार्जित किये हुए कर्म के आधीन होता है॥ २७२–२७३ ॥

आगे कहते हैं कि निश्चयनय से विचार किया जाये तो यही हिंसा करने रूप जो द्वेष रूप अध्यवसान है सो ही हिंसा है–

अर्थ—निश्चयनय का कहना है कि जीवों को मारो या न मारो किन्तु जीवों के मारने रूप भाव से कर्मों का बंध तो होता है। यही बंधतत्त्व का संक्षेप है ॥२७४॥

टीका–**अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारेहिं मा व मारेहिं** किसी जीव को मारो या न मारो

मैं मित्र में सदय हो कर प्राण डालूं, औ शत्रु को अदय होकर मार डालूं ।
ऐसा विभाव मन में यदि धारते हो, तो पुण्य-पाप क्रमशः तुम बांधते हो ॥२७३॥
प्राणों हरो मत हरो जग-जंगमों के, संकल्प, बंध करता विधिबंधनों के ।
लो बंध का विधि–विधान यही रहा है, ऐसा सहर्ष नय निश्चय गा रहा है ॥२७४॥

वा मारय । **एसो बंधसमासो** एष प्रत्यक्षीभूतो बन्धसमासः बन्धसंक्षेपः । तद्विपरीतेन निरूपाधिचिदानन्दैकलक्षण-निर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमासः । केषां ? **जीवाणं णिच्छयणयस्स** जीवानां निश्चयनयस्येति । एवं जीवितमरणसुखदुःखानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बन्धकारणं, प्राणव्यपरोपणादिव्यापारो भवतु मा भवतु वा । एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतम् ॥२७४॥

अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इदानीं पुनः असत्याद्यव्रताध्यवसानैः पापं सत्याद्यध्यवसानैश्च पुण्यबन्धो भवतीत्याख्याति—

परन्तु जहाँ किसी को मारने का विकल्प हुआ कि उस विकल्प परिणाम से हिंसा होकर कर्मों का बंध होता ही है । **एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स** जीवों के लिए निश्चयनय से यही प्रत्यक्षरूप बंधतत्व का संक्षेप है और इससे विपरीत उपाधि रहित चिदानन्दमयी एक लक्षण को रखने वाली विकल्प रहित समाधि से मोक्ष होता है । यह मोक्ष तत्त्व का संक्षेप कथन है ।

इसी प्रकार मैं दूसरे जीवों को जीवनदान देना, मार डालना एवं सुख-दुःख देना आदि कर सकता हूँ यह सब अध्यवसान है, विचार है वही बंध का कारण है किसी के प्राणों का अपहरण करने रूप आदि चेष्टा हो, भले ही मत हो, ऐसा जानकर रागादि दुर्भावरूप अपध्यान का त्याग करना चाहिये ॥२७४॥

विशेषार्थ—श्री जिन शासन में मुख्य दो नय हैं—एक निश्चयनय व दूसरा व्यवहारनय । निश्चयनय स्वावलम्बीहै, स्वयं आत्मनिर्भर करता है और व्यवहारनय परावलम्बी है, बाह्य अन्य पदार्थों के आश्रय पर टिकता है । व्यवहारनय, जो कि मुख्यतया गृहस्थों के द्वारा अपनाने योग्य है—कहता है कि जब किसी के द्वारा कोई जीव मारा या पीटा जाता है, वहाँ हिंसा होती है क्योंकि उसके भाव को कौन जानता है कि मारने का उसका भाव था या नहीं । किन्तु निश्चयनय जो कि मुख्यतया ऋषियों के द्वारा ग्राह्य है अपने अधिकारियों को कहता है कि जब तुमने बाह्य-सर्वपरिग्रह का त्याग ही कर दिया तो फिर बाह्य हिंसा करने की आवश्यकता भी क्या रह गई ? कुछ भी नहीं । परन्तु हे भाई ! मन बड़ा ही चपल है अच्छा विचार करते-करते ही बुरे विचार पर भी चला जाता है अतः इसे सँभालकर रखो और दूसरे को मार डालने, या दुःख देने आदि का भी विचार कभी मत आने दो । यदि इस प्रकार के विचार भी मन में आ गये तो तुम फिर हिंसा के दोष से बच नहीं सकते । फिर तुम यह कहकर कि 'हमने किसी भी जीव को मारा तो है नहीं' ऐसा कहने से हिंसा से छूट नहीं सकते हो। इसलिए तुम्हें तो सदा ही स्वस्थभाव में रहना चाहिये अर्थात् ज्ञान-ध्यान में ही रहना चाहिये ।

इस प्रकार का व्याख्यान करते हुए यह तीसरा स्थल छह गाथाओं में पूर्ण हुआ ।

जिसमें हिंसाध्यवसान की बात कही गई, वह विषय पूर्व में वर्णित कर दिया गया, अब आगे यह बताते हैं कि असत्यादि अव्रत-रूप विचारों से तो पाप-बन्ध होता है और सत्य बोलना आदि विचारों से पुण्य-बंध होता है—

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥२७५॥
तह य अचोज्जे सच्चे बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२७६॥ (युग्मम्)

एवमसत्येऽचौर्येऽ ब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता । यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपापबन्धरूपेण सूत्र-भूतगाथाद्वयं गतम् ॥२७५-२७६॥ अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्यत्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति । तद्यथा,

---

अर्थ एवं टीका--जिस प्रकार हिंसा के विषय में किया हुआ विचार पाप-बन्ध का कारण होता है । उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के विषय में किया हुआ विचार भी पाप-बन्ध का कारण होता है जिस प्रकार अहिंसा के विषय में किया हुआ विचार पुण्य-बंध करने वाला है वैसे ही सत्य बोलने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य पालने और अपरिग्रह के विषय का विचार भी पुण्य के बंध का करने वाला है ॥२७५-२७६॥

विशेषार्थ--आचार्य श्री यहाँ बतला रहे हैं कि अव्रत-रूप प्रवृत्ति करने में पाप बन्ध होता है और व्रत-रूप सदवस्था में पुण्य-बंध होता है ।

शंका—पहले तो आचार्य श्री बतला आये हैं कि मात्र सम्यग्दर्शन होने पर ही किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता और यहाँ कहा जा रहा है कि महाव्रत अवस्था में भी पुण्य-बन्ध होता है सो कुछ समझ में नहीं आया ।

समाधान- हे भाई, जहाँ आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि को निर्बन्ध कहा है वहाँ केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर कहा है जैसा कि 'चत्तारि वि पापे' इत्यादि गाथा से सुस्पष्ट है शेष अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि के बन्ध उनके रागानुसार होता ही है क्योंकि राग ही बन्ध का कारण है ।

शंका—आपने कहा सो ठीक परन्तु महाव्रतों से भी पुण्य बंध होता है यह कैसे ? क्योंकि फिर जो बन्ध नहीं करना चाहता वह क्या व्रत छोड़ दे ?

उत्तर--हे भाई ! महाव्रतों के दो रूप होते हैं-(१) सत्प्रवृत्तिरूप (२) निवृत्ति रूप । जैसे कि हिंसा करना या किसी को भी कष्ट देना यह पाप है, अशुभ बन्ध का कारण है । किन्तु हिंसा नहीं करना अर्थात् सभी के सुखी होने की भावना करना यह सत्प्रवृत्तिरूप महाव्रत है यह पुण्य बंध करने वाला है और इसी का सम्पन्न रूप किसी से भी डरने डराने रूप भय संज्ञा से रहित स्वयं निर्भय होना यह पुण्य और पाप इन दोनों से भी दूर रहने वाला है । इसी प्रकार झूठ

एवं असत्य अरु स्तेय अब्रह्महानी, औ संग संकलन में रुचि की निशानी ।
माने गये अशुभ अध्यवसाय सारे, ये पाप बन्ध करते दुख के पिटारे ॥२७५॥
अस्तेय सत्य सुमहाव्रत को निभाना, जो ब्रचह्मर्य धर, संग सभी हटाना ।
ये हैं अवश्य शुभ अध्यवसाय सारे, हैं पुण्य बंधक कथंचित, पाप टारे ॥२७६॥

अथ—बाह्यं वस्तु रागादिपरिणामकारणं परिणामस्तु बन्धकारणमित्यावेदयति—

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण ह वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्ति ।।२७७।।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं बाह्यं वस्तु चेतनाचेतनं पञ्चेन्द्रियविषयभूतं प्रतीत्याश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति । **ण हि वत्थुदो दु बंधो** न हि वस्तुनः सकाशाद्बन्धो भवति । तर्हि केन बन्धः ? **अज्झवसाणेण बंधोत्ति** वीतरागपरमात्मतत्त्वभिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बन्धो भवति । वस्तुनः सकाशाद्बन्धो कथं न भवतीति चेत् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात् । तथाहि-बाह्यवस्तूनि सति नियमेन बन्धो

बोलना पाप, सत्य बोलना पुण्य किन्तु सर्वथा नहीं बोलना अर्थात् मौन रहना सो पुण्य और पाप इन दोनों से भी रहित । किसी की भी बिना दी हुई वस्तु लेना सो चोरी-पाप, और उसका त्याग किन्तु श्रावक के द्वारा भक्ति पूर्वक उचित रूप से दिया हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करना सो पुण्य और आहार संज्ञा से रहित होना सो पुण्य व पाप इन दोनों से भी रहित । व्यभिचार तो पाप तथा स्त्री त्याग रूप ब्रह्मचर्य सो पुण्य, किन्तु मैथुन-संज्ञा से रहित होना यह पुण्य और पाप से रहित । इसी प्रकार परिग्रह पाप, परिग्रह त्याग पुण्य किन्तु परिग्रह संज्ञा का नहीं होना सो शुद्ध-रूप इस प्रकार महाव्रतों का पूर्व प्रारम्भात्म-रूप शुभ किन्तु उन्हीं का ही अपर-रूप जो कि पूर्णतया उदासीनतामय एवं चारों प्रकार की संज्ञाओं से भी रहित होता है वह शुद्ध अतः अबन्ध कर होता है ऐसा जानना ।

इस प्रकार अव्रत-पाप बंध करने वाला व व्रत-पुण्य बंध करने वाला है ऐसा कथन करने वाली दो गाथायें पूर्ण हुईं ।।२७५–२७६।।

अब इसके आगे परिणामों की मुख्यता से इन्हीं दो गाथाओं का तेरह गाथाओं से विशेष वर्णन करते हैं । उसमें पहले यह बताते हैं कि बाह्य वस्तु तो रागादि परिणामों के लिए कारण होती है तथा रागादिकरूप परिणाम बंध का कारण होते हैं—

अर्थ—इन संसारी जीवों के जो रागादि रूप अध्यवसानभाव होता है वह बाह्य वस्तु का निमित्त लेकर होता है वह अध्यवसान भाव ही बन्ध का कारण होता है, किन्तु वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती ।।२७७।।

टीका—**वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं** जीवों के रागादिरूप से प्रसिद्ध होने वाला विकारी भाव इन पंचेन्द्रियों के विषयभूत चेतन और अचेतनात्मक बाह्य वस्तुओं के आश्रय से होता है । **ण हि वत्थुदो दु बंधो** फिर भी वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती । फिर बंध का कारण क्या है ? कि **अज्झवसाणेण बंधोत्ति** बंध तो श्री वीतराग परमात्मतत्त्व से भिन्नता रखने वाला रागादिरूप अध्यवसानभाव-विकारी परिणाम से होता है । वस्तु से बंध क्यों नहीं होता है ? ऐसा कहो तो उसका समाधान यह है कि वस्तु के साथ में बंध का अन्वय-व्यतिरेक पूरी प्रकार नहीं बैठता, उसमें व्यभिचार आता है । क्योंकि जहाँ बाह्य वस्तु हो वहाँ बंध भी अवश्य हो इस प्रकार तो अन्वय और जहाँ बाह्य वस्तु न रहे वहाँ बंध भी न होवे इस प्रकार

पंचेद्रि के विषय को लखता जभी से, रागादिमान यह आतम हो तभी से ।
पै वस्तुतः विषय बंधक वे नहीं हैं, रागादिभाव विधि-बंधक हैं, सही है ।।२७७।।

भवतीति अन्वयो नास्ति, तदभावे बन्धो न भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागः? इति चेत्, रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थम्। अयमत्र भावार्थः। बाह्येपञ्चेन्द्रियविषयभूते वस्तूनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति, तस्मादध्यवसानाद्बन्धो भवतीति पारम्पर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति न च साक्षात्। अध्यवसानं पुनर्निश्चयेन बन्धकारणमिति ॥२७७॥

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा तुज्झ मदी[1] णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२७८॥

का व्यतिरेक भी नहीं पाया जाता [देखो, एक संयमी यत्नाचार से चल रहा है वहाँ सहसा टकराकर कोई जीव मर गया तो वहाँ वध होने पर भी संयमी के बंध नहीं, इसी प्रकार किसी को मारने के लिए किसी ने तलवार चलाई किन्तु उसके लगी नहीं वह बच गया तो वध तो नहीं हुआ फिर भी उस तलवार चलाने वाले के कर्म बंध हो ही गया] इस पर शंका होती है कि फिर बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? तो इसका उत्तर यह है कि रागादिरूप-अध्यवसानभाव को न होने देने के लिए बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता है क्योंकि पंचेन्द्रियों की विषयभूत बाह्य वस्तु के होने पर ही अज्ञान भाव के कारण रागादिरूप अध्यवसान भाव होते हैं जिस अध्यवसान भाव से नूतन कर्म बंध होता है। इस प्रकार परम्परा से बाह्य वस्तु भी कर्मबंध का कारण होती है किन्तु साक्षात् बाह्य वस्तु ही बन्ध का कारण होती हो ऐसा नहीं है अपितु ऐसा साक्षात् सम्बन्ध तो अध्यवसान के ही साथ में है इसलिये निश्चय से बंध का कारण अध्यवसान भाव को ही माना जाता है ॥२७७॥

विशेषार्थ—यहाँ बाह्य त्याग का समर्थन किया गया है। आचार्य महाराज कहते हैं कि यद्यपि नूतन कर्मबंध आत्मा के रागद्वेष विकार भाव से होता है किन्तु वह विकार भाव बाह्य वस्तु के आलम्बन से ही होता है। जैसे कि सुभट है तो उसको मारने या बचाने का विचार हो सकता है किन्तु बांझ के पुत्र को मारने या बचाने का विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि वह है ही नहीं। एवं जब बाह्य वस्तु का आलम्बन लेकर ही विकार-भाव होता है तब उस विकारभाव से बचने के लिए छद्मस्थ को बाह्य वस्तु का त्याग करना भी परमावश्यक है। जब बाह्य वस्तु का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सर्वथा त्याग करके उनसे दूर हो जायेगा तो उसका स्मरण भी कभी नहीं करेगा फिर उसके रागादिरूप विकारभाव कैसे होगा? इसलिये बाह्य त्याग आवश्यक है।

आगे बताते हैं कि कर्म बंध करने वाला जो अध्यवसानभाव होता है वह अपना कार्य करने में असमर्थ होता है—अर्थात् मारने का विचार करने पर भी मार नहीं सकता, तब वह झूठा होता है—

अर्थ—हे भाई! तेरी जो ऐसी मूढ़ बुद्धि है कि मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ, बाँध सकता हूँ या छुड़ा सकता हूँ वह तेरी मोह रूप बुद्धि है, निरर्थक है, मिथ्या ही है इसमें तथ्य नहीं है ॥२७८॥

मैं आपको अति दुखी व सुखी बनाता, या बाँधता झटिति बंधन से छुड़ाता।
ऐसी त्वदीय मति सन्मति-हारिणी है, मिथ्यामयी विषमयी दुखकारिणी है ॥२७८॥

---

[1] मूढमदी इति पाठः।

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बध्नायामि, तथा विमोचयामि । **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयोजना हु स्फुटं दे अहो, अतः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति । कस्मात् ? इति चेत्, भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बन्धमोक्षाभावश्चेति ॥२७८॥

अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवतीति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥२७९॥

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणा बध्यन्ते इति चेत । **मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप-निश्चयरत्नत्रयलक्षणे मोक्षमार्गे स्थिताः पुनर्मुच्यन्ते यदि चेत्ते जीवाः । **किं करोसि तुमं** तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् ! न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति ॥२७९॥

अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवन्ति न च भवदीय परिणामेनेति—

टीका—**दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि** मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी कर रहा हूं, बांध रहा हूँ या छुड़ा रहा हूं । **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** यह जो तेरी बुद्धि है वह निरर्थक है, कोई भी प्रयोजन सिद्ध करने वाली नहीं है, यह स्पष्ट है इसलिये यह मिथ्या है, झूठी है व्यर्थ है, । क्योंकि जब तक उन जीवों को साता-वेदनीय तथा असाता-वेदनीय का उदय न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनको सुख या दुःख नहीं हो सकता है । इसी प्रकार जब तक उनका अपना विचार अशुद्ध या शुद्ध न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनका बँध जाना और मुक्त हो जाना नहीं हो सकता है ॥२७८॥

इस पर शिष्य प्रश्न करता है अध्यवसान क्रियाकारी क्यों नहीं है ?

अर्थ—जब कोई भी जीव अपने-अपने अध्यवसान के निमित्त से कर्म बंध को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म से छूटते हैं [अन्यथा नहीं, ऐसा नियम है] तब तेरा विचार किस काम आया ? ॥२७९॥

टीका—**अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि** जब कि सब ही संसारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बंध से जकड़ लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है **मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब **किं करोसि तुमं** हे दुरात्मन् ! तू वहाँ क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं, अपितु तेरा विचार व्यर्थ ही ठहरता है ॥२७९॥

इस प्रकार जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने पाप कर्म के उदय से होते है, तुम्हारे विचारानुसार नहीं यह बतलाते हैं—

रागादि से जबकि बंधन जीव पाते, आरूढ़ मुक्ति पथ पे मुनि मुक्ति जाते ।
मैं बाँधता जगत को अथवा छुड़ाता, तेरा विकल्प फिर वो किस काम आता ?॥२७९॥

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८०॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८१॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८२॥
सत्तेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥२८३॥(चतुष्कम्)

कायेण इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवा दुःखिता भवन्ति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीयपापकर्मोदयाः-भावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतोः । मनोवचनकायैः शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिर्मिथ्या । परं किंतु स्वस्थभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति ॥२८०-२८३॥

अर्थ—मैं शरीर से प्राणियों को दुःखी करता हूँ यह जो तेरी बुद्धि है वह झूठी है क्योंकि जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने-अपने कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं । मैं वचन से इनको दुःखी करता हूँ यह जो तू बुद्धि करता है वह सब मिथ्या है क्योंकि जो जीव दुःखी होते हैं वे सब अपने-अपने कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं । मैं मेरे मन से इन जीवों को दुःखी करता हूँ यह जो तेरी बुद्धि है वह मिथ्या है क्योंकि जीव जो दुःखी होते हैं वे सब अपने-अपने कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं इसी प्रकार मैं शस्त्र के द्वारा प्राणियों को दुःखी करता हूँ यह तेरी मिथ्याबुद्धि है क्योंकि जीव जो दुःखी होते हैं वे सब अपने-अपने कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं ॥२८०-२८३॥

टीका—हे दुरात्मन् ! भोले प्राणी ! यदि जीव अपने ही पाप कर्म के उदय से दुःखी होते हैं एवं तुम उन जीवों के विषय में कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर मैं इन जीवों को मन से, वचन से, काय से और शस्त्रों के द्वारा भी दुःखी कर सकता हूं या कर रहा हूं यह जो तेरी बुद्धि हैं वह झूठी है प्रत्युत ऐसी बुद्धि के द्वारा स्वस्थ-भाव सहज-निराकुल-आत्मभाव से च्युत होकरतू पाप बंध ही करेगा ॥२८०–२८३॥

रे काय से जगत को दुख हैं दिलाते, ऐसा कहीं तुम कहो बलधार पाते ।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त तब तो मति है तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८०॥
लो विश्व को वचन से दुख हैं दिलाते, ऐसी कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८१॥
संसार को दुखित हैं मन से कराते, ऐसी कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८२॥
या विश्व को दुखित आयुध से कराते, ऐसी कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८३॥

अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवन्तीति कथयति—

कायेण च वाचा य मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८४॥

स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवन्ति । न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचनकायैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या । एवं तवाध्यवसानं सार्थकं न भवति । परं किंतु निरुपरागपरमचिज्ज्योतिःस्वभावं स्वशुद्धात्मतत्त्वमश्रद्दधानः, तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः ॥२८४॥

अथ स्वस्थभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति—

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२८५॥

यह जीव सुखी भी निश्चय से अपने शुभ-कर्म के उदय होने पर होता है ऐसा बतलाते हैं—

अर्थ—उसी प्रकार यदि ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से सुखी होते हैं तब 'मैं मन, वचन, काय से इनको सुखी करता हूँ' यह तेरी बुद्धि मिथ्या है ॥२८४॥

टीका—यदि सभी जीव सुखी भी अपने-अपने कर्मोदय से होते हैं, न कि तेरे परिणामों से, तो निश्चय से मैं मन, वचन, काय से इन संसारी प्राणियों को सुखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है । क्योंकि तेरे विचार से तो जीव सुखी होते नहीं हैं एवं तेरा विचार तो निरर्थक ही है प्रत्युत दूसरों को सुखी करने के विचार से तो तू वीतरागमय-परमचेतन-ज्योतिस्वरूप जो शुद्धात्मतत्त्व उसको नहीं जानता हुआ, नहीं मानता हुआ और नहीं अनुभव करता हुआ उस शुभ परिणाम से पुण्य को ही बाँधता है इस प्रकार इसका अर्थ है ॥२८४॥

विशेषार्थ—जिसने सर्वप्रकार का परिग्रह त्यागकर महाव्रत धारण कर लिया फिर भी मैं अमुक को मार रहा हूँ या बचा रहा हूँ इसी विचार में उलझा रहा तो उस जीव को लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि तेरे इस विचार मात्र से कोई भी जीव सुखी-दुःखी नहीं होता । सुखी-दुःखी होना तो उस जीव के शुभ व अशुभ कर्मोदय के अनुसार है, तब तू क्यों व्यर्थ ही इस प्रकार के संकल्प-विकल्प में फँस रहा है ? तुझे तो इन सब प्रपंचों से दूर हटकर अपने शुद्ध आत्मा के ध्यान में लगकर अपने पूर्व कर्मों को हलका करना चाहिये ।

आगे कहते हैं कि यह जीव अपने आत्मा में स्थितिरूप स्वस्थभाव के विरोधी रागादिरूप अध्यवसान से मोहित होता है तब यह सब ही परद्रव्य को अपना मानने लगता है—

अर्थ—यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यञ्च, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी

या काय से वचन से मन से कराते हैं विश्व को हम सुखी, करुणा दिखाते ।
ऐसा कहो मति-मृषा फिर भी तुम्हारी पा कर्म का फल सुखी जग क्योंकि भारी ॥२८४॥
ज्यों जीव राग रति की कर आरती है होता सुरेश नर वानर नारकी है ।
है पाप-पुण्य परिपाक जु आप पाता, ऐसा वसन्ततिलका यह छंद गाता ॥२८५॥

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२८६॥(युगलम्)

उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः सम्बन्धात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनित-विभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः । धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परि-च्छित्तिविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः सम्बन्धात् करोतीत्यभिप्रायः । किं च, यथा घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते, तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये धर्मोऽयमित्यादि योऽसौ परिच्छित्तिरूपो विकल्पः सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते । कथं ? इति चेत्, धर्मास्तिकायादिविषयत्वात् । स्वस्थभावच्युतो भूत्वा यदा धर्मास्तिकायोय-मित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ॥२८५-२८६॥

अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येषां नास्ति

पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एवं लोक-अलोक को इन सबको अपना लेता है अपने कर लेता है ॥२८५-२८६॥

टीका—उदय में आये हुए नरकगति आदि कर्म के वश से यह जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप अवस्थाओं को तथा पुण्य-पाप रूप और भी सभी अवस्थाओं को जो कि कर्म जनित अवस्थायें हैं उनको अपने आप के साथ लगा कर अपना लेता है, अपनी कर लेता है । अर्थात् निर्विकाररूप जो परमात्मतत्त्व उसके ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ वह उन उदयागत कर्म से उत्पन्न विभाव रूप परिणामों को मैं नारकी हूँ इत्यादि रूप से अपने ऊपर लाद लेता है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, अजीव, लोक और अलोक रूप जो ज्ञेय पदार्थ हैं उनको भी अपनी परिच्छित्ति करने के विकल्परूप अध्यवसान के द्वारा अपने आप से जोड़ करके अपना लेता है। अभिप्राय यह है कि जैसे घटाकार में परिणत हुआ ज्ञान भी उपचार से अर्थात् विषय-विषयी के सम्बन्ध से घट कहा जाता है, वैसे ही धर्मास्तिकायादि ज्ञेयपदार्थों के विषय में यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि परिच्छित्तिरूप– जानतरूप विकल्प है वह भी उपचार से धर्मास्ति-कायादि कहलाता है क्योंकि उस विकल्प का विषय धर्मास्तिकायादि है । अतः जब स्वस्थ भाव से च्युत होकर यह आत्मा "मैं धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि" रूप विकल्प करता है उस समय उपचार से धर्मास्तिकाय आदि ही किया हुआ होता है ॥२८५–२८६॥

विशेषार्थ– जैसे हिंसा के अध्यवसान से आत्मा हिंसक, अहिंसा के अध्यवसान से अहिंसक और उदय में आये हुए नारकादि अध्यवसान से नारकादिरूप, पुण्य-पाप आदि अध्यवसान से सुख-दुःख रूप होता है उसी प्रकार ज्ञायमान धर्मादिद्रव्य के अध्यवसान से धर्मादिरूप स्वयं होता है अर्थात् तत्तदध्यवसान से आत्मा स्वयं विश्वरूप बन जाता है यह सब अध्यवसान मोहात्मक ही है अतः उससे नूतन बन्ध होता है ।

आगे यह बताते हैं कि निश्चय से यह आत्मा शरीरादि परद्रव्य से भिन्न है किन्तु जिस मोह के प्रभाव से यह अपने आपको पर-द्रव्य के साथ सम्बन्ध जोड़ता है वह मोह भाव जिसके

शुद्धात्म से पृथक् द्रव्य छहों निराले, हैं भिन्न-भिन्न गुण लक्षण धर्म धारे ।
संसारि जीव पर, अध्यवसान द्वारा, संसार को हि अपना करता विचारा ॥२८६॥

त एव तपोधना इति प्रकाशयति—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७॥

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबन्धनिमित्तभूतानि न सन्ति येषां। **ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्यन्ते। किं च विस्तरः शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति, तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं, नारकोहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति। तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहात्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च, ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री च भवति ततः कर्मबन्धः स्यात्। यदा पुनः पूर्वोक्तभेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री च भवति ततः कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थः ॥२८७॥

कियन्तं कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्—

नहीं है वही तपोधन हैं :—

अर्थ—ये उपर्युक्त अध्यवसान तथा और भी इस प्रकार के अध्यवसान भाव जिनके नहीं हैं वे मुनि लोग ही शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से नहीं लिपते-बंधते हैं ॥२८७॥

टीका—एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ये ऊपर बतलाये गये तथा इसी प्रकार के और भी जो अध्यवसान हैं वे ही कर्मबन्ध के निमित्तभूत होते, हैं जो कि शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं। ये अध्यवसान भाव जिनके नहीं होते **ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** वे ही मुनीश्वर शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा का सम्यीचीन-रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप निश्चय-रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसा भेद-विज्ञान नहीं होता तब उस समय वह जीव "मैं इन जीवों को मारता हूँ" इत्यादि रूप से हिंसा के अध्यवसान को, "मैं नारक हूँ" इत्यादि कर्मोदय के अध्यवसान को, 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान को अर्थात् जो कि शुद्धात्मा से भिन्न वस्तु है, उसको जानता है तब उस समय वह उस हिंसा अध्यवसान रूप विकल्प के साथ अपने आपको अभेदरूप अर्थात् एकमेक रूप से जानता हुआ वैसे ही श्रद्धान करता अर्थात् जानता है, वैसे ही मानता है और वैसे ही आचरण भी करता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता और है मिथ्याचारित्री भी होता है इसीलिए उसके कर्मबन्ध होता है और जब पूर्वोक्त भेदविज्ञान होता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है और सम्यक्-चारित्रवान् होता है उस समय कर्म का बन्ध नहीं होता है यह भावार्थ है ॥२८७॥

अब यह बताते हैं कि यह आत्मा इन पर पदार्थों को अपने ऊपर कब तक लादता है—

ऐसे अनेक-विध अध्यवसाय छोड़े, नीराग भाव धर के मन को मरोड़े।
ज्ञानी मुनीश्वर शुभाशुभ रेणुओं से, होते नहीं मलिन, शोभित हों गुणों से ॥२८७॥

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥२८८॥

यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यन्तरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनन्तज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति। यावत्कालमित्थंभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति, तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः ॥२८८॥

अर्थ—जब तक यह छद्मस्थ जीव बाह्य वस्तुओं के संबंध में संकल्प-विकल्प करता है तब तक उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय का ज्ञान नहीं हो पाता, अतः तभी तक वह शुभ और अशुभ जाति के कर्म भी करता है ॥२८८॥

टीका—जब तक यह जीव शरीर, पुत्र, स्त्री आदिक बाह्य वस्तुओं के विषय में ये सब मेरे हैं इस प्रकार का तो संकल्प और उन्हें लक्ष्य में लेकर प्रसन्नता तथा अप्रसन्नतारूप विकल्प को मन में करता है तब तक यह जीव अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप आत्मा को हृदय से नहीं जानता है और जब तक इस प्रकार की आत्मा इसके हृदय में स्फुरायमान नहीं होती तब तक शुभाशुभ को उपजाने वाले कर्म करता ही रहता है ॥२८८॥

विशेषार्थ—आचार्य श्री ने यहाँ आत्मोपलब्धि की बात कही है। वह आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है-(१) आगमिक आत्मोपलब्धि (२) मानसिक आत्मोपलब्धि (३) केवलात्मोपलब्धि। (१) गुरु की वाणी में आत्मा का स्वरूप सुनकर उस पर विश्वास ले आना यह आगमिक आत्मोपलब्धि है। (२) आत्मा के शुद्ध-स्वरूप को मन से स्वीकार करना अर्थात् मन को तदनुकूल परिणमा लेना यह मानसिक आत्मोपलब्धि है। (३) केवलज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूप से आत्मा की प्राप्ति यह केवलात्मोपलब्धि है। उनमें से केवलात्मोपलब्धि की बात तो अपूर्व है वह तो परमात्मस्वरूप एवं ध्येय रूप है ही, परन्तु यहाँ पर शेष आत्मोपलब्धियों में से मानसिक आत्मोपलब्धि की बात है जहाँ पर श्रद्धा के साथ आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् 'जैसी कथनी वैसी करणी' की बात है। जहाँ पर श्रद्धा के साथ-साथ मानसिक आत्मोपलब्धि के समय स्वयं में भी हर्ष-विषादादि विकारभावों का अभाव होता है अतः वहाँ शुभ या अशुभ किसी प्रकार के नूतन कर्मबन्ध का सद्भाव नहीं होता। अतः वही महर्षियों को स्वीकार्य है तथा उसी का यहाँ इस अध्यात्म-प्रकरण में संग्रहण एवं उसी मानसिक आत्मोपलब्धि वाले को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, निर्बन्ध आदि रूप से कहा गया है। जहाँ आगमिक आत्मोपलब्धि की बात है वहाँ पर शुद्धात्मा के विषय का श्रद्धान तो होता है किन्तु आचरण तदनुकूल न होकर उससे उल्टा होता है अर्थात् उसे यह विश्वास तो है कि आत्मा का स्वरूप हर्ष-विषादादि करना नहीं है किन्तु स्वयं हर्ष-विषादादि को लिए हुए रहता है और करता रहता है इस प्रकार "कथनी और व करणी और" वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला होने से उसे इस अध्यात्म-शैली के ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि आदि न कहकर मिथ्यादृष्टि कहा गया है जैसा कि ऊपर गाथा नं. २८७ में टीका में लिखा गया है। हाँ, आगमिक लोग शुद्धात्मा की श्रद्धा मात्र से भी सम्यग्दृष्टिपन मानते हैं क्योंकि

संकल्प जन्य सविकल्प अरे ! करेगा, तो पाप-पुण्य विधिबंध नहीं टरेगा।
ना बोध दीप दिल में उजला जलेगा, फैला विमोहतम ना तबलौं टलेगा ॥२८८॥

अथाध्यवसानस्य नाममालामाह—

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२८९॥

बोधनं बुद्धिः, व्यवसनं व्यवसायः, अध्यवसनमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च । विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चिन्तनं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः किं तु सर्वोऽपि समभिरूढ़नयापेक्षयाऽध्यवसानार्थं एव । कथं ? इति चेत्, यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । एवं व्रतैः पुण्यं, अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं, तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बन्धकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदशगाथा गताः । इति समुदायेन पञ्चदशसूत्रैश्चतुर्थस्थलं समाप्तम् ॥२८९॥ अतः परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यन्तं व्याख्यानं करोति—

उनकी विचारा-धारा यह है कि इसके शुद्धात्मा होने रूप आचरण भले ही आज न सही किन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा तो इसके भी जगी है अतः संग्राहकर्ता के रूप से यह भी सम्यग्दृष्टि ही है—

अब आगे की गाथा में आचार्यदेव अध्यवसान के पर्याय नाम गिनाते हैं—

अर्थ—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं ॥२८९॥

टीका—बोधनं अर्थात् जाननामात्र सो बुद्धि; व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूप में व्यवसाय सो व्यवसाय; अध्यवसानं अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय; मननं अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो मति; विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान; चिन्तनं अर्थात् स्मरण करना वह चित्त; भवनं अर्थात् चेतना का होना सो भाव; परिणमनं अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम । इस प्रकार यहाँ शब्द भेद तो है किन्तु अर्थ भेद नहीं है । यदि समभिरूढ़नय से देखें तो इन सब का अर्थ अध्यवसान ही होता है जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज ऐसा अर्थ होता है ॥२८९॥

इस प्रकार व्रतों के द्वारा पुण्य होता है और अव्रतों के द्वारा पाप, इस प्रकार का कथन दो गाथाओं में हुआ । उसी का विशेष वर्णन करने के लिये बाह्य-वस्तु रागादिरूप अध्यवसान का कारण होती है और रागादिरूप अध्यवसान ही बन्ध का कारण होता है, इस प्रकार के कथन को मुख्य लेकर शेष तेरह गाथायें हुईं । इस प्रकार पन्द्रह गाथाओं में यह चतुर्थ स्थल पूर्ण हुआ ।

अब इसके आगे यह कथन करते हैं कि अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधि है स्वरूप जिसका ऐसे उस निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक जो व्यवहारनय है वह दबा दिया जाता है इस प्रकार के कथन की मुख्यता से छह गाथाओं में वर्णन करते हैं—

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव, विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चिती विभाव ।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे, हैं भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारें ॥२८९॥

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयसल्लीणा[1] मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२९०॥

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषिद्ध इति जानीहि । केन कर्तृभूतेन ? शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन । कस्मात् ? **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनयसंलीना आश्रिताः स्थिताः सन्तो मुनयो निर्वाणं लभन्ते यतः कारणादिति । किं च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोनजमिति भावार्थः । कथं निष्प्रयोजनः ? इति चेत्, कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वात् ॥२९०॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार सविकल्प जो व्यवहारनय है वह निर्विकल्परूप निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है । इस निर्विकल्प रूप निश्चयनय में तल्लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२९०॥

टीका—एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण हे आत्मन् ? उपर्युक्त व्यवहारनय जो कि पराश्रित है वह शुद्ध-द्रव्य के आश्रित होने वाले निश्चयनय से हटा देने योग्य है ऐसा तुम समझो, क्योंकि **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनय का आश्रय लेने वाले उसमें लीन रहने वाले, स्थित रहने वाले मुनि लोग ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं । भावार्थ यह है कि यद्यपि व्यवहारनय निश्चयनय का साधक है इसलिए प्रारंभ में, प्रथम सविकल्पदशा में, प्रयोजनवान् है । उसे प्राप्त करना आवश्यक है फिर भी जो लोग विशुद्धज्ञान-दर्शनरूप जो शुद्धात्मा उसमें स्थित हैं, चिगते नहीं हैं, उनको व्यवहारनय से कोई प्रयोजन नहीं होता है ॥२९०॥

विशेषार्थ—व्यवहारनय से यहाँ पर व्रत, समिति आदि 'रूप बाह्यक्रियात्मक दशा को और निश्चयनय से आत्मतल्लीनतारूप निर्विकल्प समाधि दशा को लिया गया है । अब जो जीव अनादि कालीन सांसारिक उलझन से मुक्त होना चाहता है वह अब मैं हिंसा नहीं करके अहिंसा का पालन करूँगा' इत्यादि रूप से महाव्रत धारण करता है ताकि निराकुल बनकर आत्मानुचिंतन द्वारा अपने मन के मैल को धो डालता है बिना ऐसा किये वह सीधा ही आत्मानुचिंतनरूप समाधि में नहीं लग सकता व मन के मैल को नहीं धो सकता इसलिए व्रत का धारण करना परम आवश्यक है । किन्तु व्रत धारण करने पर भी आत्मानुमननरूप-समाधि नहीं प्राप्त की जा सके तो भी उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि उसका साक्षात् कारण तो आत्मसमाधि ही है । जिसने आत्मानुभवरूप-समाधिदशारूप निश्चयनय को प्राप्त कर लिया उसके लिए फिर बाह्य-व्रत पालनरूप क्रियात्मक दशा पर आने का कोई प्रयोजन नहीं रहता । यह बात दूसरी है कि उपयोग की दुर्बलता से आत्मानुभव पर अधिक देर नहीं टिका रहने के कारण उसे वहाँ से हटकर बाह्य-महाव्रतादि के पालने में प्रवृत्त होना पड़ता है वह भी इसलिए कि ऐसा करके वह फिर आत्मानुभवरूप-समाधि को पुनः प्राप्त कर सके इसीलिए व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध्य है । सार यही है कि मुनि को निर्विकल्पसमाधि के प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्षदाता, होता निषिद्ध व्यवहार मुझे न भाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय सन्त योगी, निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ॥२९०॥

---

[1] णिच्छयणयमसिदा इति पाठः ।

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ ॥२९१॥

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं व्रतसमितिगुप्तिशीलतपश्चरणादिकं जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं । **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी

तभी मुनिपना सफल है अन्यथा नहीं ।

शंका– फिर आजकल तो मुनि नहीं बनना चाहिये क्योंकि इस समय तो निर्विकल्प-समाधि नहीं हो सकती है ? ऐसा सुना जाता है––

समाधान––कौन कहता है कि आजकल निर्विकल्प-समाधि नहीं हो सकती है ? विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं – (१) ध्येय-ध्याता आदिरूप विकल्प (२) इष्ट-अनिष्टादिरूप विकल्प । जहाँ मैं ध्यान करने वाला हूँ और अमुक अर्हन्तादि का ध्यान कर रहा हूँ इस प्रकार का ध्याता और ध्येय आदि का विकल्प न हो जैसा कि छहढाला में लिखा हुआ है ।

'जहँ ध्यानध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहां । चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहां ॥ तीनों अभिन्न-अखिन्न-शुध्र, उपयोग की निश्चल दशा । प्रगटी जहां, दृग, ज्ञान-व्रत ये, तीन धा एक हि लसा ॥' ऐसा एकाकार ध्यान जिसको आगम भाषा में शुक्लध्यान कहते हैं । वह तो उत्तम संहनन वाले के ही होता है अतः इस समय नहीं हो सकता है किन्तु जहाँ पर यह मेरा और यह पराया अथवा यह अच्छा और यह बुरा इस प्रकार के आर्त्तरौद्रभावात्मक संकल्प-विकल्प न होने पावे ऐसा धर्म्यध्यान तो हो सकता है । जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं :–

'अज्जवितिरयण सुद्धा, अप्पा झाऊण जांति सुरलोए ।
लोयंतिय देवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥'

अर्थात् आज भी ऐसे जीव हैं जिनका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप-रत्नत्रय निर्दोष व शुद्ध है अतः वे अपनी आत्मा का ध्यान करके उसके बल पर यहाँ से ब्रह्मस्वर्ग में जाकर लोकांतिक देव हो जावें और वहाँ से आकर मनुष्य हो मुनि बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लें । इस प्रकार शुद्ध-रत्नत्रय को पालन करने की, एवं सीधा यहाँ से लौकान्तिक पद पाने जैसी योग्यता मुनि बनने पर ही हो सकती है अतः आज भी मुनि बनना निरर्थक नहीं है, सार्थक ही है यदि वह समाधि के लिये है तो ।

अन्यथा कोरे व्रतादिक तो अभव्य भी स्वीकार करता है जो कि कर्मों से मुक्त नहीं होता ऐसा बताते हैं :–

अर्थ––देखो, श्री जिन भगवान् ने बताया है कि उन व्रत, समिति, गुप्ति, शील, और तपों को करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है ॥२९१॥

टीका– **वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं** श्री जिन-भगवान् के द्वारा बताये हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि को **कुव्वतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ**

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले, लेते भले हि तप संयम गीत गा ले ।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कल शील पाले, पाते न बोध दृग वे न बने उजाले ॥२९१॥

भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति। कस्मात्? इति चेत्, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात् इति ॥२९१॥

अथ तस्यैकादशाङ्गश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी? इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२९२॥

मोक्खं असद्दहतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज मोक्षमश्रद्दधानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशाङ्गश्रुताध्ययनं कुर्यात्। **पाठो ण करेदि गुणं** तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति। किं कुर्वंतस्तस्य? **असद्दहंतस्स णाणं तु** अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य। किं? ज्ञानं। कोऽर्थः? शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति। कस्मान्न श्रद्धत्ते? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात्। तदपि कस्मात्? अभव्यत्वादिति भावार्थः ॥२९२॥

अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्—

मिथ्यात्व तथा कषाय का मन्द उदय होने से, करते रहने पर भी अभव्य-जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है। क्योंकि उसके मिथ्यात्वादि सातप्रकृतियों का उपशम, क्षय वा क्षयोपशम नहीं हो पाता, इसलिए शुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान उसके नहीं होता ॥२९१॥

यद्यपि उसके ग्यारह अंग तक ज्ञान हो जाता है फिर भी वह अज्ञानी बना रहता है ऐसा नीचे बताते हैं :–

अर्थ—अभव्य जीव यदि शास्त्र भी पड़ता है, पर शुद्धज्ञानमय-आत्मस्वरूप-मोक्षतत्त्व का श्रद्धान न होने से उसका वह शास्त्र पढ़ना भी गुणकारी नहीं होता है ॥२९२॥

टीका—मोक्खं ससद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज मोक्ष का जिसको श्रद्धान नहीं है अर्थात् अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार की आत्म-विशुद्धि पर जिसका विश्वास नहीं जमता है, ऐसा अभव्य जीव यद्यपि अपनी ख्याति, पूजा, लाभादि के लिए ग्यारह-अंग-श्रुत का अध्ययन भी करता है तो करे। **पाठो ण करेदि गुणं** तो भी शास्त्र का पढ़ना उसके लिये शुद्धात्मा के परिज्ञान रूप गुण का करने वाला नहीं होता। **असद्दहंतस्स णाणं तु** क्योंकि वह ज्ञान पर अपनी रुचि नहीं लाता है, विश्वास नहीं लाता, अर्थात् वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान, और अनुष्ठानरूप जो निर्विकल्प समाधि है उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य, जानने योग्य जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसको नहीं मानता, नहीं स्वीकार करता है क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम व क्षय नहीं होता। उसका भी यह कारण है कि वह अभव्य है यह भावार्थ है ॥२९२॥

फिर यहाँ शंका होती है कि वह पुण्यरूप धर्मादि को क्यों मानता है?

एकादशांग श्रुत पा न स्व-में रुची है, श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नहीं है।
ऐसा अभव्य जन का श्रुत पाठ होता, रे राम! राम! रटता दिन-रात तोता ॥२९२॥

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि य ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२९३॥

सद्दहदि य श्रद्धते च **पत्तेदि य** ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीर्ति परिच्छित्ति करोति । **रोचेदि य** विशेषश्रद्धान-रूपेण रोचते च । **तह पुणोवि फासेदि य** तथा पुनः स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण । कं ? **धम्मं भोगणिमित्तं** अहमिन्द्रादि पदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकाङ्क्षारूपेण पुण्यरूपं धर्मं । **ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं** न च कर्मक्षयनिमित्तं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं निश्चयधर्ममिति ॥२९३॥

अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२९४॥

अर्थ—अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसे प्रतीति में लाता है, उसमें रुचि रखता है, एवं उसे धारण करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिए नहीं किन्तु भोगों को प्राप्त करने के लिए करता है ॥२९३॥

टीका—सद्दहदि य श्रद्धान करता है, उसे **पत्तेदि य** ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है, उसकी जानकारी प्राप्त करता है **रोचेदि य** विशेषरूप से विश्वास लाता है **तह पुणोवि फासेदि य** तथा उसे छूता है अर्थात् आचरण में लाता है । कौन से धर्म को लाता है ? कि **धम्मं भोगणिमित्तं** अहमिंद्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगों का विशेष रूप से साधन है उस पुण्यरूप-धर्म को भोगों की अभिलाषा से ही धारण करता है, **ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं** किन्तु शुद्धात्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मों के नाश करने में निमित्त होता है उस धर्म को नहीं मानता नहीं जानता आदि ॥२९३॥

विशेषार्थ—जैसे कि किसान अन्न को पृथ्वी पर डालता है वह इसलिए नहीं कि यह बेकार है अपितु वह उसे इसलिए डालता है कि ऐसा करने पर यह मुझे कई गुणा अधिक होकर फल देगा । इसी प्रकार अभव्य मुनि भी वर्तमान भोगों का त्याग करता है वह वैराग्य से नहीं, परन्तु मैं इन मानव उचित भोगों को छोड़ दूंगा तो मुझे स्वर्गीय दिव्यभोग प्राप्त होंगे, इसलिए करता है, शरीर से काय-क्लेशादि तप करता है वह भी इसलिए कि इस घिनावने शरीर को तप में लगा दूँगा तो मुझे विक्रियादि ऋद्धिवाला दिव्य शरीर मिलेगा अपितु इसलिए नहीं कि मैं अशरीरी बन जाऊँगा क्योंकि अशरीरी बन रहने का तो उसे महत्त्व ही मालूम नहीं है इसलिए उसका वह श्रद्धान, ज्ञान, आचरण ठीक न होकर मिथ्यादृष्टि ही रहता है ।

आगे प्रतिषेध्य जो व्यवहारनय व प्रतिषेधक जो निश्चयनय उसका क्या स्वरूप है सो बताते हैं :—

अर्थ—आचारांग आदि शास्त्र का पढ़ना ज्ञान है, जीवादि नव पदार्थों का मानना दर्शन है और छह

सद्धर्म धार उसको करते प्रतीति, श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना, ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥२९३॥
तत्त्वार्थ में रुचि हुई दृग हो वहीं से, सज्जान हो मनन आगम का सही से ।
चारित्र, पालन चराचर का सुहाता, संगीत ईदृश सदा व्यवहार गाता ॥२९४॥

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२९५॥ (युग्मम्)

आयारादी णाणं आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशाङ्गशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति । **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादिनवपदार्थः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति । **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति । एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति । **आदा खु मज्झ णाणे** स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति । **आदा मे दंसणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनंमम् भवति । **चरित्ते य** शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति । **आदा पच्चक्खाणे** शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्यप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति । **आदा मे संवरे** शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिबलेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन संवरो भवति । **जोगे** शुद्धात्मा शुभाशुभचिन्तानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोग भवतीति । शुद्धात्माश्रित-त्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः । एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितम् । तत्र निश्चयः प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति । कस्मादिति चेत् ? निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति, व्यवहारमोक्षमार्गे

काय के जीवों की रक्षा करना सो चारित्र है इस प्रकार व्यवहारनय कहता है । किन्तु वास्तव में मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर हैं और आत्मा ही योग है ऐसा निश्चयनय कहता है ॥२९४-२९५॥

टीका—आयारादी णाणं आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंग रूप जो शब्द शास्त्र हैं वे ज्ञान का आश्रय होने के कारण व्यवहार से सम्यग्ज्ञान हैं । **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादि स्वरूप नवपदार्थ जो श्रद्धान के विषय हैं वे ही सम्यक्त्व का आश्रय हैं निमित्त हैं इसलिए व्यवहार से वही सम्यक्त्व है । **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** छह काय के जीवों की रक्षा करना चारित्र का आश्रय होने से, कारण होने से व्यवहारनय से चारित्र है । इस प्रकार यह मोक्षमार्ग का स्वरूप हुआ । किन्तु **आदा खु मज्झ णाणे** अपनी शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है, निमित्त है इसलिये निश्चयनय से मेरी आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है । **आदा मे दंसणे** मेरी शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है, हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यग्दर्शन है । **चरित्ते य** मेरी शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है, हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यक्चारित्र है । **आदा पच्चक्खाणे** शुद्धात्मा ही, रागादि के परित्याग-स्वरूप जो प्रत्याख्यान उसका आश्रय है, कारण है इसलिए निश्चयनय से वही प्रत्याख्यान है । **आदा मे संवरे** शुद्धात्मा ही, स्वरूप की उपलब्धि के वश से हर्ष-विषादादि का न होना ही लक्षण जिसका ऐसे संवर का आश्रय होने से, निश्चयनय से वही संवर है । **जोगे** शुभ और अशुभरूप जो चिन्ता उसका निरोध करके रखना वही है लक्षण जिसका ऐसा परमध्यान शब्द से कहा जाने योग्य योग है उसका आश्रय होने से, हेतु होने से, शुद्धात्मा ही परमयोग है । इस प्रकार स्वशुद्धात्मा के ही आश्रय होने से यह निश्चय-मोक्षमार्ग है ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार व्यवहार-मोक्षमार्ग व निश्चय-मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा ।

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो मैं ।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का, है पाक मात्र सुख, है दुख वासना का, ॥२९५॥

स्थितानां तु भवति न भवति च । कथं भवति न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति । यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति । तदपि कस्मात्? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति अनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यतः कारणात् । यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति । यस्य पुनः पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं मिथ्यादृष्टिरसौ । तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थः । किं च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः । एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट्सूत्रैः पञ्चमं स्थलं गतम् ॥२९४-२९५॥

वहाँ निश्चय-मोक्षमार्ग तो प्रतिषेधक है और व्यवहार-मोक्षमार्ग [निश्चय मोक्षमार्ग से] प्रतिषेध्य है । क्योंकि जो निश्चय-मोक्षमार्ग में स्थित हैं उनको नियम से मोक्ष होता है किन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित होने वालों को मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता है । क्योंकि यदि मिथ्यात्व आदि [तीन मिथ्यात्व की और चार अनन्तानुबन्धी की] सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से शुद्धात्मा को उपादेय मानकर वह व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है तब तो मोक्ष होता है और यदि उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशमादि के न होने पर शुद्धात्मा को उपादेय न मानकर ही वह व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुआ है तो उसके फिर कभी मोक्ष नहीं हो सकता है सो उसके मोक्ष नहीं होने का यही कारण है कि उसमें मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिभाव न होने से जो अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा है उसकी उपादेयता वहाँ नहीं होती । हाँ, जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय मानता है उसका विश्वास करता है अर्थात् जो कोई रागद्वेष मिटाना चाहे तो मिटाकर सदा के लिए वीतराग रूप बन सकता है; तो उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशमादि भी अवश्य होता है वह भव्य जीव होता है । किन्तु जो पूर्वोक्त शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं मानता उस पर विश्वास नहीं रखता, तो उसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादि भी नहीं है एवं वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा समझना चाहिये । अभव्यजीव भी वही होता है जिसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिक न है और न हो सकेगा, यह भावार्थ है । हाँ, यहाँ यह बात है कि निश्चय-मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प-समाधि रूप है त्रिगुप्तिरूप मोक्षमार्ग में स्थित होने पर प्रवृत्तिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग छोड़ दिया जाता है उसका भी अर्थ यह है कि निश्चय-मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प-समाधिरूप है इस त्रिगुप्तिरूप मोक्षमार्ग में स्थित होने पर प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्षमार्ग स्वयं नहीं रहता यह इन गाथाओं का तात्पर्य है । इस प्रकार निश्चयनय से व्यवहार के प्रतिषेधरूप कथन की मुख्यता से छह सूत्रों से पंचम स्थल पूर्ण हुआ ॥२९४–२९५॥

विशेषार्थ – मोक्ष शब्द का अर्थ छोड़ देना–त्याग कर देना होता है । उसका मार्ग अर्थात् त्याग करने का उपाय आचार्य श्री ने निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार कहा है । बाह्य सर्व वस्तुओं का त्याग कर आत्मा को ही मानना, उसे ही जानना, और उसी में ही तल्लीन होना, यह तो निश्चय-मोक्षमार्ग है जो कि एक ही प्रकार का है उसमें भेद नहीं है । जीवादि

ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बन्धो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतम् ।।२९८-२९९।।

अथ रागादयः किल कर्मबन्धकारणं भणिताः, तेषां पुनः किं कारणं ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

जह फलिहमणिविसुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।३००।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।३०१।।(युग्मम्)

यथा स्फटिकमणिविशुद्धो बहिरुपाधिं विना स्वयं रागादिभावेन न परिणमति पश्चात् स एव रज्यते। कैः ? जपापुष्पादिबहिर्भूतान्यद्रव्यैरिति दृष्टान्तो गतः। एवमनेन दृष्टान्तेन ज्ञानी शुद्धो भवन् स्वयं निरुपाधिचिच्चमत्कार-स्वभावेन कृत्वा जपापुष्पस्थानीयकर्मोदयरूपपरोपाधिं विना रागादिविभावैर्न परिणमति पश्चात्सहजस्वस्थभावच्युतः सन् स एव रज्यते। कैः ? अन्यैः कर्मोदयनिमित्तैः रागादिदोषैः परिणामैरिति, तेन ज्ञायते कर्मोदयजनिता रागादयो न च ज्ञानिजीवजनिता इति दार्ष्टान्तो गतः ।।३००-३०१।।

एवं चिदानन्दैकलक्षणं स्वस्वभावं जानन् ज्ञानी रागादीन्न करोति ततो नवतररागाद्युत्पत्तिकारणभूतकर्मणां

अर्थात्—त्रिकाल संबंधी कार्यों से मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनारूप नव कोटितया जो दूर है ऐसा जीव भी दूसरों के सुख-दुःख का निमित्त लेकर यदि कर्म-बांधता होवे तब तो किसी को भी मुक्ति नहीं हो सकेगी। अतः जो ज्ञानी जीव हैं अर्थात् जो आत्म-समाधि में लीन हैं उनके आहार ग्रहण करने से होने वाला बंध भी नहीं होता [क्योंकि वे उस प्रपंच से ही दूर हैं]। ऐसा व्याख्यान वाली चार गाथाओं से यह छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ ।।२९८-२९९।।

अब यह बताते हैं कि जिन रागादिभावों से आत्मा को बन्ध होता है वे, रागादि विकारी भाव कैसे बनते हैं ?—

अर्थ व टीका—जैसे स्फटिकमणि जो कि निर्मल होता है वह किसी बाहरी लगाव के बिना अपने आप ही लाल आदि रूप परिणमन नहीं करता है किन्तु जपा-पुष्पादि बाह्य दूसरे-दूसरे द्रव्य के द्वारा वह लाल आदि बनता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी उपाधि से रहित अपने चिच्चमत्कार रूप स्वभाव से वह शुद्ध ही होता है जो कि जपा-पुष्प स्थानीय कर्मोदयरूप-उपाधि के बिना रागादिरूप विभावों के रूप में परिणमन नहीं करता है। हाँ, जब कर्मोदय से होने वाले रागादिरूप-दोषभावों से अपनी सहज स्वच्छता से च्युत होता है तब वह रागी बनता है। इससे यह बात मान लेनी पड़ती है कि जो रागादिक हैं वे सब कर्मोदय जनित हैं किन्तु ज्ञानी जीव के स्वयं के भाव नहीं हैं ।।३००-३०१।।

इस प्रकार चिदानन्द ही है एक लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वभाव को जानता हुआ [अनुभव करता हुआ] ज्ञानी जीव रागादि नहीं करता है इसलिये वह नूतन-रागादि की उत्पत्ति

ज्योतिर्मयी स्फटिक शुभ्रमणी सुहाती, आत्मीयता तज स्वयं न विरूप पाती ।
पै पार्श्व में मृदुल फूल गुलाब होती, आश्चर्य क्या फिर भला मणि लाल होती ।।३००।।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति निरा निहाला, होता स्वयं नहिं कदापि विकार वाला ।
मोहादि के वश कभी प्रतिकूलता में, रंजायमान बनता निज भूलना में ।।३०१।।

कर्ता न भवन्तीति कथयति—

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ।।३०२।।

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोषरहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावान् वा । कथं न करोति ? **सयं** स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं विना । कस्य संबंधित्वेन ? **अप्पणो** आत्मनः । **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति ।।३०२।।

के कारणभूत-कर्मों का कर्त्ता भी नहीं होता ऐसा आगे बतलाते हैं—

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने आप में रागद्वेष और मोह भाव को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को नहीं करता है इसलिए वह उन भावों का करने वाला नहीं होता है ।।३०२।।

टीका--णवि रागदोषमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा रागादि दोषों से रहित जो शुद्धात्मा उसके स्वभाव से पृथक् रहने वाले राग-द्वेष-मोहभावों को तथा किसी भी प्रकार के कषायभाव को क्रोधादि रूप परिणाम को ज्ञानी जीव नहीं करता क्योंकि वह **सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** कर्मोदय रूप सहकारी कारण के बिना अपने-आप ही अपने उन विकार भावों का कर्त्ता शुद्ध भाव के द्वारा नहीं हो सकता ।।३०२।।

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य श्री ने ३००–३०२ गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाव है स्वभाव को छोड़कर विभाव रूप में परिणमन करने वाला है किन्तु वह अपने आप विभाव रूप कभी परिणमन नहीं करता । हाँ, जब कर्मोदयात्मक पर-द्रव्यों का संयोग पाता है तभी विभाव रूप में परिणमन करता है । जैसे कि स्फटिक मणि श्वेत होता है वह लाल-पीला आदि भी बनता है फिर भी श्वेत स्वच्छ तो अपने आप होता है किन्तु लाल-पीला आदि तो वह डांक का सम्बन्ध पावे तब ही बनता है । आत्मा की भी ऐसी ही बात है । ज्ञानी इसको भली प्रकार जानता है इसलिये वह सब विकल्पों से दूर हटकर अपने आप, आत्मस्वरूप में तल्लीन रहता है, अब उसके लिए बाह्य निमित्त तो कोई रहा नहीं फिर अपने आप रागद्वेष-मोहरूप व कषायभाव करे तो कैसे करे ? इसलिये ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार के कषायभाव का करने वाला नहीं होता अर्थात् उसकी आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता ।

शंका- हमने तो सुना है कि ज्ञानी जीव अनन्तानुबंधी कषाय नहीं करता है इतर कषाय होने पर भी उसके ज्ञानीपन में कोई भी बाधा नहीं आती है ।

समाधान--यहाँ पर तो आचार्य महाराज ने ऐसी कोई छटनी नहीं की है अपितु यहाँ तो स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञानी तो वह है जो किसी भी प्रकार की कषाय नहीं करता और यह कहना ठीक भी है क्योंकि ज्ञानी को बंध इष्ट नहीं होता । क्योंकि सभी प्रकार के कषायभाव से बंध होता है अतः ज्ञानी को फिर कोई भी कषाय कैसे इष्ट हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो

सम्मोह राग करते नहिं रोष, ज्ञानी, होते प्रभावित नहीं पर से अमानी ।
कर्त्ता अतः नहिं कषाय उपाधियों के, साधू उपास्य जब हैं हम प्राणियों के ।।३०२।।

अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणोवि ॥३०३॥

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्थभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवन्ति । **तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणोवि** कैः कृत्वा? रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ॥३०३॥

तमेवार्थं दृढयति—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
ते मम दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥३०४॥

सकती ! जैसा कि आत्मख्याति के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है—'ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततस्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तेवेति नियमः' अर्थात् ज्ञानी निर्विकल्परूप अपने शुद्ध स्वभाव से नहीं चिगता इसलिये रागद्वेषमोहादि भावों से न तो अपने आप परिणमन करता है और न कोई दूसरा भी उसे उन विकारी भावों से परिणमा सकता है। क्योंकि वह तो टांकी से उकीरे हुए भाव जैसा है, सदा एकसा रहता है, एक अटल ज्ञायकभावमय बना रहता है इसलिए वह रागद्वेषमोहादि भावों का अकर्त्ता होता है ऐसा नियम है।

जब यह जीव शुद्धस्वभावरूप आत्मा को नहीं जानता हुआ अज्ञानी होता है तब रागादिकों को करने लगता है तो वह उनसे रागादिकों को पैदा करने वाले नवीन-कर्मों का कर्त्ता बनता है ऐसा बताते हैं—

अर्थ—हाँ, रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूप में परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बाँधने लग जाता है ॥३०३॥

टीका—रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा रागद्वेषादि कषायरूप-द्रव्यकर्म के उदय में आने पर अपने सहज भाव से चिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि भाव अर्थात् विकारी परिणाम होते हैं, **तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणोवि** उनसे मैं रागादिरूप हूँ इस प्रकार के अभेद को लिए हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेषरूप होता हुआ वह फिर से भावी रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्यकर्मों का बंध करने लग जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिकों का कर्ता बनता है ॥३०३॥

इसी बात को आगे की गाथा से दृढ़ करते हैं—

अर्थ—रागद्वेष आदि कषायरूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है ॥३०४॥

क्रोधादियों विकृतभाव-प्रणालियों में, मोही उदीरित कुकार्मिक-नालियों में ।
होता प्रवाहित तभी निज-भूल जाता, है कर्म कीच फसता प्रतिकूल जाता ॥३०३॥
अज्ञान की कलुष-राग तरंग माला, काषायिकी परिणती भव दुःख-शाला ।
भावी नवीन विधिबंधन हेतु होती, आत्मा सबंध बनता, मिट जाय ज्योति ॥३०४॥

पूर्वगाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तम्। अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो राग इति संबंधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेषः? किं च विस्तरः-यत्र मोहरागद्वेषा व्याख्यायन्ते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोहः, मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यं ,रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः। अत्राह शिष्यः मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति-कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषाङ्गौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागाङ्गौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञाचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पञ्चनोकषायाः रागाङ्गा रागोत्पादकत्वात् अरतिशोकभयजुगुप्सासंज्ञाद्वेषाङ्गा द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते रागद्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवं कबर्मन्धकारणं रागादयः, रागदीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो, न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ॥३०४॥

अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

अप्पडिक्कमणं दुविहं अप्पच्चक्खाण तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०५॥

टीका—इससे पहली गाथा में तो मैं स्वयं रागादिरूप हूँ इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न करने वाले उन नवीन-द्रव्यकर्मों का बन्ध करता है ऐसा बतलाया गया है, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव "यह रागभाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ सम्बन्ध करता है इतनी विशेषता है। हाँ, यहाँ पर यह बात जान लेने की है कि जहाँ पर रागद्वेष और मोह ये तीनों शब्द एक साथ आवें वहाँ पर मोह शब्द से दर्शनमोह जो कि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिये और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्रमोह को समझना चाहिये। यहाँ शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादिजनक दर्शनमोह लिया जाये यह ठीक ही है, इसमें दोष नहीं है किन्तु रागद्वेष शब्द से चारित्रमोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषायवेदनीय नाम वाले चारित्रमोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अंग हैं और माया और लोभ ये दोनों रागजनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नोकषायवेदनीय नामक चारित्रमोह में स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति ये पाँच नोकषाय रागोत्पादक होने से राग में तथा शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारों नोकषायें द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में, इस प्रकार मोह शब्द से दर्शनमोह-मिथ्यात्व और रागद्वेष शब्द से चारित्रमोह, ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिये। इस प्रकार कर्मबंध के कारण रागादिभाव हैं और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस सातवें स्थल में पाँच गाथायें कही गयीं ॥३०४॥

अब सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि-विकारी भावों का अकर्त्ता कैसे है? सो बताते हैं—

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है और अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है। इस प्रकार आगम के उपदेश से

होता द्विधा परम पाप अप्रत्यख्यान, हे भव्य दो क्रमण-अप्रति ही सुजान।
माना गया इसलिये मुनि वीतरागी, है कर्म का वह अकारक संग-त्यागी ॥३०५॥

अप्पडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि ।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०६॥

जाव ण पच्चक्खाणं अप्पडिक्कमणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वं ॥३०७॥

अप्पडिक्कमणं दुविहं अप्पच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं भाविरागादिविषयाकाङ्क्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं । **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते । किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति । **अप्पडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति । **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** तदेव बन्धकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते ? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः । तद्विपरीतो ज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति । तमेवार्थं दृढ़यति—**जाव ण पच्चक्खाणं**

जान लेना चाहिये कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है । अप्रतिक्रमण द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है, इस प्रकार आगम के उपदेश से आत्मा कर्मों का अकर्ता कहा गया है । क्योंकि जब तक आत्मा द्रव्य और भावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक आत्मा कर्मों का करने वाला होता है ऐसा जानना चाहिये ॥३०५-३०७॥

टीका—**अप्पडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं** पूर्वकाल में अनुभव किये हुए विषयों का अनुभवन करने रूप रागादि का स्मरण करना सो अप्रतिक्रमण जा दो प्रकार का है । एवं आगामी काल में होने वाले रागादि के विषयों की आकांक्षा रूप जो अप्रत्याख्यान वह भी दो प्रकार का है । **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** इस प्रकार के परमागम के उपदेश से जाना जाता है कि आत्मा दोनों प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानों से रहित है इसलिये वह कर्मों का अकर्ता है । **अप्पडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि** द्रव्य और भाव के रूप में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी दो-दो प्रकार के हैं । **एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा** वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही तो बंध का कारण है ऐसा आगम का उपदेश है जिससे यह जान लिया जाता है कि द्रव्य और भावरूप जो अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान है उसमें परिणत होता हुआ आत्मा शुद्धात्मा की भावना से च्युत होता है वह अज्ञानी ही कर्मों का करने वाला होता है किन्तु उससे विपरीत स्वभाव वाला अर्थात् शुद्धात्मा की भावना में लीन रहता हुआ प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानमय जो ज्ञानी है वह बंध कारक नहीं होता है, इसी को दृढ़ता से

हैं द्रव्य-भावमय दोय अप्रत्यख्यान, एवं द्विधा क्रमण-अप्रति भी सुजान ।
ये निंद्य निंद्यतर निंद्यतमा रहे हैं, ज्ञानी इन्हें तज सदा निज में रहे हैं ॥३०६॥
आत्मा समाधिगिरि से गिर के सरागी, मानो इन्हें कर रहा मुनि दोष भागी ।
तो धूलि-धूसरित भू पर आ हुआ है, कर्माभिभूत बन के पर को छुआ है ॥३०७॥

यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति। **अप्पडिक्कमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति। **आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीवः। यदि स एव जीवः कर्ता भवति तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात्? इति चेत्, जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं? यदा स्वस्थभावच्युतः सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति। स्वस्थभावे पुनरकारकः इति भावार्थः। एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बन्धकारणं न च ज्ञानी जीवः इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम्। अत्र निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बन्धो भणितः स च हेयस्याशेषस्य नरकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयः। तस्य बन्धस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निरञ्जननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन

कहते हैं कि **जाव ण पच्चक्खाणं** जितने काल तक द्रव्य और भावस्वरूप प्रत्याख्यान जो कि विकार-रहित-स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह नहीं होता है **अप्पडिक्कमणं दु दव्वभावाणं कुव्वदि** और जितने काल तक द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण भी करता रहता है **आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो** तब तक परमसमाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो कि कर्मों का करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है—जीव की अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप परिणति ही कर्मों को करने वाली होती है। ज्ञानी जीव [जो कि नियम से उस परिणति से रहित होता है] कर्मों का करने वाला नहीं होता यह बात स्पष्ट है। यदि वह जीव ज्ञानी] कर्त्ता हो तो कर्त्तापन सदा बना रहे क्योंकि जीव जो कि ज्ञानस्वभाव वाला है सदा ही बना रहता है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान-रूप-भाव रागादि-विकल्प-भाव हैं अतः वे अनित्य हैं, क्योंकि वे स्वस्थभाव से च्युत हुए जीवों के ही होते हैं इसलिए सदा नहीं होते हैं। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि जब यह स्वस्थ-भाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के रूप में परिणत होता है उस समय में कर्मों का करने वाला होता है, और स्वस्थ-भाव में रहने पर फिर अकर्त्ता होता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार अज्ञानी जीव की परिणतिरूप जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है वही बन्ध का कारण है किन्तु ज्ञानी जीव बन्ध का कारण नहीं। इस कथन की मुख्यता से इस आठवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

अब निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय-प्रतिक्रमण और निश्चय-प्रत्याख्यान इन दोनों से रहित जो जीव हैं उनके बन्ध बताया गया है वह त्यागने योग्य है, सम्पूर्ण नरक आदि के दुःखों का कारण है इस लिये हेय है अतः उस बन्ध नाश के लिए जो भावना होती है उसे कह रहे हैं कि—मैं सहज-शुद्ध-ज्ञानानन्द-रूप एक-स्वभाव वाला हूँ, विकल्प रहित हूं, उदासीन हूं, निरंजन-जो निज-शुद्धात्मा उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान-रूप जो निश्चय-रत्नत्रय-स्वरूप-निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग-सहजानन्दरूप-सुख उसकी अनुभूति-मात्र ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसंवेदन के द्वारा संवेद्य है, जानने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है वह मैं हूँ, भरित

स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापार-भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म — ख्यातिपूजालाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः। शून्योऽहं जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरन्तरं भावना कर्तव्या ॥३०५-३०७॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि मिथ्यादृष्टिसद्दृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं, निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं, अव्रतव्रतानि पापपुण्यबन्धकारणानीत्यादिकथनेन गाथापञ्चदश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिण्डशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपञ्चकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बन्धकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पञ्चाशद्गाथाभिरष्टभिरन्तराधिकारैः अष्टमो बन्धाधिकारः समाप्तः ॥

अर्थात् संतृप्त अवस्था वाला हूँ, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं पंचेन्द्रियों के विषयों में होने वाला मन, वचन और काय का व्यापार तथा भावकर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्म, ख्याति लाभ, पूजा एवं देखे गये, सुने गये तथा अनुभव में लाए गये जो भोग उनकी आकांक्षा-रूप निदान-शल्य, माया-शल्य, और मिथ्या-शल्य इन तीनों शल्यों से रहित तथा और भी सब प्रकार के विभाव परिणामों से रहित हूँ, शून्य हूँ, तीन लोक और तीन काल में मन, वचन, काय और कृत कारित, अनुमोदना द्वारा शुद्ध-निश्चयनय से तो मैं ऐसा ही हूँ और ऐसे ही सब जीव हैं इस प्रकार की भावना निरन्तर करनी चाहिये ॥३०५–३०७॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभूति के लक्षण वाली श्री समयसार जी की तात्पर्य नाम की टीका के हिन्दी रूपान्तर में जैसा कि लिख आये हैं जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की व्याख्या में दश गाथायें, निश्चय हिंसा के कथन में सात गाथायें, निश्चय से रागादि विकल्प ही हिंसा है ऐसा कथन करने वाली छह गाथायें, अव्रत पाप बन्धक हैं तो व्रत पुण्यबन्धक इत्यादि कथन पन्द्रह गाथाओं में, निश्चयनय में स्थित होने पर व्यवहारनय छूट जाता है ऐसा कथन मुख्यता से छह गाथाओं में, पिण्डशुद्धि की मुख्यता से चार गाथाओं में, निश्चयनय से रागादिक हैं सो कर्म-जनित हैं यह कथन मुख्यता से पाँच गाथाओं में, निश्चयनय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण है यह कथन तीन गाथाओं में, इस प्रकार समुदाय से छप्पन गाथाओं में आठ अन्तर अधिकारों द्वारा यह आठवां बन्धाधिकार समाप्त हुआ।

मोक्षाधिकारः

तत्रैवं सति पात्रस्थानीयशुद्धात्मनः सकाशात्पृथग्भूत्वा शृङ्गारस्थानीयबन्धो निष्क्रान्तः। **अथ प्रविशति मोक्षः**। **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्य्यन्तं मोक्षपदार्थव्याख्यानं करोति तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनन्तरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसंक्षेपसूचनार्थं **बंधाणं च सहावं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं। अतः परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं **पण्णाए घित्तव्वो** इत्यादि सूत्रपञ्चकं। तदनन्तरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुम्भः सरागचारित्रस्यामृतकुम्भ इति युक्तिसूचनमुख्यत्वेन **तेयादी अवराहे** इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा–विशिष्टभेदज्ञानावष्टम्भेन बन्धात्मनो पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥३०८॥
जदि णवि कुव्वदि छेदं ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण[1]।
कालेण दु बहुगेणवि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥३०९॥

इस प्रकार पात्र के स्थान पर जो शुद्धात्मा है उसके पास में से शृंगार स्थानीय जो बंध है वह तो चला गया है। अब मोक्ष प्रवेश कर रहा है सो **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके बावीस गाथा पर्यंत मोक्ष-पदार्थ का व्याख्यान कर रहे हैं। वहाँ सबसे पहले सात गाथाओं में मोक्ष-पदार्थ का व्याख्यान है। तत्पश्चात् मोक्ष के कारणभूत भेद-विज्ञान की सूचना देने के लिये **बंधाणं च सहावं** इत्यादि चार गाथायें हैं। फिर उसी भेदविज्ञान का विशेष वर्णन करने के लिये **पण्णाए घित्तव्वो** इत्यादि पाँच गाथायें हैं। पश्चात् वीतरागचारित्र वाले जीव के लिये द्रव्य-प्रतिक्रमणादिक विषकुम्भ हैं किन्तु सरागचारित्र वाले के लिये वही अमृतकुम्भ हैं इस प्रकार की युक्ति की मुख्यता लेकर **'तेयादी अवराहे'** छह गाथायें हैं। इस प्रकार बावीस गाथाओं से चार स्थल वाले मोक्ष अधिकार की यह समुदाय पातनिका है।

यहाँ विशिष्ट भेदज्ञान के बल से बंध और आत्मा को पृथक् करना, मोक्ष है ऐसा बताते हैं–

अर्थ—जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ है तथा उस बंधन के तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है कि यह इतने दिन से है, फिर भी यदि उस बंधन का छेद नहीं करता है तो वह बंधन में पड़ा हुआ पुरुष बहुत काल हो जाने पर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता है। उसी प्रकार

मैं पाश से कस कसा करके कसा हूँ ? बंधानुभूति करता चिर से लसा हूँ।
यों बंध बंधफल बंधित गीत गाता, कोई मनो पुरुष है तुम को दिखाता ॥३०८॥
पै बंध को यदि नहीं वह छोड़ता है, हा ! जान बूझकर भी न हि तोड़ता है।
पाता न मुक्ति उस बंधन से कदापि, दुस्सह्य दुःख सहता चिर काल पापी ॥३०९॥

---

[1] बंधणवसो सं इति पाठः।

इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीयअणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुंचदि मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो[1] ॥३१०॥ (त्रिकलम्)

जह णाम इत्यादि । यथा कश्चित्पुरुषः बन्धनके चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बन्धस्य तीव्रमन्दस्वभावं जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता । जानन्नपि यदि बन्धच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबन्धविशेषेणामुच्यमानः सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टान्तो गतः । अथ इय **कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीयअणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि** एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नकर्मबन्धनानां प्रदेशं प्रकृतिं स्थितिं, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुच्यते । **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदान तज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थितः **सर्वान्** कर्मबन्धान् मुञ्चति । अथवा पाठान्तरं **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** मुच्यते कर्मणा यदि किं, **छिज्जदि** छिनत्ति । कान् ? सर्वबन्धान् । अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिबन्धपरिज्ञानमात्रेण संतुष्टास्ते प्रतिबोध्यन्ते । कथं ? इति चेत्, बन्धपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतरागचारित्ररहितानां स्वर्गादिसुखनिमित्तभूतः पुण्यबन्धो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टान्तगाथा गता । एतेन व्याख्यानेन कर्मबन्धप्रपञ्चरचनाविषये चिन्तामात्रपरिज्ञानेन सन्तुष्टा निराक्रियन्ते ॥३०८-३१०॥

कर्म के बंधनों की बात है, उनके भी प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग ये भेद हैं उनको जानता हुआ भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है । यदि रागादि को छोड़कर विशुद्ध होता है तो बंधन से छूट सकता है ॥३०८-३१०॥

टीका—**जह णाम** जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ उसके तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है । यह एक गाथा हुई । इस प्रकार से जानता हुआ भी यदि वह बंध को नहीं छेदता है तो उससे वह नहीं छूटता है एवं उस बन्धन से नहीं छूटता हुआ वह पुरुष चिरकाल तक भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है । दो गाथाओं में दृष्टांत हुआ । **इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीयअणुभागं जाणंतो वि ण मुंचदि** उसी प्रकार ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियों के भेद से नाना भेद वाले जो कर्मों के बन्धन हैं उनके प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्म से मुक्त नहीं होता है । **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** जब कि मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाता है तो अनन्तज्ञानादि गुणात्मक परमात्मा के स्वरूप में स्थित होता हुआ वह सभी कर्मों को छोड़ देता है उनसे रहित हो जाता है । इसका दूसरा पाठ यह है कि **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** हाँ, यदि उन सभी कर्मबन्धों को छेद डालता है तो कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है । इस कथन से आचार्यदेव ने जो प्रकृति स्थिति आदि रूप कर्म बन्ध के परिज्ञान मात्र से संतुष्ट हुए बैठे हैं [हमको कर्म बन्ध का ज्ञान तो है अतः हमें कुछ नहीं करना है क्योंकि ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है ऐसा बताया है] उनको समझाया है कि हे भाई ! स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतराग चारित्र से रहित जीवों के बन्ध के परिज्ञानमात्र से स्वर्गादिक के सुख का निमित्तभूत पुण्य बंध ही होता है मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार यह दार्ष्टान्त की गाथा हुई । इस कथन से उन लोगों का निराकरण किया है जो कर्मबन्ध प्रपंच की रचना बन्धोदयादिरूप के विषय में चिन्ता कर लेने रूप ज्ञान मात्र से संतुष्ट हुए बैठे हैं ॥३०८-३१०॥

त्यों कर्म कर्म-स्थिति, कर्म प्रदेश जाने, औ कर्म की प्रकृति औ अनुभाग माने ।
छोड़े न बंध यदि जान सराग होते, होते न मुक्त, मुनि मुक्त विराग होते ॥३१०॥

---

[1] सुद्धो इति पाठः ।

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥३११॥

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण **पावदि विमोक्खं** यथा कश्चित्पुरुषो बन्धनबद्धो बन्धं चिन्तयमानो मोक्षं न लभते । **तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं** तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धांश्चिन्तयमानः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते । किं च समस्तशुभाशुभबहिर्द्रव्यालम्बनरहितचिदानन्दैकशुद्धात्मावलम्बनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीवः बन्धप्रपञ्चरचनाचिन्तारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारणपुण्यबन्धं लभते न च मोक्षमिति भावार्थः ॥३११॥

अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

जह बंधे छित्तूणय बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥३१२॥
जह बंधे भित्तूणय बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे भित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥३१३॥

इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे बन्धन से बंधा हुआ कोई पुरुष बंधनों के विषय में विचार करने मात्र से बंधनमुक्त नहीं हो पाता है वैसे ही जीव भी कर्मबन्धनों के विषय में चिंतवन करने मात्र से उनसे मुक्त नहीं हो सकता है ॥३११॥

टीका—**जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं** जैसे बंधन से बँधा हुआ कोई भी पुरुष उसके विषय में विचार करने मात्र से ही बंधन-मुक्त नहीं हो जाता है । **तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं** उसी प्रकार जीव भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बंध के विषय का मात्र विचार करता हुआ ही स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका उस मोक्ष को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है । भावार्थ यह है कि समस्त शुभ और अशुभ बाह्य-द्रव्यों के आलम्बन से रहित चिदानंदैकरूप शुद्धात्मा के आलम्बनस्वरूप जो वीतराग-धर्म्यध्यान या शुक्ल ध्यान से रहित जीव, बंधप्रपञ्च की रचना की चिंतारूप सराग-धर्म्यध्यानस्वरूप-शुभोपयोग से, स्वर्गादि-सुख का कारणभूत पुण्यबंध प्राप्त करता है परन्तु मोक्ष नहीं पाता है ॥३११॥

इस पर प्रश्न होता है कि फिर मोक्ष कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं :—

अर्थ—जैसे बंधन से बंधा हुआ पुरुष उस बंधन को काटकर मुक्त होता है वैसे ही जीव भी कर्मबंध को

जो पाश बद्ध, बस बंधन चिंतता है, होता न मुक्त उससे वह अंधता है ।
तू कर्म बंध भर को यदि चिंतता है, होगा न मुक्त विधि से, मति मन्दता है ॥३११॥
जो पाश से कस बँधे यदि पाश तोड़े, तो पाश से झट विमुक्त नितान्त हो ले ।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१२॥
जो बंधबद्ध यदि बंधन भेद डाले, वो बन्ध से झट विमुक्ति सदैव पाले ।
तू कर्म बन्ध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१३॥

जह बंधे मुत्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपादि विमोक्खं ।।३१४।।

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं यथा बन्धनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबन्धं शृङ्खलाबन्धं काष्ठनिगलबन्धं वा कमपि बन्धं छित्वा कमपि भित्त्वा कमपि मुक्त्वा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानयुद्धेन बन्धं छित्त्वा द्विधा कृत्वा, भित्त्वा विदार्य, मुक्त्वा छोटयित्वा च निजशुद्धात्मोपलम्भस्वरूपं मोक्षं प्राप्नोतीति । अत्राह शिष्यः— प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते । कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते—सत्तावलोकनस्वरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते, परन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येवं न किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः—कथंचित्सविकल्पमपि च कथंचिन्निर्विकल्पं च । तद्यथा—यथा विषयानन्दरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि

काटकर, भेदकर, तोड़कर ही मोक्ष पा सकता है और प्रकार से नहीं ।।३१२-३१४।।

टीका— जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं जैसे बंधन में बँधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के बंध को, सांकल के बंध को, व काठ की बेड़ी के बंध को किसी को तोड़कर, किसीको फोड़कर एवं किसी को खोल कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से छुटकारा पाता है **तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्ख** उसी प्रकार यह जीव भी वीतराग एवं विकल्प रहित स्वसंवेदनज्ञान के बल से बंध को छेद कर, उसे दो रूप कर अर्थात् भिन्न-भिन्नकर, खोलकर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलंभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि इस प्राभृत ग्रन्थ में निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होता हुआ बताया गया है वह तो किसी भी प्रकार घटित नहीं होता है क्योंकि चक्षु आदि के द्वारा दर्शन होता है जो कि सत्तामात्र अवलोकन स्वरूप है उसे जैनमत में निर्विकल्प कहा है । हाँ, बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है, किन्तु वह भी उत्तर क्षण में विकल्प का जनक होता है परन्तु जैनमत में ज्ञान विकल्प का उत्पादक न होकर अपने स्वरूपसे ही सविकल्प तथा स्व पर प्रकाशक कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि जैनमत अनेकान्तात्मक है इसलिए उसमें ज्ञानको कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प कहा गया है । जैसे विषयानन्दरूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह सराग संवित्ति के विकल्प रूप है अतः सविकल्प होता है किन्तु वहीं पर शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी वहाँ पर उनकी मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहा जाता है । वैसे ही अपनी शुद्धात्मा की संवित्तिरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह भी स्वसंवित्तिरूप एक आकार से तो सविकल्प होता है फिर भी वहाँ पर बाह्य विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं उनके होनेपर भी उनकी वहाँ मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहते हैं। और जहाँ ईहापूर्वक

जो पाश से कस बँधा, यदि पाश छोड़े, तो पाश से झट विमुक्ति नितान्त पा ले ।
तू कर्म बँध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ।।३१४।।

भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धमिदं निर्विकल्पसंविकल्पस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृतः। एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम् ॥३१२-३१४॥

अथ किमयमेव मोक्षमार्ग ? इति चेत्—

बंधाणं च सहावं वियाणिदु अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदी ॥३१५॥

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं भावबन्धानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वा ? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पञ्चेन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति। न केवलं बन्धस्वभावं ज्ञात्वा। **अप्पणो सहावं च** अनन्तज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं च ज्ञात्वा। **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबन्धहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबन्धेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते। **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्मविमोक्षणं करोति ॥३१५॥

अथ केन कृत्वात्मबन्धो द्विधा भवति ? इति चेत्—

स्वसंवित्याकार जो अन्तर्मुख प्रतिभास होता है वहीं पर बहिर्विषयों के भी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं इसलिए वह स्व पर प्रकाशक भी होता है, यही निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान का तथा स्व पर प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान स्पष्ट सिद्ध है। इसीका आगम, अध्यात्म तर्क और शास्त्र के अनुसार विशेष व्याख्यान किया जावे तब तो बहुत विस्तार हो जावे सो इस अध्यात्म शास्त्र में नहीं किया गया है ॥३१२–३१४॥

इस प्रकार मोक्ष पदार्थ को संक्षेप सूचना करते हुए सात गाथाओं द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ। क्या यही मोक्ष का मार्ग है ? इसका समाधान करते हैं :–

अर्थ—बंध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर के जो पुरुष विरक्त होता है वही कर्मों को काट सकता है ॥३१५॥

टीका–**बंधाणं च सहावं वियाणिदु** भावबंध मिथ्यात्व और रागादिक हैं उनके स्वभाव को जानकर हेय-उपादेय के विषय में विपरीत मान्यता अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना] मिथ्यात्व कहलाता है। पंचेन्द्रियों के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर **अप्पणो सहावं च** केवल बंध स्वभाव को ही नहीं परन्तु आत्मा के अनन्त-ज्ञानादि स्वभाव को जानकर **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबंध के हेतुभूतमिथ्यात्व और रागादिरूप भावबंध है उनमें निर्विकल्प-समाधि के बल से रंजायमान नहीं होता **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** वह कर्मों का नाश करता है ॥३१५॥

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा और बन्ध को किस प्रकार भिन्न-भिन्न किया जाये ?

शुद्धात्म का परम निर्मल धर्म क्या है क्या बन्ध लक्षण विलक्षण कर्म क्या है।
यों जान, मान मतिमान प्रमाण द्वारा, छोड़े कुबन्ध, गहते शिवधाम द्वारा ॥३१५॥

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ।।३१६।।

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं यथा जीवस्तथा बन्धश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक् क्रियेते । काभ्यां कृत्वा ? सलक्षणस्वरूपाभ्यां निजकाभ्यां । **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ सन्तौ नानात्वमापन्नौ इति । तथाहि—जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, बन्धस्य लक्षणं मिथ्यात्व-रागादिकं, ताभ्यां पृथक् कृतौ । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव छेद्येव छुरिका वा एवेत्यर्थः । छिन्नौ सन्तौ नानात्वमापन्नौ ।।३१६।।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकारणे किं साध्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधोछेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ।।३१७।।

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं जीवबन्धौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां छिद्येते पूर्ववत् । ततश्छेदानन्तरं किं साध्यं ? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-

---

अर्थ—जीव और बन्ध इन दोनों को निश्चित अपने-अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनी से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये कि ये नानापन को प्राप्त हो जावें ।।३१६।।

टीका—जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं जैसे जीव और बंध ये दोनों अपने-अपने लक्षणों द्वारा पृथक् किये जाते हैं । **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** उसी प्रकार प्रज्ञारूपी छैनी है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा भिन्नता को प्राप्त हो जाते हैं । क्योंकि जीव का लक्षण शुद्धचैतन्य है और बंध का लक्षण मिथ्यात्व-रागादिक है उनके द्वारा भिन्न-भिन्न कर लिये जाते हैं । किससे पृथक् किये जाते हैं ? कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा वही है छेदने वाली छैनी उससे पृथक् किये जाते हैं । छिन्न-छिन्न होने पर वह नानापन को प्राप्त हो जाते हैं ।।३१६।।

आत्मा और बंध इन दोनों का पृथक्करण होने पर क्या सिद्धि होती है ?—

अर्थ—जीव और बंध इन दोनों को निश्चित अपने-अपने लक्षणों द्वारा इस प्रकार पृथक् करना कि बंध तो छेदकर भिन्न हो जाये और आत्मामात्र रह जाये, वह ग्रहण किया जाये ।।३१७।।

टीका—जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं जीव और बन्ध ये दोनों पूर्वोक्त अपने-अपने लक्षणों द्वारा ऊपर लिखे अनुसार पृथक् कर लिये जाते हैं उसका फल यह है कि **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञान और दर्शन ही है स्वभाव जिसका ऐसे परमात्मतत्त्व का समीचीन-श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चयरत्नत्रय, तत्त्वरूप जो भेदविज्ञान वही हुई छैनी उसके द्वारा मिथ्यात्व और रागादिरूप बन्ध वह तो छेद डाला जावे, शुद्धात्मा से पृथक् कर दिया जावे ।

ये जीव, बन्ध अपने अपने गुणों से, है भिन्न मोहवश एक हुए युगों से ।
है भिन्न-भिन्न कहती इनको, सुपैनी, तो एकमात्र वर बोधमयी सुछैनी ।।३१६।।
यों स्वीय स्वीय गुण लक्षण भेद द्वारा, तू भिन्न-भिन्न कर बंध निजात्म सारा ।
शुद्धात्म है समयसार-मयी सुधा पी, हे ! भव्य बन्ध विष पै मत पी कदापि ।।३१७।।

ज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बन्धश्छेत्तव्यः शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्यः। **सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो** वीतरागसहजपरमानन्दलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्रायः ॥३१७॥

इदमेवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बन्धपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति—

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥३१८॥

कह सो घिप्पदि अप्पा कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो त भवत्यमूर्त्तत्वात्', इति प्रश्नः ? **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते इत्युत्तरम्। कथं ? इति चेत् **जह पण्णाए विभत्तो** यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः रागादिभ्यः पृथक्कृतः। **तह पण्णाएव घित्तव्वो** तथैव प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृहीतव्यः निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवनीय इत्यर्थः। एवं सामान्यभेदज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथा चतुष्टयं गतम् ॥३१८॥

कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति विशेषेण पृच्छति।

सुद्धो अप्पा य घेतव्वो किन्तु वीतराग-सहज-परमानन्द है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सुख समरसी-भाव के द्वारा ग्रहण कर लिया जावे यही आत्मा तथा बन्ध को पृथक् करने का प्रयोजन है ॥३१७॥

आत्मा तथा बंध को पृथक् करने का प्रयोजन यह है कि बंध को त्याग कर शुद्धात्मा ग्रहण कर लिया जावे ऐसा आगे बताते हैं—

अर्थ—शिष्य पूछता है कि शुद्धात्मा कैसे ग्रहण किया जाता है तो उत्तर मिलता है कि प्रज्ञा के द्वारा ही वह ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा वह बंध से विभक्त किया गया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा वह ग्रहण के योग्य भी है ॥३१८॥

टीका - कह सो घिप्पदि अप्पा आत्मा तो अमूर्त है अतः वह दृष्टि का तो विषय नहीं है तब फिर वह कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** वह बुद्धि के द्वारा, भेदज्ञान के द्वारा ही, ग्रहणकिया जा सकता है। **जह पण्णाए विभत्तो** जैसे पूर्वसूत्र में प्रज्ञा के द्वारा ही वह विभक्त किया गया है रागादि से पृथक् किया गया है **तह पण्णाए व घित्तव्वो** उसी प्रकार प्रज्ञा से ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। तात्पर्य निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अनुभव करना चाहिए यह अर्थ है। इस प्रकार सामान्य से भेदज्ञान की मुख्यता में दूसरे स्थान से चार गाथायें पूर्ण हुई ॥३१८॥

इस आत्मा को प्रज्ञा से कैसे ग्रहण करना सो बताते हैं—

कैसा निजातम मिले यदि भावना हो, विज्ञान की सतत सादर साधना हो।
जाता किया पृथक् बन्धन से निजात्मा, विज्ञान से हि मिलता बनता महात्मा ॥३१८॥

---

[1] अस्मिन्नन्तराधिकारे मुद्रिताद्यनेकासु प्रतिषु आत्मख्याति सम्मिलिता, तात्पर्यवृत्तिपाठोऽयम्।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३१९॥

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो प्रज्ञया स्वसंवेदनज्ञानेन ग्राह्यः, परमसमरसीभावेनानुभवनीय इत्यर्थः । यश्चेतयिता शुद्धात्मा सोऽहं निश्चयेन । **अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेति णादव्वा** अवशेषा ये मिथ्यात्व-रागादिभावास्ते मम संबंधित्वेन पराः परस्वरूपा इति ज्ञातव्याः । परस्वरूपा इति कोऽर्थ ? अहं कर्त्ता, रागादिभ्यो भिन्नमात्मानं कर्मतापन्नं, आत्मना करणभूतेन, आत्मने निमित्तं, आत्मनः सकाशात्, आत्मनि स्थितं । एवं षट्कारक-विकल्परूपेण संचेतयमानश्चेतये सविकल्पावस्थायामिति । निर्विकल्पावस्थायां पुनस्समस्तक्रियाकारकविकल्परहितं चिन्मात्रमनुभव इत्यर्थः ॥३१९॥

अथ भेदभावनां विशुद्धदर्शनज्ञानसुखगुणेषु भिन्नरूपेण दर्शयति—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२०॥

अर्थ—जो चेतनावान् है सो नियम से मैं हूँ उसके सिवा जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से भिन्न हैं इस प्रकार विवेक बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये ॥३१९॥

टीका—पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जो ग्रहण करने योग्य है अर्थात् परमसमरसीभाव से अनुभव करने योग्य है, निश्चय से मैं वही चेतयिता-शुद्धात्मा हूँ । **अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा** मुझसे सम्बन्ध रखने वाले शेष जो मिथ्यात्व तथा रागादिभाव हैं वे परस्वरूप हैं, मेरे ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न विभाव भाव हैं । सविकल्प दशा में ऐसा अनुभव होता है कि मैं-कर्त्ता, रागादि से भिन्न आत्मारूपी कर्म को, आत्मारूपी करण के द्वारा, आत्मारूपी संप्रदान के लिये, आत्मारूपी अपादान से, आत्मारूपी अधिकरण में स्थित अनुभवता हूँ । अर्थात् षट् कारक रूप विकल्पजाल से अभिभूत हो आत्मा को कर्त्ता-कर्म आदिरूप अनुभवता हूँ और निर्विकल्प अवस्था में मैं क्रियाकारकरूप समस्त विकल्पों से रहित चैतन्य मात्र हूँ ऐसा अनुभव करने के योग्य है ।

विशेषार्थ—पराश्रितरूप आस्रवभाव से दूर होने के लिये पहले तो ज्ञानी-जीव कर्त्ता-कर्म आदि षट् कारकों को अपने-आप में ही घटित करता है फिर उस भेदभाव से भी दूर होकर अपने-आप अखण्डस्वरूप हो जाता है इसी बात को यहाँ बताया है ।

अब उसी भेदभावना को आत्मा के विशुद्धदर्शनज्ञान और सुखगुण में भिन्नरूप से दिखाते हैं—

अर्थ—विवेक बुद्धि के द्वारा अङ्गीकार करना कि नियम से जो देखने वाला है वह मैं हूँ किन्तु अवशेष जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से पर हैं । इसी प्रकार विवेक-बुद्धि के द्वारा यह भी स्वीकार करना कि जो ज्ञाता

संवेदनामय निजी वह चेतना "मैं", यों जान, लीन रहना निज चेतना में ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३१९॥
विज्ञान से विदित निश्चित शर्म दृष्टा, मैं ही रहा वह स्वयं निजधर्म स्रष्टा ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२०॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२१॥
[1]पण्णाए घित्तव्वो उवलद्धो जो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२२॥

प्रज्ञया स्वसंवेदनज्ञानेन यश्चेतयितात्मा ग्राह्यः प्राप्यः । कथंभूतः ? ज्ञाता द्रष्टा निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखोपलब्धिरूपश्च । सोऽहं निश्चयतः । अथ तेषां रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानन्दैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्याः । अत्राह शिष्यः—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदौ न स्तः, एकैव चेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति ? अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—सामान्यग्राहकं दर्शनं, विशेषग्राहकं ज्ञानं । सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु । सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात् । चेतनाया अभावे सति आत्मनो जडत्वं, चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति । न चात्मनो जडत्वं दृश्यते, न चाभावः प्रत्यक्षविरोधात् । ततः स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः ॥३२०-३२२॥

अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः न च रागादय इत्याख्याति—

है वह तो नियम से मैं हूँ, उसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सब मेरे नहीं हैं किन्तु मुझसे भिन्न है विवेक बुद्धि के द्वारा अङ्गीकार करना चाहिए कि जो सुख की उपलब्धि है वही मैं हूँ, अवशेष जितने भाव हैं वे मेरे नहीं हैं, मुझसे भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥३२०-३२२॥

टीका—प्रज्ञा-स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जो चेतन स्वरूप आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा और परमानन्द लक्षण वाले सुख से सहित अनुभव में आता है निश्चय से वही मैं हूँ शेष जो रागादिभावरूप विभावपरिणाम हैं वे चिदानन्द स्वभाव वाले मुझसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये । यहाँ शिष्य कहता है कि चेतना के ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना ऐसे दो भेद नहीं हैं एक ही चेतना है अतः ज्ञाता–द्रष्टा इस प्रकार दो भेद वाली आत्मा कैसे घटित होती है ? इस पूर्वपक्ष–शंकापक्ष का परिहार इस प्रकार है । सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है और विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है । वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसे यदि सामान्य विशेषात्मक न माना जावे तो चेतना का अभाव हो जावेगा । चेतना का अभाव होने पर आत्मा में जड़ता-अचेतनता आ जावेगी अथवा चेतना रूप विशेष गुण का अभाव होने से चेतना लक्षण वाली आत्मा का ही अभाव हो जावेगा । परन्तु आत्मा की न जड़ता दिखाई देती है और न उसका अभाव ही दिखायी देता है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष विरोध आता है । इससे सिद्ध है कि यद्यपि अभेदनय से चेतना एक रूप है तथापि सामान्य-विशेष रूप विषय भेद होने से वह दर्शन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की होती है ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ।

आगे बताते हैं कि शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाले परमात्मा का एक-शुद्ध-चैतन्यरूप एक ही भाव है, रागादिक नहीं है—

विज्ञान से विदित चेतन राम ज्ञाता, मैं ही रहा वह निजी गुण धाम धाता ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२१॥
विज्ञान से विदित चेतन धर्म वाला, मैं ही रहा वह मिला सुख-धर्म शाला ।
जो भी अचेतन-निकेतन शेष सारे, हैं हेय, ज्ञेय चिर से मुझसे निराले ॥३२२॥

---

[1] मुद्रिताद्यनेकाषु प्रतिषु नेयं किन्तु अत्रावश्यकं ।

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे परोदये[1] भावे ।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३२३॥

को णाम भणिज्ज बुहो को ब्रूयाद् बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् ? **मज्झमिणंति य वयणं** ममेति वचनं, किं कृत्वा पूर्वं ? **णादुं** निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? **सव्वे परोदये भावे** सर्वान् मिथ्यात्वरागादिभावान् विभावपरिणामान् । कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मनः सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्, कं ? आत्मानं । कथंभूतं ? शुद्धं, भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणेन भेदज्ञानेनेति । एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपञ्चकं गतम् ॥३२३॥

अथ मिथ्यात्वरागादिपरभावस्वीकारेण बध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्वभावस्वीकारेण मुच्यते जीव

अर्थ—वह कौन-सा ज्ञानी है जो उपर्युक्त एक चिन्मात्रभाव के सिवाय इन और सभी भावों को पर के जान कर भी तथा शुद्धात्मा को जानता हुआ भी इन सबको ये मेरे हैं ऐसा कहता रहे ? अर्थात् कोई भी नहीं हैं ॥३२३॥

टीका—को णाम भणिज्ज बुहो कौन ज्ञानी विवेकी बुद्धिमान ऐसा कहे ? कोई भी नहीं कहे **मज्झमिणंति य वयणं** कि ये सब मेरे हैं । क्या करके ? कि **णादुं** निर्मल आत्मा की अनुभूति वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानकर, किनको जानकर ? कि **सव्वे परोदये भावे** सभी मिथ्यात्व और रागादिरूप-विभावपरिणामों को जानकर । कैसे जानकर ? कि परोदयान् अर्थात् शुद्धात्मा से पृथक् जो कर्मोदय उससे ये सब पैदा हुए हैं ऐसा जानकर । क्या करता हुआ ? कि **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** परम-समरसीभाव के द्वारा जानता हुआ, अनुभव करता हुआ । किसको ? आत्मा को, कैसी आत्मा को ? भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रहित शुद्धात्मा को, किससे जानता हुआ ? कि शुद्धात्मा की भावना में परिणत जो अभेदरत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा जानता हुआ ॥३२३॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि शुद्धात्मा को जानता हुआ विद्वान जब सब बाह्य वस्तुओं को पर जान चुका है तब ये मेरी हैं इस प्रकार से नहीं बता सकता है । यदि बाह्य वस्तुओं को अपनी बताता है तो उसे अभी शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं हुआ है । अध्यात्म व आगम की बात तो दूर रहे किन्तु आम जनता में भी जो बुद्धिमान है वह पर के धनादि को अपना नहीं कहता है फिर एक सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा इन पर पदार्थों को अपना कहता रहे यह बात कभी बन नहीं सकती है अपितु पर पदार्थों को अपना कहने वाले का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नहीं है ।

इस प्रकार विशेष भेदभावना के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल में पाँच सूत्र कहे गये हैं ।

आगे प्रकाश करते हैं कि मिथ्यात्व व रागद्वेषादि पर भावों को अपना मानने से यह जीव कर्मों से बँधता है और वीतराग परम चैतन्य है लक्षण जिसका ऐसे स्वस्थ भाव को स्वीकार

साधू जिसे स्वपर बोध भला मिला है, सौभाग्य से दृग सरोज खुला खिला है ।
वो क्या कदापि परको अपना कहेगा, ज्ञानी न मूढ़ सम भूल कभी करेगा ॥३२३॥

---

[1] पराइए इति पाठः ।

इति प्रकाशयति—

तेयादी[1] अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि[2] ।
मा बज्झेऽहं केण वि चोरोत्ति जणह्मि विचरंतो ॥३२४॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कदावि ॥३२५॥
एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जो पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥३२६॥ (त्रिकलम्)

तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि यः स्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुषः सशङ्कितो भवति । केन रूपेण ? **मा बज्झेहं केणवि चोरोत्ति जणह्मि विचरंतो** जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना । किं कृत्वा ? चौर इति मत्वा । इत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । **जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि** यः स्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शङ्को जनपदे लोके भ्रमति । **णवि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि**

करने से मुक्त होता है—

अर्थ—जो पुरुष चोरी आदि अपराधों को करता है वह शंकाशील होकर भटकता फिरता है कि लोगों में घूमते हुए किसी के द्वारा बाँध न लिया जाऊँ । तथा जो अपराधों को नहीं करता है वह पुरुष जनपद में देश में निःशंक होकर घूमता है उसको बँध जाने की शंका कभी नहीं उपजती । इसी प्रकार मैं यदि अपराध सहित हूँ तो बँधूंगा ऐसी शंकायुक्त आत्मा होता है और यदि निपराध हूँ तो मैं निश्शंक कभी नहीं बँधूंगा इस प्रकार सोचकर ज्ञानी निर्द्वन्द होता है ॥३२४-३२६॥

टीका—तेयादी अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि जो पुरुष चोरी परदारगमनादि अपराधों का करने वाला है वह सशंकित रहता है । किस प्रकार से सशंक रहता है ? कि **मा बज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणह्मि विचरंतो** लोगों में विचरण करता हुआ मैं चोर समझा जाकर किसी कोटपाल आदि के द्वारा कभी बांध न लिया जाऊं । इस प्रकार यह अन्वयदृष्टांत की गाथा हुई । **जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि** किन्तु जो कोई चोरी आदि अपराध नहीं करता वह निश्शंक होता हुआ गाँव में लोगों के बीच में घूमता रहता है **ण वि तस्स**

ऐसा न हो कि मुझको कहिं मार देवे, तू चोर है कह मुझे जन बाँध देवे ।
ऐसा विचार करता नहिं ठीक सोता, चौर्यादि पापकर चोर सभीत होता ॥३२४॥
चौर्यादि कार्य करता नहिं है कदापि, निर्भीक हो विचरता जग में अपापी ।
होता जिसे कि भय भी अधगैल से है, चिंता उसे न फिर बंधन जेल से है ॥३२५॥
त्यों संग संकलनलीन असंयमी है, हो बंध भीति उसको कहते यमी है ।
साधू जिसे भय भला किस बात का है, है राग भी न जिसको निज गात का है ॥३२६॥

[1] थेयादी इति शुद्धपाठः । [2] भमदि इति पाठः ।

कदावि तस्य चिन्ता नोत्पद्यते कदाचिदपि अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिन्ता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा। एवं व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता। **एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्थभावच्युतः सन् सापराधो भवति। सापराधोऽत्र शङ्कितो भवति। केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मतापन्नो ज्ञानावरणादिकर्मणा। ततः कर्मबन्धभीतः प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणरूपं दण्डं ददाति। **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि** यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तविभावपरिणामरहितो भूत्वा निश्शङ्को भवति। केन रूपेण ? इति चेत्-रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदण्डं विनाप्यनन्तज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता ॥३२४-३२६॥

अथ को हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति—

संसिद्धिराधसिद्धो साधिदमाराधिदं च एयट्ठो।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥३२७॥

बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कदावि क्योंकि वह निरपराध है इसलिए उसके कभी कोई चिंता नहीं उपजती कि मैं चोर समझकर किसी के द्वारा बाँधा जा सकता हूँ ऐसा समझे हुए होता है। यह व्यतिरेक दृष्टांत हुआ। **एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** इसी प्रकार जो कोई जीव रागादि रूप परद्रव्यों को ग्रहण करता है स्वीकार करता है वह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अपराध युक्त होता है और अपराधयुक्त होने के कारण शंकाशील भी होता है। किस प्रकार शंकाशील होता है कि मैं ज्ञानावरणादि कर्म के द्वारा बाँधा जा रहा हूँ। इसलिये कर्म बन्ध के भय से प्रतिक्रमण व प्रायश्चितनाम दण्ड देता है अर्थात् उसे भोगता है। **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि** किन्तु जो निरपराध है वह तो देखे गये सुने गये और अनुभव में आये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त विभाव परिणामों से रहित होने के कारण निश्शंक होता है ? किस प्रकार निश्शंक होता है ? कि मैं तो रागादिरूप अपराध से रहित हूँ इसलिये मैं किसी भी कर्म से नहीं बँध सकता हूँ इसलिये वह प्रतिक्रमणादिरूप दंड-विधान के बिना भी अनन्त ज्ञानादि रूप निर्दोष परमात्मा की भावना के द्वारा ही शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह अन्वय-व्यतिरेक रूप दार्ष्टान्ति गाथा हुई ॥३२४–३२६॥

विशेषार्थ––यहाँ यह स्पष्ट बताया है कि जो मुनि आत्म-आराधनारूप समाधि में स्थित है उसे प्रतिक्रमणादि की चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह तो अपने-आप में है, निरपराध है। प्रतिक्रमणादिक का दण्ड विधान तो उनके लिये विधेय है जो कि अपराधवान् हैं। हाँ, जब उसका उपयोग समाधि से उचट कर बाह्य बातों की ओर है तब अपराधवान् है अर्थात् प्रमादवान् है अतः प्रमाद के प्रति विधानरूप दण्ड के रूप में यथासमय यथारीति प्रतिक्रमणादि नहीं करता है तो वह अपराधी ही नहीं किन्तु महा-अपराधी है। संयमी न होकर असंयमी है।

आगे अपराध शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं––

अर्थ—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाचक हैं इसलिये जो आत्मा राध से

संसिद्धि राध अरु साधित सिद्ध सारे, आराधिता वचन आशय एक धारे।
आराधिता रहित आतम ही कहाता, है दोष-धाम अपराधक पाप पाता ॥३२७॥

संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते, संसिद्धिः सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो** अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवाभेदेन भवत्यपराधः अथवा अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन वर्तते यः स सापराधः, चेतयितात्मा तद्विपरीतः त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति। अथ हे भगवन् किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात् ? इति चेत्, सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधविनाशकत्वेनामृतकुम्भत्वात् इति। तथा चोक्तं चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे—'अपडिक्कमणं अपडिसरणं अपडिहारो अधारणा चेव। अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो। पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥३२७॥

रहित हो वह आत्मा, अपराध होता है ॥३२७॥

टीका—संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो तीनकाल में होने वाले मिथ्यात्व, विषय-कषायादि परिणाम से रहित होने के द्वारा निर्विकल्प-समाधि में स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का आराधन सेवन, वह राध कहलाता है; संसिद्धि, सिद्धि, साधित तथा आराधित ये शब्द उस राध के पर्यायवाची नाम हैं। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो** अपगत अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा का आराधन जिस पुरुष का, वह पुरुष ही अभेद विवक्षासे सापराध ठहरता है। अथवा अपगत है अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना जिसके वह रागादि-विभाव परिणाम वही अपराध है और उस सहित जो है वह सापराध है। किन्तु उससे विपरीत जो आत्मा त्रिगुप्तिरूप-समाधि में स्थित होता है वह निरपराध है। इस पर शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! शुद्धात्मा की आराधना के प्रयास का क्या प्रयोजन है, जब कि प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान से ही आत्मा निरपराध हो जाता है ? अपराधी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं वे दोष शब्द का वाच्य जो अपराध उसके नष्ट न करने वाले होने से विषकुंभ स्वरूप कहे जाते हैं और जो प्रतिक्रमणादिक हैं व दोष शब्द के वाच्य अपराध का नाश करने वाले होने से अमृत कुंभ स्वरूप कहे जाते हैं। जैसा कि पुराने प्रायश्चित् नाम के ग्रंथ में कहा गया है--

अपडिक्कमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥

जो पुण णिरवराधो चेदा णिस्संकिओ दु सो होदि।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥१॥

अर्थ जो आत्मा निरपराध होता हुआ निःशंकित होता है वह अपने-आपको जानता हुआ नित्य ही आत्माराधना करता है ॥१॥

निश्चित हो निडर हो निज को निहारे, निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे।
आराधना स्वयम् की करते सुहाते, ना तो स्वयं न पर को डरते डराते ॥१॥

अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥३२८॥
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही अमयकुंभो ॥३२९॥

पडिकमणमित्यादि। पडिकमणं प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणं। **पडिसरणं** प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं। **पडिहरणं** प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं। **धारणा** पञ्चनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमन्त्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा। **णियत्तीय** बहिरङ्गविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः। **णिंदा** आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निन्दा। **गरुहा** गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा। **सोही** दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः। इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुम्भो भवति। तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप-

---

पडिकमणं परिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥३२७॥

अब आचार्य महाराज इस शंका का निवारण करते हैं —

अर्थ—[समाधिस्थ ज्ञानी के लिये] प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार तो विष कुंभ है क्योंकि इसमें कर्तापन की बुद्धि होती है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा, और अशुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार ये अमृतकुंभ हैं क्योंकि यहाँ कर्तापन को छोड़कर आत्मतल्लीनता पर जोर दिया है अतः ज्ञानी को निर्बन्धपने के लिये यह उपयोगी पड़ता है ॥३२८-३२९॥

टीका—पडिकमणमित्यादि। **पडिकमणं**—किये हुए दोषों का निराकरण करना, **पडिसरणं**—सम्यक्त्वादि गुणों में प्रवृत्त होना, **पडिहरणं**—मिथ्यात्व तथा रागादि दोषों का निवारण करना, **धारणा** पंचनमस्कार आदि मंत्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य-द्रव्यों के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना, **णियत्तीय**—बहिरंग-विषयकषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना, **निंदा**—अपने आपकी साक्षी से दोषों का प्रकट करना, **गरुहा**—गुरुकी साक्षी से दोषों को प्रकट करना, **सोहीय**—कोई भी प्रकार का दोष हो जाने पर प्रायश्चित लेकर उसका शोधन करना। इन आठ शुभविकल्पों वाला शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि-विषय-कषायपरिणतिरूप-अशुभोपयोग की अपेक्षा तो विकल्पसहित सरागचारित्र की अवस्था में तो अमृतकुंभ ही है। तो भी जो अवस्था राग-द्वेष और मोहभाव तथा ख्याति, पूजा, लाभ व देखे हुये, सुने हुये और

निंदा निवृत्ति परिहार सुधारणाएँ, गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ।
पीयूष कुम्भ तब ही मुनिमत्त होते, शुद्धोपयोग जब हो विषकुंभ होते ॥३२८॥
आठों अनिंदन अशुद्धि अधारणादिपीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो। एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो ॥३२९॥

निदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनविभावपरिणामशून्या, चिदानन्दैकस्वभावविशुद्धात्मालम्बनभरितावस्था निर्विकल्प-शुद्धोपयोगलक्षणा। **अपडिकमणं** इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानिजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुम्भ एवेत्यर्थः। किं च विशेषः—अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति। ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं। तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं। कस्मात्? इति चेत्, समस्तशुभाशुभास्रवदोषनिराकरणरूपत्वादिति। ततः स्थितं तदेव निश्चयप्रतिक्रमणम्। व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति। व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवञ्चनार्थं करोति तदपि परम्परया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुखनिमित्तपुण्यकारणमेव यत्पुनरज्ञानिजनसम्बन्धिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणति-रूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव। एवं प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूपः शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्थायाम-

---

अनुभूति में आये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षारूप-निदानबंध इत्यादि समस्त परद्रव्यों के आलंबन से होने वाले सब ही प्रकार के विभाव परिणामों से शून्य है तथा जो चिदानंदैक स्वभाववाले विशुद्ध-आत्मा के आलंबन से भरी और निर्विकल्परूप-शुद्धोपयोग लक्षण वाली अवस्था है एवं जो "**अप्पडिकमणं** इत्यादि" गाथा में कहे हुये क्रम से ज्ञानीजनों के द्वारा आश्रय करने योग्य जो निश्चय-प्रतिक्रमणादि रूप जो तीसरी अवस्था है उसकी अपेक्षा लिये हुये जो वीतरागचारित्र में स्थित हो रहे हैं उन लोगों के लिये तो उपर्युक्त द्रव्य-प्रतिक्रमणादि विषकुंभ ही हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक तो ज्ञानीजनों के आश्रयरूप दूसरा अज्ञानी लोगों के द्वारा आश्रित। उसमें अज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय-कषाय की परिणतिरूप होता है किन्तु ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानस्वरूप त्रिगुप्तिमय होता है। वह ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सरागचारित्र है लक्षण जिसका ऐसे शुभोपयोग की अपेक्षा तो अप्रतिक्रमण कहा जाता है किन्तु वीतरागचारित्र की अपेक्षा उसी का नाम निश्चय-प्रतिक्रमण है क्योंकि वही शुभ और अशुभ आस्रवरूप दोष के निराकरण रूप होता है इसलिये यही निश्चय-प्रतिक्रमण है। यह व्यवहार-प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द के द्वारा कहा जाकर भी ज्ञानीजनों के लिये मोक्ष का कारण होता है। व्यवहार-प्रतिक्रमण यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर निश्चय-प्रतिक्रमण का साधक होने से विषय-कषायों से बचने के लिये करता है तो वह परम्परा से मोक्ष का कारण होता है अन्यथा वह स्वर्गादि के सुख का निमित्तभूत पुण्य का ही कारण होता है। अज्ञानीजन संबंधी अप्रतिक्रमण तो मिथ्यात्व और विषय कषायों को परिणति रूप होने से नरकादि के दुःख का ही कारण है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण आदि अष्ट विकल्प रूप शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में

मृतकुम्भो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूपसंयमापेक्षया विषकुम्भ एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाषट्कम् गतम् ।।३२८-३२९।।

तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवद्रागादिरहितशान्तरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशतिगाथाभिश्चतुर्भिरन्तराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

अमृत कुंभ होता है तो भी सुख-दुःख आदि में समताभावमय परमोपेक्षारूप-संयम की अपेक्षा से तो वह विषकुंभ ही है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चतुर्थ स्थल में छह गाथायें हुईं ।।३२८--३२९।।

वहाँ इस प्रकार शृंगार रहित पात्र के समान रागादिरहित शान्तरस में परिणत शुद्धात्मा के रूप में मोक्ष भी यहाँ से चला गया ।

इति श्री **जयसेनाचार्य** की बनाई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली श्री **समयसार** की **तात्पर्यवृत्ति** नाम की टीका के हिन्दी अनुवाद में बाईस गाथाओं द्वारा चार अन्तराधिकारों में यह नवम मोक्ष नाम का अधिकार समाप्त हुआ ।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

[मोक्षपदार्थचूलिका १]

अथ प्रविशति **सर्वविशुद्धं ज्ञानं**। संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्व-भोक्तृत्वबन्धमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबन्धमोक्षादिकारणभूतपरिणामशून्य एवेति। **दवियं जं उप्पज्जदि** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यन्तं मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्र-चतुष्टयम्। तदनन्तरं शुद्धस्यापि यद्ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिः बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थं **चेदा दु पयडियट्ठं** इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयम्। अतः परं निश्चयेन भोक्तृत्वाभावज्ञापनार्थं **अण्णाणी कम्मफलं** इत्यादि-सूत्रचतुष्टयं। तदनन्तरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण **णवि कुणदि** इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका।

अथ निश्चयेन कर्मणां कर्ता न भवति इत्याख्याति—

दवियं जं उपज्जदि गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कड़यादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३३०॥

अब यहाँ 'सर्वविशुद्धज्ञान' प्रवेश करता है। वहाँ संसार पर्याय का आश्रय लेकर यह जीव अशुद्ध–उपादानरूप अशुद्धनिश्चयनय से यद्यपि कर्तापन, भोक्तापन एवं बन्ध और मोक्षादि परिणाम सहित है तो भी सर्वविशुद्ध-पारिणामिकरूप–परमभाव का ग्राहक जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय है जो कि शुद्ध उपादान रूप है उससे कर्त्तापन, भोक्तापन, बन्ध या मोक्ष आदि कारणभूत परिणामों के रहित है। इसलिये **दवियं जं उपज्जदि** इत्यादि गाथा को आदि लेकर १४ गाथाओं पर्यन्त मोक्षपदार्थ की चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहाँ सर्वप्रथम कर्म–कर्त्तापन के भाव की मुख्यता से चार गाथायें कही हैं। उसके पश्चात् ऐसा कथन करने के लिये कि शुद्ध के भी जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बंध होता है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है इसे कहने के लिये **चेदा दु पयडियट्ठं** इत्यादि चार प्राकृत श्लोक हैं। तत्पश्चात् निश्चय से भोक्तापन का अभाव बताने के लिये **अण्णाणी कम्मफलं** इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पश्चात् मोक्ष चूलिका का उपसंहार करते हुये **ण वि कुणदि** इत्यादि दो सूत्र हैं। इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की चूलिका की यह समुदाय पातनिका है।

अब यहाँ कहते हैं कि निश्चय से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है :–

अर्थ—जो द्रव्य अपने गुणों से उपजता है वह उन गुणों से कभी अन्य अर्थात् भिन्न नहीं होता ऐसा हे भव्य ! तू जान। जैसे स्वर्ण अपने कड़े आदि पर्यायों से इस लोक में अन्य नहीं है कड़ा आदि ही है। इसी प्रकार

होते अनन्य अपने-अपने गुणों से, उत्पद्यमान सब द्रव्य युगों-युगों से।
ज्यों पीलिमा व मृदुता तजता न सोना, लो कुण्डलादिमय ही लसता सलोना ॥३३०॥

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३३१॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण सो होदि ॥३३२॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥३३३॥ (चतुष्कम्)

यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्यदभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति । कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्यं तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता । **जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते** जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामाः पर्याया देशिताः कथिताः सूत्रे परमागमे तैःसह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टान्तेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यादभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता । यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनितः तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्यं न भवति । न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति । तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति,

---

सूत्र में जो जीव और अजीव के परिणाम कहे हैं, उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य समझो अर्थात् जिस द्रव्य के जो परिणाम हैं वे उस द्रव्य स्वरूप ही हैं । अब जब आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न ही हुआ है इसलिये वह किसी का किया हुआ कार्य नहीं है और न किसी अन्य को उत्पन्न भी करता है इसलिये यह किसी का कारण भी नहीं है । क्योंकि कर्म का आश्रय लेकर तो कर्ता होता है और कर्त्ता का आश्रय लेकर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है । अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती है ॥३३०-३३३॥

टीका—जैसे स्वर्ण यहाँ पर अपनी कटकादि पर्यायों से अनन्य अर्थात् भिन्न नहीं है वैसे ही द्रव्य भी जो उत्पन्न होता है, परिणमन करता है, वह अपने गुणों के साथ अनन्य अर्थात् अभिन्नरूप से ही उत्पन्न होता है यह पहली गाथा हुई । **जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते** जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य के भी परिणाम या पर्याय जो सूत्ररूप परमागम में बताये हैं, उपर्युक्त दृष्टांत के अनुसार उन परिणामों के साथ यह जीव या अजीवद्रव्य अनन्य–अभिन्न ही होता है ऐसा हे भव्य ! तुम समझो यह दूसरी गाथा हुई । क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव नरनारकादि विभाव पर्यायों के रूप में पैदा नहीं हुआ अर्थात् कर्मों के द्वारा आत्मा पैदा नहीं हुआ है इसलिये आत्मा कर्म और नोकर्मों का कार्य नहीं है । वैसे ही आत्मा उपादान के रूप में किसी भी कर्म और नोकर्म को भी उत्पन्न नहीं करता है इसलिये

वो जीव लक्षण अनन्य स्वचेतना है, है जीव जीवित तभी जिनदेशना है ।
एवं अजीव अपने गुण पर्ययों से, जीते त्रिकाल चिरसे निज लक्षणों से ॥३३१॥
उत्पन्न जो न परकीय पदार्थ से है, आत्मा अतः न परकार्य यथार्थ से है ।
उत्पन्न भी कर रहा परको नहीं है, आत्मा अतः कि पर कारण भी नहीं है ॥३३२॥
कर्त्ता हमें विदित हो लख कर्म को है, कर्त्ता लखो कि अनुमानित कर्म ही है ।
कर्त्ता व कर्म इनकी विधि बोलती है, ऐसी कहीं न मिलती दृग खोलती है ॥३३३॥

यतः कर्मणां कर्ता मोचकश्च न भवति ततः कारणाद् बन्धमोक्षयोः शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता। **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जत्ते णियमा** यतः पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुण्डल-परिणामेनैव सह जीवपुद्गलयोः स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं। पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणां नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीवः कर्मकर्ता। तथा कर्माणि चोत्पद्यन्ते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् संदेहो नास्ति। **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थः ? परस्परनिमित्तभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये सिद्धिर्निष्पत्ति-र्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते ततःस्थितं शुद्धनिश्चनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता। एवं निश्चयेन जीवः कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ॥३३०-३३३॥

अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद् बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति—

कर्म और नोकर्मों का कारण भी वह नहीं है। क्योंकि आत्मा कर्मों का कर्ता भी नहीं है तो मोचक भी नहीं है इसलिये आत्मा शुद्धनिश्चयनय से बन्ध और मोक्ष दोनों का ही कर्त्ता नहीं है। यह तीसरी गाथा का अर्थ हुआ। **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंति य णियमा** जैसा कि पहले कहा है कि स्वर्ण का कुण्डलादि रूप परिणाम के साथ में अभिन्न संबंध है वैसे ही जीव और पुद्गल का भी अपने परिणामों के साथ अभिन्नपना है। और कर्तारूप कर्म और नोकर्म के द्वारा जीव पैदा नहीं किया जाता है वैसे ही कर्म और नोकर्म को जीव पैदा नहीं करता है। इस पर से यह जाना जाता है कि कर्म को प्रतीति में लाकर उपचार से जीव कर्म का कर्त्ता होता है तथा जीव को कर्त्तारूप में आश्रय करके उपचार से कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है, निश्चय है इसमें संदेह नहीं है। **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** इस प्रकार परस्पर के निमित्तभाव को छोड़कर शुद्ध-उपादानरूप से शुद्ध निश्चयनय से जीव के कर्म-कर्तापने के विषय में सिद्धी नहीं होती है अर्थात् बात घटित होती नहीं देखी जाती, तथा कर्म-वर्गणा-योग्य-पुद्गलों को भी कर्मपना और प्रकार से नहीं देखा जाता। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धनिश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है यह चौथी गाथा हुई। इस प्रकार निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता के प्रथम स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ॥३३०-३३३॥

विशेषार्थ—निश्चयनय तादात्म्य-सम्बन्ध को लेकर वर्णन करता है उसकी दृष्टि में संयोग-सम्बन्ध गौण होता है। ज्ञानावरणादि कर्म और आत्मा का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह संयोग सम्बन्ध है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि में वह नहीं है। अतः निश्चयनय की दृष्टि में कर्म नहीं है और उनका कर्ता नहीं है अपितु इस दृष्टि में तो आत्मा का स्वयं का परिणाम ही उनका कर्म है और आत्मा उनका कर्ता है, क्योंकि उसका उसी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

ज्ञानावरणादि-कर्मप्रकृतियों का आत्मा के साथ जो बंध है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा बताते हैं—

चेदा दु पयडियट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।
पयडीवि चेदयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।।३३४।।
एवं बंधो दु दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ।।३३५।।(युग्मम्)

चेदा आत्मा स्वस्थभावच्युतः सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते विनश्यति च विभावपरिणामैः पर्यायैः । प्रकृतिरपि चेतयितृकार्यं जीवसंबन्धिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैः उत्पद्यते विनश्यति च । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बन्धो जायते द्वयो—स्वस्थभावच्युतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिण्डरूपाया ज्ञानावरणादिप्रकृतेश्च । कथंभूतयोर्द्वयोः ? अन्योन्यप्रत्यययोः, परस्परनिमित्तकारणभूतयोः । एवं रागाद्यज्ञानभावेन बन्धो भवति तेन च बन्धेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपतः इत्युक्तं भवति ।।३३४-३३५।।

अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुञ्चति तावत्कालमज्ञानी

अर्थ—चेतयिता आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों के निमित्त से उपजता है और नाश को प्राप्त होता है । प्रकृति भी इस चेतने वाले आत्मा के लिये उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से उसी प्रकार परिणमती है । इस प्रकार दोनों आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बंध होता है और उस बंध से संसार उत्पन्न होता है ।।३३४-३३५।।

टीका– स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा प्रकृति के निमित्त से अर्थात् कर्मोदय का निमित्त पाकर अपने विभावपरिणामों से उत्पन्न भी होता है और नाश को प्राप्त होता है । प्रकृति भी इस चेतयिता के लिये जीव सम्बन्धी रागादि परिणामों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादिरूप कर्मपर्यायों के द्वारा उपजती है और नाश को प्राप्त होती है । इस प्रकार स्वस्थभाव से च्युत आत्मा का और कर्मवर्गणायोग्य–पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि-प्रकृति का भी पूर्वोक्त रीति से बंध होता है । उनका बन्ध कैसे होता है ? जैसा कि अन्योन्यरूप से एक दूसरे में परस्पर-निमित्तकारणरूप वालों का बन्ध होता है इस प्रकार रागादिरूप अज्ञानभाव से बन्ध होता है और उस बन्ध से संसार होता है । तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप से बन्ध नहीं होता है ।।३३४-३३५।।

विशेषार्थ– आचार्य देव ने बतलाया है कि परमार्थ से तो आत्मा के और प्रकृति के कर्ता–कर्मपने का अभाव है तो भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप से कर्ता-कर्मपना भी है जिससे बन्ध है एवं उसी से संसार है ।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की संवित्ति से च्युत हुआ जीव जब तक प्रकृति के अर्थ अर्थात् कर्मोदय से होने वाले रागादिभाव को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी रहता है किन्तु

आत्मा विमोहवश ही निज को विसारा, उत्पन्न हो विनशता अघभाव द्वारा ।
रागादिमान इस चेतन का सहारा- ले कर्म भी उपजता मिटता विचारा ।।३३४।।
एवं परस्पर निमित्त बने सकाम, रागी व कर्म बँधते बनते गुलाम ।
संसार का तब प्रवाह अबाध भाता, रागादि भाव मिटता भवनाश पाता ।।३३५।।

स्यात् तदेभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति—

जा एस पयडीयट्ठं चेदा णेव विमुंचदे ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ।।३३६।।
जदा विमुंचदे चेदा कम्मफलमणंतयं ।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी ।।३३७।। (युग्मम्)

यावत्कालमेष चेतयिता जीवः, चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुञ्चति, तावत्कालं रागादिरूपमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथाभूतः सन् मोक्षं न लभते । यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानन्तं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुञ्चति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् लाभान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। ततः सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति संयतो मुनिश्च भवति । तथाभूतः सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति । एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादि-

---

उन रागादि के अभाव में ज्ञानी होता है ।

अर्थ—यह जीव जब तक उपर्युक्त प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाली रागादिरूप परिणति को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञायक रहता है, मिथ्यादृष्टि तथा असंयत होता है । जब यह आत्मा अनंत भेद वाले कर्म के फल को छोड़ देता है, उसे नहीं भोगता है, उस समय बंध से रहित होता हुआ ज्ञाता, दृष्टा और संयमी होता है ।।३३६-३३७।।

टीका—जब तक यह चेतन स्वभाववाला जीव चिदानन्द एक स्वभाव है जिसका ऐसे परमात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के अभाव से प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय रूप रागादिक को नहीं छोड़ता है तब तक आत्मा को रागादिरूप ही मानता है, रागादिरूप ही जानता है, और रागादिरूप ही अनुभवता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असंयत होता है इस प्रकार होता हुआ वह मोक्ष को नहीं पाता है । किन्तु जब वही चेतयिता शक्ति रूप से अनन्त विशेष भेदवाले मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मफल को सर्व प्रकार से छोड़ देता है उस समय शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव जो आत्म-तत्त्व उसका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सद्भाव होने से मिथ्यात्व और रागादि से भिन्न आत्मा को मानने, जानने और अनुभव करने लगता है तब वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और संयत मुनि होता है । ऐसा होता हुआ विशेष प्रकार से वह द्रव्य और भाव रूप से होने वाली मूल और उत्तर प्रकृति के नाश से मुक्त हो जाता है । यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से देखें तो आत्मा कर्त्ता नहीं है फिर भी अनादि कालीन कर्मबंध के वश से मिथ्यात्व

मोहादि से यदि प्रभावित हो रहा है, आत्मा अरे स्वयम् के प्रति सो रहा है ।
मिथ्यात्व मंडित असंयत है कहाता, अज्ञानजन्य दुःख की वह गंध पाता ।।३३६।।
होता न लीन उदयागत कर्म में है, ज्ञानी वही निरत आतम धर्म में है ।
शीघ्रातिशीघ्र मुनि केवल ज्ञान-दर्शी, होता विमुक्त भव से शिव सौख्य-स्पर्शी ।।३३७।।

कर्मबन्धवशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ।।३३६-३३७।।

अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्वभावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञानस्वभावत्वात्, इति कथयति–

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ।।३३८।।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-रूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवति । **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** ज्ञानी पुनः तन्मयो पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ।।३३८।।

और रागादि रूप अज्ञान भाव के द्वारा कर्मबंध करता ही है। इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य बतलाने के लिये चार गाथायें कहीं गई ।।३३६–३३७।।

आगे यह बतलाते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से कर्मफल को भोगते रहना जीव का स्वभाव नहीं है क्योंकि वह तो अज्ञान भाव है––

अर्थ—अज्ञानी [प्रमादी] जीव कर्म के फल को प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता हुआ भोगता है परन्तु ज्ञानी [प्रमाद रहित] जीव उदय में आये हुए कर्म के फल को जानता मात्र है भोगता नहीं है ।।३३८।।

टीका––अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभाव वाले आत्मतत्त्व के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप अभेद-रत्नत्रयस्वरूप-भेदज्ञान के न होने से [न रहने से] अज्ञानी जीव उदय में आए हुए कर्मप्रकृति के स्वभाव में अर्थात् सुख-दुःख स्वरूप में स्थित होकर हर्ष-विषादमय होकर उस कर्म के फल को वेदता है, अनुभव करता है। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** और ज्ञानी तो पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से वीतराग-सहज-परमानन्दस्वरूप-सुखरस के आस्वादन द्वारा परम-समरसीभावरूप में परिणत होता हुआ, उदय में आये हुए फल को वस्तु का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार जानता ही है। किन्तु हर्ष-विषादमय होकर उसे वेदता अर्थात् भोगता नहीं है।३३८।।

विशेषार्थ –ज्ञानी उदय में आये हुए कर्मफल को जानता है किन्तु अज्ञानी उसे वेदता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जानना और वेदना दोनों का अर्थ यदि एक है तो फिर अन्तर क्या है ? उत्तर यह है कि अमुक वस्तु घडी आदि है, यह तो जानना हुआ पर इसमें अच्छे बुरेपन की मान्यता या विचार आना यह उसका वेदना या भोगना कहलाता है। अज्ञानी जीव राग-द्वेषवान् होता है अतः वह जिस वस्तु को भी देखता-जानता है उसे अच्छी या बुरी मानकर उसमें हर्ष-विषाद कर बैठता है एवं नूतन-कर्मबंध करता हुआ संसार में फंसा ही रहता है। किन्तु ज्ञानी-विरागीजीव प्रसंगप्राप्त वस्तु को देखता-जानता मात्र है पर अच्छा-बुरापन न मानकर हर्ष-विषाद नहीं करता अतः नूतन-कर्मबंध नहीं करता, यही अन्तर है।

मक्खी बना मुदित मानस हो मलों में, है मूर्ख मूढ़ रमता विधि के फलों में ।
साक्षी बना, न विधि के फल भोगता है, ज्ञानी वशी न तजता निज योगता है ।।३३८।।

अथ ज्ञानी जीवः सापराधः सशङ्कितः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानी स कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति—

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥३३९॥

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निश्शङ्को भवति । निश्शङ्को भूत्वा किं करोति ? **आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो** निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते । किं कुर्वन् ? अनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसीभावेन चानुभवति इति ॥३३९॥

अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति—

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥३४०॥

अज्ञानी जीव अपराधी होता है इसलिये वह सशंकित होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है किन्तु जो निरपराध ज्ञानी [समाधिस्थ] होता है वह कर्मोदय होने पर क्या करता है ? सो बताते हैं—

अर्थ—जो अपराध रहित आत्मा होता है वह निश्शंक होता है वह अपने आपको जानता अनुभव करता हुआ निरन्तर आराधना में ही तत्पर होता है ॥३३९॥

टीका—जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि जो चेतयिता ज्ञानी जीव निरपराध होता हुआ परमात्मा के आराधन में निश्शंक होता है । वह निश्शंक होकर क्या करता है ? कि **आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो** निर्दोष परमात्मा की आराधना तत्स्वरूप जो निश्चय-आराधना उससे युक्त होकर निरन्तर सदा काल रहता है । क्या करता हुआ रहता है कि मैं अनन्त-ज्ञानादि स्वरूप हूं इस प्रकार विचार करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शुद्ध आत्मा को अच्छी प्रकार से जानता हुआ, वह परम समरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव करता रहता है ॥३३९॥

अब यहाँ बताते हैं कि अज्ञानी जीव नियम से कर्मों का वेदक ही होता है—

अर्थ—शास्त्रों को अच्छी प्रकार पढ़ करके भी अभव्य जीव कर्मोदय के स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् उसकी प्रकृति नहीं बदलती जैसे गुड़ सहित दूध को पीते हुये भी सर्प निर्विष नहीं होते हैं ॥३४०॥

निश्चित हो निडर हो निज को निहारें, निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे ।
आराधना स्वयम् की करते सुहाते, न तो स्वयं, न पर को डरते डराते ॥३३९॥
हे भव्य ! पूर्ण पढ़ भी जिन-दिव्य वाणी, त्यागे अभव्यपन को न अभव्य प्राणी ।
मिश्री मिला पय पिलाकर हा अही भी, क्या कालकूट तजता जग में कभी भी ? ॥३४०॥

कर्मबन्धं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति ॥३४२॥

अथ तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति—

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३४३॥

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायःपिण्डवदनुभवरूपेण न वेदयति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठान्तरं **दिट्ठी खयंपि णाणं** तस्य व्याख्यानं—न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि । तथाभूतः सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च कौ ? बन्धमोक्षौ । न केवलं बन्धमोक्षौ **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाक-रूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति । एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबन्धमोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं समुदायपातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतम् । पुनरपि गाथा-

---

पुण्य को व इससे अन्य विपरीत असातावेदनीय आदि रूप पाप को भी जानता है ॥३४२॥

अब इसी कर्तृत्व व भोक्तृत्व के अभाव का दृष्टांत पूर्वक समर्थन करते हैं—

अर्थ—जैसे चक्षु देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उसका कर्ता तथा भोक्ता नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञान भी बंध, मोक्ष, कर्मों के उदय तथा कर्मों की निर्जरा को जानता ही है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता ॥३४३॥

टीका—दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव जैसे चक्षु अग्निरूप दृष्य को देखता है किन्तु जलाने वाले पुरुष के समान वह उसे जलाता नहीं है, तथा तप्तायमान लोहपिंड के समान वह उसे अनुभवरूप से वेदता भोक्ता भी नहीं है । वैसे ही शुद्धज्ञान भी अथवा अभेदविवक्षा से शुद्धज्ञान में परिणत हुआ जीव भी शुद्ध-उपादान रूप से [अन्य द्रव्यों को] न करता ही है और न वेदता ही है—अनुभवता ही है । अथवा दूसरा पाठ यह है **दिट्ठी खयंपि णाण** इसका अर्थ यह है कि केवल दृष्टि ही नहीं किन्तु क्षायिकज्ञान भी निश्चयरूप से कर्मों का नहीं करने वाला और नहीं वेदनेवाला—अनुभवनेवाला होता है । ऐसा होता हुआ वह क्या करता है ? **जाणदि य बंधमोक्खं** बंध और मोक्ष को जानता है । केवल बंध-मोक्ष को ही नहीं किन्तु **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूप-कर्म के उदय को, तथा सविपाक-अविपाकरूप अथवा सकाम और अकामरूप से होने वाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है । इस प्रकार शुद्धपारिणामिकरूप-परमभाव का ग्राहक एवं जो उपादान स्वरूप है ऐसे शुद्धद्रव्यार्थिकनय के द्वारा कर्तापन, भोक्तापन, बंध, मोक्षादि के कारणभूत परिणाम से रहित यह जीव है ऐसा सूचित किया है । इस प्रकार समुदाय पातनिका में पीछे की चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तापनगुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया है । फिर चार गाथाओं में यह बताया है कि निश्चयसे शुद्ध-जीवके भी जो कर्मप्रकृतियों का बंध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य का

दृष्टा बने युगल लोचन देखते हैं, ना दृश्य-स्पर्श करते न हि हर्षते हैं ।
ज्ञानी अकारक अवेदक जानता है, त्यों बन्ध मोक्ष विधि को तज मानता है ॥३४२॥

चतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्व-बन्धमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ॥३४३॥

इति श्रीजयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबन्धिनी चतुर्दशगाथाभिश्चतुर्भिरन्तराधिकारैश्चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः।

किं च विशेषः—औपशमिकादिपञ्चभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिक-क्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मपदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वशक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु। बन्धमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथम-शुद्धमिति चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः

विशेषरूप से वर्णन किया है। फिर चार गाथाओं में जीव के अभोक्तापन के गुण का व्याख्यान मुख्यता से है; इस प्रकार कर्तापन-बंध-मोक्षादि का कारणभूत परिणाम का निषेध १२ गाथाओं में हुआ है जो कि शुद्धनिश्चयनय से किया गया है उसी का उपसंहार दो गाथाओं में हुआ है॥३४३॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्य नामकी श्री समयसारजी की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में मोक्षाधिकार से सम्बन्ध रखने वाली यह चूलिका समाप्त हुई। अथवा दूसरे व्याख्यान के द्वारा मोक्ष अधिकार समाप्त हुआ।

अब यहाँ पर विचार किया जाता है कि जीव के औपशमिक आदि पाँच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है। सो वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव तो पर्यायरूप हैं और एक शुद्धपारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्पर अपेक्षा लिये द्रव्य-पर्याय रूप है। वहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व तीन प्रकार का पारिणामिक भाव है। उसमें भी शक्ति लक्षणरूप शुद्धजीवत्व-पारिणामिकभाव है, वही शुद्धद्रव्यार्थिकनय का आश्रय होने से निरावरण शुद्धपारिणामिकभाव है नाम जिसका ऐसा जानना चाहिये, जो कि बंध और मोक्षरूप पर्याय की परिणति से रहित है। और दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये सब पर्यायार्थिकनय के आश्रय होने से अशुद्धपारिणामिक नाम वाले हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि अशुद्धपारिणामिक क्यों है? इसका उत्तर यह है कि दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इन तीनों का सिद्धों में तो सर्वथा अभाव है, किन्तु संसारी जीवों में भी शुद्धनिश्चयनय से अभाव है। वहाँ इन तीनों में से भव्यत्व लक्षणवाला पारिणामिक भाव है उसका तो पर्यायार्थिकनय से मोहादिक कर्मसामान्य आच्छादक है जो देशघाती और सर्वघाती नाम वाला है एवं सम्यक्त्वादि जीव के गुणों का घातक है ऐसा समझना चाहिये। वहाँ जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्वशक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज-शुद्धपारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे

सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति । तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते । स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात् । शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति । यद्येकान्तेनशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति; न च तथा । ततः स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः । यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति । अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते । तथा चोक्तं सिद्धान्ते–निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः । निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बन्धकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति । मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति । ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् । तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं–णवि उपज्जइ णवि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ । जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ । किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं

निज-परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में परिणमन करता है उसी ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशिक, और क्षायिकभाव इन तीनों नामों से कहा जाता है । वही अध्यात्मभाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम कहलाता है जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप नाम से कहते हैं । वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय भी शुद्धपारिणामिकभाव है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न रूप होती है क्योंकि वह भावनारूप होता है । किन्तु शुद्धपारिणामिक भाव भावनारूप नहीं होता है । यदि इस भावनारूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावनारूप परिणाम का तो, मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है तब उसके नाश हो जाने पर शुद्धपारिणामिकभाव का भी नाश हो जाना चाहिये ? सो ऐसा है नहीं । इसलिये यह निश्चित है कि शुद्धपारिणामिकभाव के विषय में जो भावना है उसरूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावों से रहित होने से शुद्ध-उपादान के कारणरूप हैं इसलिये मोक्ष के कारण होते हैं, किन्तु शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है । हाँ, जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्धपारिणामिकरूप पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु यहाँ पर तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है, ऐसा ही सिद्धान्त में लिखा हुआ कि 'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव तो निष्क्रिय होता है । निष्क्रिय कहने का भी क्या अर्थ है ? रागादिमय-परिणति वाली एवं बंधकी कारणभूत क्रिया से रहित है तथा मोक्ष की कारणभूत जो क्रिया, शुद्धस्वरूप की भावनारूप परिणति है उससे भी रहित है । इससे यह जाना जाता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं है क्योंकि विनाशशील है । जैसा कि योगीन्द्रदेव ने भी अपने परमात्मप्रकाश में लिखाहै —

'णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ । जिउ परमत्थे जोइया जिणवर-एउ भणेइ ।' अर्थात्—हे योगी ! सुन, परमार्थदृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उपजता है, न मरता है, न बंध ही करता है, न मोक्ष ही प्राप्त करता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा में ली हुई एकदेशशुद्धनय के आश्रित होने वाली भावना

भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकाज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खण्डज्ञानरूपमिति भावार्थः। इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः।

निर्विकार-स्वसंवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान से पृथक्पने के कारण यद्यपि एकदेश-व्यक्तिरूप है फिर भी ध्यान करने वाला पुरुष यही भावना करता है कि जो सभी प्रकार के आवरणों से रहित अखंड-एकप्रत्यक्ष-प्रतिभासमय तथा नाशरहित और शुद्धपारिणामिक लक्षणवाला निजपरमात्माद्रव्य है वही मैं हूं अपितु खंडज्ञानरूप मैं नहीं हूं, यह सब व्याख्यान यहाँ परस्पर की अपेक्षा को लिये हुये हैं जो आगम और अध्यात्मनय इन दोनों का विरोध नहीं करने से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विवेकी ज्ञानियों को समझना चाहिये।

विशेषार्थ– टीकाकारने यहाँ बतलाया है कि काल आदि लब्धि के बल से इस जीव को भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तभी यह जीव अपने परमात्मद्रव्य का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान करने रूप में परिणमन करता है। उस परिणमन को ही आगम भाषा में औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव नाम से कहा जाता है व अध्यात्मभाषा में वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम स्वरूप शुद्धोपयोग नाम पाता है। टीकाकार के उल्लेख से चतुर्थगुणस्थान में ही शुद्धोपयोग हो जाना सिद्ध होता है क्योंकि वहाँ दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम, या उपशम हो जाता है, तो फिर क्या चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग मान लेना चाहिये क्योंकि तज्जन्य औपशमिकादिक भाव भी उस गुणस्थान में होते ही हैं ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ इस अध्यात्मशास्त्र में दर्शनमोह, व चारित्रमोह को पृथक्-पृथक् न लेकर मोह नाम भूल का लिया गया है। फिर वह भूल चाहे दर्शन संबंधी हो, या चारित्र सम्बन्धी हो, भूल तो भूल ही है। इस प्रकार वह भूल जिसके उपयोग में न हो वही सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी यहाँ पर लिया गया है और जैसा स्वयं टीकाकार श्री जयसेनाचार्यने भी अनेक स्थलों पर बतलाया है कि यहाँ पर पंचम-गुणस्थान से ऊपर वाले को ही सम्यग्दृष्टि शब्द से लिया गया है अर्थात् चारित्र सहित सम्यग्दृष्टि को ही यहाँ पर सम्यग्दृष्टि माना गया है। अथवा वीतरागसम्यग्दृष्टि को ही यहाँ सम्यग्दृष्टि लिया है एवं उसका औपशमकादिकभाव शुद्धोपयोग है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवाले का औपशमिक-भाव और बारहवें गुणस्थानवाले का क्षायिकभाव। ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे वाले मुनि का क्षयोपशमिकभाव शुद्धोपयोग है यह कहना भी ठीक ही है। वह शुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है—एक तो शुद्ध धर्म ध्यानात्मक जो कि सप्तमगुणस्थानवर्ती मुनि को होता है और दूसरा शुक्ल-ध्यानात्मक शुद्धोपयोग जो कि आठवें आदि गुणस्थानों में होता है। सातवें गुणस्थान से नीचे वाले मुनि के भी ध्यान को वास्तविक धर्मध्यान न कहकर यहाँ पर शुभसंकल्प-विकल्पात्मक होने से औपचारिक धर्मध्यान नामसे या प्रशस्त आर्त्तध्यान के नाम से लिया गया है जो कि औदयिक भावरूप हुआ करता है और इसीलिये आचार्यदेव ने उसे छोड़ देने का बार-बार उपदेश किया है।

---

[1] मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनि स्वामिनौ मतौ। अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥ ज्ञानार्णव २५

[समयसारचूलिका २]

अतः परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चयव्यवहारनयविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं **लोगस्स कुणदि विण्हू** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकाव्याख्यानं करोति। चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते, तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः। तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन **लोगस्स कुणदि विण्हू** इत्यादिगाथासप्तकं भवति। तदनन्तरं, अन्यः कर्ता, भुङ्क्ते चान्यः—इत्येकान्तनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **केहिंचिदु पज्जयेहिं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं। अतः परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति एकान्तेन जीवस्य भावमिथ्यात्व कर्तृत्वनिराकरणार्थं **मिच्छत्ता जदि पयडी** इत्यादि सूत्रपञ्चकं। ततः परं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिभावान् कर्मैवैकान्तेन करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थं—**कम्मेहिं अण्णाणी** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि। अथानन्तरं कोऽपि प्राथमिकशिष्यः शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वाञ्छति किन्तु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं **दंसणणाणचरित्तं** इत्यादि सूत्रसप्तकं। तदनन्तरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुण्डलादिकर्महस्तकुट्टकाद्युपकरणैः करोति तत्फलं मूल्यादिकं भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो

इसके आगे जीव आदि नव अधिकारों में जीव के कर्त्तापन और भोक्तापन आदि के विषय से निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग द्वारा सामान्यपने का जो पूर्व में वर्णन किया है उसी का अब विशेष वर्णन करने के लिये **लोगस्स कुणदि विण्हू** इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठक्रम से ९६ गाथाओं में चूलिका का व्याख्यान करते हैं।

चूलिका शब्द का अर्थ करते हैं—"विशेष व्याख्यान; कहे हुये और न कहे हुये का व्याख्यान; तथा कहा हुआ और न कहा हुआ से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार का व्याख्यान चूलिका शब्द से कहा जाता है।

वहाँ इन ९६ गाथाओं में सबसे पहले ७ गाथाओं में यह बतलाया है कि देवादि—पर्यायों को करने वाला विष्णु नहीं है इस प्रकार **लोगस्स कुणदि विण्हू** आदि सात गाथायें हैं। इसके बाद अन्य कर्ता है अन्य भोक्ता है इस प्रकार के एकांत का निषेध करते हुए **केहिंचिदु पज्जयेहिं** इत्यादि ४ गाथायें बौद्धमत के अनुयायी शिष्य को समझाने के लिये कहीं हैं। इसके पश्चात् सांख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर एकान्त से जीव के भाव-मिथ्यात्व का कर्त्तापन निवारण करने के लिये **मिच्छत्ता जदि पयडी** इत्यादि पांच सूत्र हैं। इसके आगे ज्ञान-अज्ञान तथा सुख-दुःख आदि भावों का करने वाला एकान्त से कर्म है, आत्मा कर्त्ता नहीं है, इस प्रकार सांख्यमत के निराकरण करने के लिये **कम्मेहिं अण्णाणी** इत्यादि तेरह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे कोई नवीन शिष्य शब्द आदि पांचों इन्द्रियों के विषयों को नष्ट करना चाहता है किन्तु मन में तिष्ठे हुये विषयों के अनुराग को नाश करना चाहिये ऐसे विवेक से रहित है अतः उसको संबोधन करने के लिये **दंसणणाणचरित्तं** इत्यादि ७ सूत्र हैं। उसके आगे **जह सिप्पियो दु** इत्यादि सात गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि जैसे स्वर्णकारादि शिल्पकार हथोड़े आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डल आदि वस्तुयें बनाता है और उनसे उसे जो फल मिलता है, मूल्य आदि उसे भोगता है किन्तु

न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **जह सिप्पियो दु** इत्यादि गाथासप्तकं। ततः परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्दधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **जह सेडिया** इत्यादि सूत्रदशकं। ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण–निश्चयप्रत्याख्यान–निश्चयालोचना–निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन **कम्मं जं पुव्वकयं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनन्तरं रागद्वेषोत्पत्तिविषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं न चाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं **णिंदिद संथुद वयणाणि** इत्यादि गाथादशकं। अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्वभावशून्यः सुखितो दुःखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःखबीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि गाथात्रयं। तदनन्तरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेन्द्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सत्थं णाणं ण हवदि** इत्यादि पञ्चदशसूत्राणि। ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **अत्ता जस्स अमुत्तो** इत्यादि गाथात्रयं। तदनन्तरं देहाश्रितद्रव्यलिङ्गं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिङ्गरहितयतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाखंडीलिंगाणि य** इत्यादि सूत्रसप्तकं। पुनश्च

उससे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी द्रव्यकर्म करता है और उसके फल को भोगता है किन्तु उससे तन्मय नहीं हो जाता। इसके बाद दस गाथायें हैं जिनमें ब्रह्म-अद्वैत-मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये **जह सेडिया** इत्यादि रूप से बताया है कि जैसे श्वेतमिट्टी भीत आदि को सफेद करती है फिर भी निश्चय से देखा जाये तो इससे वह तन्मय नहीं होती। इसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेयभूतद्रव्य को जानता है, देखता है, दूर करता है, श्रद्धान करता है तो भी निश्चय से वह उसमें तन्मयी नहीं होता है। इसके आगे **कम्मं जं पुव्वकयं** इत्यादि चार गाथायें हैं, जिनमें शुद्धात्मा की भावनारूप निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चय-प्रत्याख्यान और निश्चय-आलोचनारूप निश्चयचारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसके आगे रागद्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञानरूप अपनी बुद्धि का दोष ही कारण है अचेतन शब्द आदि विषय, रागद्वेष की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं ऐसा कथन करने के लिये **णिंदि दसंथुदवयणाणि** इत्यादि दश गाथायें हैं। इसके आगे **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि उदय में आये हुये कर्म के फल को भोगता हुआ यह ऐसा मानता है कि यह मेरा है, यह मुझसे किया गया है एवं स्वस्थभाव से शून्य होकर सुखी या दुखी होता है ताकि दुःख के बीज आठ प्रकार के कर्म का फिर से बंध कर लेता है। इसके बाद **सत्थं णाणं ण हवदि** इत्यादि पन्द्रह गाथाओं में यह बतलाया है कि शुद्धनिश्चयनय से आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्रव्यश्रुत, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय, तथा द्रव्यकर्म, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व कालद्रव्य एवं रागादिविभाव ये सब भी जीव के स्वरूप नहीं हैं। इसके आगे **अत्ता जस्स अमुत्तो** इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बताया है कि शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा अमूर्त्त है उसी नय के अभिप्राय से कर्म, नोकर्म आहार से भी रहित है। इसके आगे **पाखंडीलिं गाणिय** इत्यादि सात सूत्र हैं इनमें मुख्यता से बतलाया है कि देहाश्रित द्रव्यलिङ्ग जो कि निर्विकल्प-समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भावलिंग से रहित है ऐसे यतियों की मुक्ति का कारण नहीं किन्तु भावलिंगसहित यतियों का ही द्रव्यलिंग मुक्ति का सहकारी कारण है। इसके पश्चात् इस समयप्राभृत-ग्रंथ के अध्ययन का फल

समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रन्थसमाप्त्यर्थं **जो समयपाहुडमिणं** इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरन्तराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारे समुदायपातनिका। इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—

अथ एकान्तेनात्मानं कर्तारं ये मन्यन्ते तेषामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति—

लोगस्स कुणदि विहू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥३४४॥
लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि ॥३४५॥
एवं ण कोवि मोक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे ॥३४६॥(त्रिकलम्)

लोगस्स कुणदि विहू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते लोकस्य मते विष्णु करोति। कान्? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्। **समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए** श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि

बतलाये हुये इस ग्रन्थ को समाप्त करने के लिये **जो समयपाहुडमिणं** इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार १३ अन्तर अधिकारों से समयसारजी की चूलिका के अधिकार में यह समुदायपातनिका हुई। आगे इन तेरह अधिकारों का क्रम से व्याख्यान किया जाता है।

अब यहाँ बताते हैं कि जो एकान्त से आत्मा को कर्त्ता मानते हैं उनके भी अज्ञानी लोगों के समान मोक्ष नहीं है ऐसा उपदेश करते हैं—

अर्थ—आम लोगों का ऐसा मन्तव्य है कि सुर, नारक, तिर्यं च, और मनुष्य नाम के प्राणियों को विष्णु अर्थात् परमात्मा बनाता है। इस प्रकार यदि यतियों का भी यही विश्वास हो कि छह काय के जीवों को आत्मा करता है तो फिर लोगों का तथा श्रमणों का एक ही सिद्धान्त ठहरा इसमें कोई भी विशेषता नहीं है क्योंकि लोगों की मान्यता में जैसे विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणों की मान्यता में आत्मा करता है। इस प्रकार कर्त्ता के मानने में दोनों समान है इसलिये लोक और श्रमण इन दोनों में से किसी का भी मोक्ष नहीं दीखता क्योंकि जो देव, मनुष्य और असुर सहित लोगों को नित्य दोनों ही करते रहेंगे तो मोक्ष कैसा ॥३४४-३४६॥

टीका—लोगस्स कुणदि विहू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते लोकों के मत में तो विष्णु देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य नाम के जीवों को करता है। **समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि**

विख्यात लोक मत है सुर-मानवों का, निर्माण विष्णु करता पशु-नारकों का।
स्वीकारते श्रमण चूँकि चराचरों को, आत्मा जगाय जगजंगम जन्तुओं को ॥३४४॥
माना कि एक मत में वह विष्णु कर्त्ता, आत्मा रहा इतर में जग जीव कर्त्ता।
दोनों समा श्रमण-लौकिकवादियों में, पाया न भेद फिर भी इन दो मतों में ॥३४५॥
हाँ मोक्ष की महक ही इन में न आती, कर्तृत्व की विषम गंध सही न जाती।
कोई विशेष इनमें न हि भेद भाता, ऐसा सुनों समयसार सदैव गाता ॥३४६॥

चेत् । कान् ? षट्जीवनिकायानिति । **लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धान्तं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः । कयोः संबन्धी ? लोकश्रमणयोः । कस्मात् इति चेत्— **लोगस्स कुणदि विल्लू समणाणं अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुषविशेषः करोति । श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा नास्ति विप्रतिपत्तिर्न चार्थे । **एवं ण कोवि मोक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं** एवं कर्तृत्वे सति को दोषः? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते । कयोः ? श्रमणयोः । किंविशिष्टयोः । **णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुआसुरे लोगे** नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः क्व ? लोके । कथंभूते ? देवमनुष्यासुरसहिते । किं च–रागद्वेषमोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते । तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः । एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥३४४-३४६॥

अथोत्तरं निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसम्बन्धो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति—

छव्विहे काए उसी प्रकार श्रमणों के मत में आत्मा छह काय के जीवों को करता है । **लोग। समणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** इस पूर्वोक्त रीति से लोक और श्रमणों में सिद्धान्त के प्रति और आगम के प्रति फिर कोई भेद नहीं दिखता है । **लोगस्स कुणदि विल्लू समणाणं अप्पओ कुणदि** क्योंकि लोगों के मत में तो कल्पित किया हुआ विष्णु नाम का पुरुष--विशेष करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है सो वहाँ करने वाले का नाम विष्णु है और श्रमणों के मन में उस करने वाले का नाम आत्मा है । नाम भेद है पर अर्थ में कोई भेद नहीं है । **एवं ण कोवि मोक्खो दोसदि दुण्हंपि समणलोयाणं** इस प्रकार के कर्तृत्व में दोष क्या आता है ? कि फिर लोक और श्रमणों में मोक्ष होना नहीं ठहरता है । कब और कहाँ ? कि **णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुआसुरे लोगे** निरंतर सब ही काल में कर्म करने वालों को देव, मनुष्य और असुर सहित लोक में मोक्ष नहीं ठहरता । भावार्थ यह है कि रागद्वेष और मोह के रूप में परिणमन करने का नाम ही कर्त्तापन है रागद्वेष और मोहरूप परिणमन होने पर शुद्धस्वभाव-आत्मतत्व का समीचीनश्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चयरत्नत्रय तद्रूप जो मोक्षमार्ग उससे च्युत होता है तब वहाँ मोक्ष नहीं होता है । इस प्रकार पूर्वपक्षरूप से तीन गाथायें हुईं ॥३४४–३४६॥

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि कोई मुमुक्षु अर्थात् मुनि होकर भी अपने आप को कर्त्ता मानता रहेगा तब फिर वह मुक्त नहीं हो सकता है । क्यों कि जो अपने आपको कर्त्ता मान रहा है वह तो कुछ न कुछ करता ही रहेगा एवं जब कर्त्ता रहेगा तो उसका फल भी भोगता रहेगा, ऐसी दशा में मुक्त होने की बात कैसी ? हाँ, इसके साथ यह बात भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थपन में कर्त्तापन से दूर नहीं हो सकता क्योंकि गृहस्थपन का कर्त्तापन के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है । गृहस्थपन में रहकर बुरा न करे तो भला करे, किन्तु कुछ तो करना ही होगा अकर्त्ता नहीं रह सकता । फिर भी अकर्त्तापन की श्रद्धावाला हो सकता है । किन्तु स्वयं अकर्त्ता बनने के लिए गृहत्याग की एवं मुक्त हो जाने के लिये अकर्त्तापन की आवश्यकता होती है ।

अब पूर्वपक्ष के उत्तर में कथन करते हैं कि निश्चय से आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ में

ववहारभासिदेण दु पर दव्वं मम भणंति विदिदत्था ।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्त मम किं चि ॥३४७॥
जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं[1] ।
ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३४८॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि पत्तो[2] ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥३४९॥
तह्मा ण मेत्ति णच्चा दोह्लं एदाण कत्तिववसाओ ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं ॥३५०॥ (चतुष्कम्)

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था परद्रव्यं मम भणन्ति । के ते ? विदितार्थाः ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः । केन कृत्वा भणन्ति ? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन । **जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्त**

कर्त्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है तब आत्मा कैसे कर्त्ता बनता है ?

अर्थ—जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप जान लिया है ऐसे लोग भी व्यवहार की भाषा द्वारा यह [पीछी कमण्डलु आदि] परद्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु निश्चयनय के द्वारा वे लोग यह जानते हैं कि इन बाह्य वस्तुओं में परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है। जैसे कोई पुरुष कहे कि अमुक ग्राम, नगर, प्रांत और देश मेरा है तो उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं हो जाते हैं, किन्तु जीव मोह के वश से मेरा मेरा कहता है इसी प्रकार परद्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ भी ज्ञानी जीव 'यह मेरा है यह मेरा है' ऐसा कहता है उस परद्रव्य को अपना बनाता है तो उस समय वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि है। इसलिये परद्रव्य मेरा नहीं हो सकत है ऐसा जानकर परद्रव्य के विषय में लौकिक जन और ज्ञानी [मुनि] जन इन दोनों के ही इस कर्तापन के व्यवसायको जानता हुआ ज्ञानी जीव तो उसे मिथ्यादृष्टियों का ही व्यवसाय जाने ॥३४७-३५०॥

टीका—**ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था** जो विदितार्थ हैं—तत्त्व के जानने वाले हैं वे लोग भी परद्रव्य को मेरा है ऐसा व्यवहारनय के द्वारा, व्यवहार की भाषा में कहा करते हैं। **जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्त मम किंचि** किन्तु निश्चयनय से जानते

मेरे खरे धन, मकाँ परिवार आदि, पी मोह मद्य बकता व्यवहारवादी ।
लेते विराम मुनि निश्चय का सहारा, गाते सदा, न पर का अणु भी हमारा ॥३४७॥
कोई यहाँ पुरुष हैं कहते हमारे, ये देश खेट पुर गोपुर प्रान्त प्यारे ।
ये वस्तुतः न उनके बनते कदापि, व्यामोह से जड़ प्रलाप करें तथापि ॥३४८॥
है काय भिन्न पर जानत भी अमानी, शुद्धोपयोग तज के यदि काश ! ज्ञानी ।
मानी मदीय तन है इस भाँति बोले, मिथ्यात्व पा नियम से भव बीच डोले ॥३४९॥
ऐसा विचार, पर को अपना न मानो, औ राग त्याग पर को पर रूप जानो ।
कर्त्तृत्ववाद धरते इन दो मतों को, मिथ्यात्व मण्डित लखों उन पामरों को ॥३५०॥

---

1 गामविसयणयररट्ठं इति पाठः । 2 एसो इति पाठः ।

मम किंचि निश्चयेन पुनर्जानाति । किं ? न चेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति । **जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं** भया नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति । किं जल्पति ? वृत्यावृतो ग्रामो, देशाभिधानो विषयः नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्रमस्माकमिति । **ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** न च तानि तस्य भवन्ति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिः– एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्वं प्राप्तः सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्संशयं निश्चितं । संदेहो न कर्तव्यः इति । **तम्हा** इत्यादि–**तम्हा** तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टान्तेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणात्मीयं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्वं । तस्मात्कारणाज्जायते । **दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ** परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजैनयोः आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः । किं कृत्वा ? पूर्वं **ण मेति णच्चा** निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्यं मम संबन्धि न भवति इति ज्ञात्वा । **जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं** इमं लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं– अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात् । स कथंभूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञा या तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहितानां व्यवसायोऽयमिति । ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थकाल एवानुसर्तव्यः । प्राथमिकजनप्रतिबोधन-

---

हैं कि यहाँ जो परद्रव्य है उनमें से परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है । **जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं** जैसे कोई पुरुष ऐसा स्पष्ट कहे कि बाड़ी से घिरा हुआ ग्राम, देशनामवाला विषय, नगर है नाम जिसका वह पुर, देश का एक हिस्सा वह राष्ट्र, ये सब हमारे हैं । **ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं हो जाते हैं कि ग्रामादिक उस देश के राजा के हैं फिर भी मोहभाव के निमित्त से वह ऐसा कहता है जो कि अमुक ग्रामादिक तो मेरे हैं यह दृष्टाँत हुआ । अब दार्ष्टांत कहते हैं—इसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टांत के द्वारा ज्ञानी जीव भी व्यवहार विमूढ़ होकर यदि परद्रव्य को अपना कहता है तो उस समय मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ वह अवश्य मिथ्यादृष्टि हो जाता है इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये । **तम्हा** इत्यादि चौथी गाथा का अर्थ यह है कि परकीय ग्रामादि दृष्टांत के द्वारा ही स्वात्मानुभूति की भावना पर से च्युत हुआ जीव पर द्रव्य को व्यवहार से अपना कहता है वह मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा पहले ही कहा जा चुका है । इस कारण से जाना जाता है कि **दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ** परद्रव्य अर्थात् आत्मा से इतर वस्तुओं के बारे में पूर्वोक्त लौकिक (जन और जैन जन) इन दोनों का ही आत्मा पर द्रव्य को करता है । इस रूप से जो कर्त्तापन का व्यवसाय है । उसको कोई तीसरा तटस्थ पुरुष **ण मेति णच्चा** विकार रहित जो स्व और पर परिच्छित्ति, रूप ज्ञान के द्वारा पर द्रव्य मेरा सम्बन्धी नहीं हो सकता । इस बात को जानकर **जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठीरहिदाणं** लौकिक जन और जैन जन इन दोनों के पर द्रव्य के बारे में होने वाले कर्त्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ । इस प्रकार जाने कि वीतराग सम्यक्त्व है नाम जिसका ऐसी निश्चय-दृष्टि जिनके नहीं है उन लोगों का यह अध्यवसाय है । इस पर शंका होती है कि ज्ञानी होकर भी व्यवहार से जो पर द्रव्य को अपना कहता है वह अज्ञानी कैसे हो सकता है ? उसका उत्तर यह है कि व्यवहार तो प्राथमिक लोगों को सम्बोधन करने के लिये उस समय ही अनुसरण करने योग्य है जैसे कि म्लेच्छों को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा बोली जाती है । प्राथमिक जन के सम्बोधन काल को छोड़कर अन्य काल में भी यदि कोई ज्ञानी जीव कतक फल के समान आत्मा का संशोधन

कालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति । किं च विशेषः—लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितं । न चानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मा वा महेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति । कथमिति चेत्, सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेन्द्रियादिजीवैर्भृतस्तिष्ठति । तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णुः आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वरः आत्मैव जिनः । तदपि कथमिति चेत् ? कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानबन्धेन पापानुबन्धिपुण्यं कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखण्डाधिपतिरर्द्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति तथा चापरः कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबन्धिपुण्योपार्जनं कृत्वा विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चारित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु । सा च हूण्डावसर्पिणी संख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति । तथा चोक्तं—'संखातीदवसप्पिणि गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ । परसमयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ' ॥१॥ न चान्यः कोऽपि जगत्कर्त्ता महेश्वराभिधानः पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चात्तपःप्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा

करने वाला शुद्धनय उससे च्युत होकर परद्रव्य को अपना करता है, कहता है उस समय वह मिथ्यादृष्टि होता है । अब इसका विस्तार से वर्णन करते हैं—जैसा पहले की तीन गाथाओं में कह आये हैं कि लोगों के मत में विष्णु ही सृष्टि का कर्त्ता है सो वह लोक व्यवहार को लेकर कही हुई बात है किन्तु अनादि स्वरूप इस देव, मनुष्यादि प्राणियों से भरे हुये लोक का विष्णु या महेश्वर नाम का कोई भी एक कर्त्ता नहीं है । क्योंकि यह सारा लोक ही एकेन्द्रियादि जीवों से भरा हुआ है उन सभी जीवों में निश्चयनय से विष्णु के रूप से, ब्रह्म के रूप से, महेश्वर के रूप से और जिन के रूप से परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है इसलिये आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश्वर है और आत्मा ही जिन भी है । वह कैसे है सो बताते हैं—देखो, कोई जीव अपने पूर्व मनुष्य भव में जिन-दीक्षा लेकर भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध के द्वारा पापानुबंधी पुण्य करके स्वर्ग में जा उत्पन्न हुआ, वहाँ से आकर मनुष्य भव में तीन खण्ड का अधिपति अर्द्धचक्री बनता है उसी ही की विष्णु संज्ञा होतीहै और कोई लोक का कर्त्ता अन्य विष्णु नहीं है । इसी प्रकार कोई जिन-दीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधनाद्वारा पापानुबंधी पुण्य उपार्जन करके विद्यानुवाद नाम के दशवें पूर्व को पढ़कर चारित्र मोह के उदय से तपश्चरण से भ्रष्ट होकर हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से और अपनी विद्या के बल से मैं इस लोकका कर्त्ता हूँ ऐसा चमत्कार दिखाकर मूढ़ लोगों में आश्चर्य पैदा करके महेश्वर बनता है, सो यह सभी अवसर्पिणीयों में नहीं होता किन्तु हुण्डावसर्पिणी में होता है जो कि असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीतने के पर ही आया करता है । जैसा कि लिखा हुआ है—

संखातीदवसप्पिणी गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ । परसमयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ॥

अर्थात् असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। जिसमें जैनेतर मतों की भी उत्पत्ति हो जाती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं तो उसी में महेश्वर पैदा होता है । इसके सिवाय जगत् का कर्त्ता महेश्वर नाम का पुरुष नहीं है । इसी प्रकार कोई

संज्ञा । न चान्यः कोऽपि जगतः कर्त्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापरः कोऽपि दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नतेत्यादिषोडशभावनां कृत्वा देवेन्द्रादिविनिर्मितपञ्चमहाकल्याणपूजायोग्यं तीर्थंकरपुण्यं समुपार्ज्य जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यं । एवं यद्येकान्तेन कर्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टान्तेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतम् ॥३४७-३५०॥

अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुङ्क्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति च योऽसौ मन्यते स सम्यग्दृष्टिर्भवति इति प्रतिपादयति–

एक विशिष्ट तपश्चरण करके पश्चात् इस तपश्चरण के प्रभाव से स्त्री विषय का निमित्त पाकर चारमुख वाला हो जाता है उसी का ब्रह्मानाम है, और कोई व्यापक एक रूप वाला होकर जगत् का कर्त्ता हो ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है । इसी प्रकार कोई एक दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि सोलह भावना के फल से देवेन्द्रादि द्वारा की हुई पंचमहाकल्याणपूजा के योग्य तीर्थंकर नाम पुण्य को उपार्जनकर जिनेश्वर नाम वाला वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा वस्तु का स्वरूप है सो जानना चाहिये ॥३४७–३५०॥

विशेषार्थ– यहाँ पर यह बताया है कि जो पर द्रव्य को पर द्रव्य ही नहीं मानते वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही, किन्तु जो पर द्रव्य को पर द्रव्य जानते हुये भी व्यवहार के वश उसे अपना कहते हैं वह भी अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि हैं । जैसे कोई पुरुष अपना परिचय पूछने पर कहता है कि मैं अमुक नामवाला हूँ और अमुक मेरा गाँव है । वहाँ वह यह तो अवश्य जानता है कि वह गाँव तो मेरा नहीं है अमुक नाम वाले राजा का है मात्र वह वहाँ रहने वाला है इसलिये उसे अपना कहता है किन्तु रहते तो वहाँ और भी बहुत हैं एवं वह उसे अपना कहता है तो अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है । वैसे ही जो मुनि यह जानकर कि यह पीछी मोर पङ्खों की है और यह कमण्डलु काठ का है किन्तु उन्हें अपने पास में रखे हुए है अतः व्यवहार से उन्हें अपने कहता है तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है । अपितु उसे तो चाहिये कि वह अपने उपयोग को उनसे भी हटाकर आत्मोन्मुखी कर ले, आत्मतल्लीन बन रहे तभी वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है अन्यथा नहीं । अर्थात् यहाँ पर तो सर्वथा परावलम्बन का त्याग कर स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी है क्योंकि यहाँ पर तो एक मात्र मुक्ति का ही लक्ष्य है ।

आत्मा को यदि एकान्त से कर्त्ता मान लिया जाये तो मोक्ष का अभाव ठहरता है इस बात का विष्णु दृष्टांत के द्वारा तीन गाथाओं में पूर्व पक्ष करके चार गाथाओं द्वारा उसका परिहार करने रूप वर्णन वाला सात गाथाओं में पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बताते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से जो कर्म करता है वही उस फल को भोगता है और पर्यायार्थिकनय से अन्य ही कर्त्ता है और अन्य ही भोगता है इस प्रकार जो कोई मानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है–

कहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३५१॥
केहिचि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेदयदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३५२॥
जो चेव कुणदि सो चेव[1] वेदगो जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५३॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५४॥ (चतुष्कम्)

केहिचि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः । **जम्हा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं । **तम्हा**

अर्थ—क्योंकि जीवनामा पदार्थ अपनी कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु कितनी ही पर्यायों से वह नष्ट नहीं होता है, इसलिये वह ही कर्त्ता होता है अथवा दूसरा कर्त्ता होता है इस विषय में एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है । इसी प्रकार जब जीव कुछ पर्यायों से तो नष्ट होता है और कुछ पर्यायों से नष्ट नहीं होता है इसलिये वही जीव भोक्ता होता है अथवा दूसरा भोक्ता होता है ऐसा भी एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है । अब जिसका ऐसा मत है कि जो जीव कर्त्ता है वही भोगनेवाला होता है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अर्हन्त मत का मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये । इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि कर्त्ता तो कोई दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है अर्हन्त मत का मानने वाला नहीं है, ऐसा जानना चाहिये ॥३५१-३५४॥

टीका—केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी देव-मनुष्यादि पर्यायों के द्वारा यह जीव नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी कुछ अवस्थाओं के द्वारा

आत्मा सदा मिट रहा निज पर्ययों से, शोभे वही ध्रुव किन्हीं ध्रुव सद्गुणों से ।
एकान्त है यह नहीं ध्रुव दृष्टि द्वारा-कर्त्ता वही इतर, पर्यय दृष्टि द्वारा ॥३५१॥
पर्याय से मिट रहा गुण से नहीं है आत्मा त्रिकाल ध्रुव भी रहता वही है ।
एकान्त है न हि, वही ध्रुव भाव द्वारा, भोक्ता, निरा क्षणिक पर्यय भाव द्वारा ॥३५२॥
भोक्ता वही न बनता बन कर्म कर्त्ता, यों बौद्ध लोक कहते निज धर्म हर्त्ता ।
सिद्धान्त जो कि क्षण-भंगुर वादियों का, उद्भ्रान्त है वितथ मात्र कुदृष्टियों का ॥३५३॥
भोक्ता निरा बस निरा बन जाय कर्त्ता, सिद्धान्त बौद्ध यह है अघकार्य कर्त्ता ।
जो भी सहर्ष इसका गुण गीत गाते, सद्धर्म से सरकते विपरीत जाते ॥३५४॥

---

[1] जो चेव कुणदि सोचिय वेयए ण इति पाठः ।

तस्मात्कारणात् । **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव कः ? इति चेत्, यो भुङ्क्ते । **अण्णो वा** पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा । **णेयंतो** न चैकान्तोऽस्ति । एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता । **केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित् पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः । **जम्हा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं । **तम्हा** तस्मात्कारणात् । **वेददि सो वा** निजशुद्धात्मभावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमानः स एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति । स एव कः ? इति चेत्, येन पूर्वकृतं कर्म । **अण्णो वा** पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा । **णेयंतो** न चैकान्तोऽस्ति । एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा । किंच येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देवलोके नरके वा भुङ्क्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनस्तद्भवापेक्षया बालकाले कृतं यौवनादिपर्यायान्तरे भुङ्क्ते अतिसंक्षेपेण अन्तर्मुहूर्तान्तरे च भुङ्क्ते । भवान्तरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेण भुङ्क्ते इति भावार्थः । एवं गाथाद्वयेनानेकान्तव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिः कृताः । अथैकान्तेन य एव करोति स एव भुङ्क्ते अथवान्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति– **जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धंतो** य एव जीवः शुभाशुभं कर्म करोति स एव चैकान्तेन भुङ्क्ते न पुनरन्यः, यस्यैष सिद्धान्तः आगमः । **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो

नाश को प्राप्त नहीं होता । **जम्हा** क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य और अनित्य स्वभाव वाला है **तम्हा** इसलिये **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो वही जीव काम करने वाला है । वही कौन ? जो कि भोगता है वह । **अण्णो वा** किन्तु पर्यायार्थिक नय से दूसरा करने वाला है । **णेयंतो** इस विषय में एकांत नहीं है । **केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन कुछ देव-मनुष्यादि अवस्थाओं के द्वारा तो यह जीव नष्ट होता है किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन अवस्थाओं के द्वारा नष्ट नहीं होता अर्थात् बना रहता है । **जम्हा** जबकि जीव का स्वरूप इस प्रकार नित्यानित्यात्मक है **तम्हा** इस कारण **वेददि सो वा** अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सुखामृतरस उसको नहीं प्राप्त होने वाला जीव है वही जीव कर्मफल को वेदता है अनुभव करता है । वही कौन सा जीव ? जिसने पहले कर्म किया है **अण्णो वा** किन्तु पर्यायार्थिकनय से दूसरा ही जीव कर्म के फल को भोगता है । **णेयंतो** इस प्रकार इस विषय में भी एकांत नहीं है । इस प्रकार भोक्ता की मुख्यता लेकर यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । भावार्थ यह है कि जिसने मनुष्य जन्म में जो शुभाशुभ कर्म किया था वही जीव द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इस लोक में या नरक में जाकर उसके फल को भोगता है और पर्यायार्थिकनय से उसी भव की अपेक्षा से अपने बालकाल में किये हुए कर्मको यौवनादि अवस्थाओं में भोगता है । अतिसंक्षेप से कहा जाय तो अन्तर्मुहूर्त के बाद भोगता है । किन्तु भवांतर को अपेक्षा देखें तो मनुष्य पर्याय में किये हुए कर्म को देव पर्याय में जाकर भोगता है इस प्रकार इन दो गाथाओं से अनेकान्त की व्यवस्था करते हुये आचार्य देव ने अपने स्याद्वाद की सिद्धि की । अब इसके आगे जो एकान्त से ऐसा मानता है कि जो कर्त्ता है वही भोगता है अथवा जो ऐसा मानता है कि कर्त्ता दूसरा है व भोक्ता दूसरा है इस प्रकार जो एकान्त करता है वह मिथ्यादृष्टि है इस प्रकार कथन आगे कर रहे हैं । **जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धंतो** जिसका एकांत से ऐसा सिद्धांत है कि जो शुभ या अशुभकर्म करता है वही उसके फल को भोगता है दूसरा नहीं । **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** वह जीव

अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहि कदंत्तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ।।३५८।।
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ।।३५९।।(पंचकम्)

मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति । **तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगा पत्ता** तस्मात्कारणादचेतना तु या द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकान्तेनाकर्ता प्राप्तः । ततश्च कर्मबन्धाभावः, कर्मबन्धाभावे संसाराभावः । स च प्रत्यक्षविरोधः । **सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं** सम्यक्त्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति । **तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगा पत्ता** तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृतिः । **दे** तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकान्तेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभावः ततश्च मोक्षाभावः । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह शिष्यः–प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेषः स च

होता । और यदि ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करते हैं तो दोनों के द्वारा किये हुये का फल भी फिर दोनों को ही होना चाहिये, सो बनता नहीं । और यदि ऐसा मानिये कि पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप न तो प्रकृति ही करती है और न जीव ही करता है तो फिर पुद्गलद्रव्य स्वयं मिथ्यात्व रूप हुआ कहना होगा, सो ऐसा मानना तो भूल भरा है । इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वनामा जीव का जो भाव है उसका कर्त्ता तो अज्ञानी जीव है और उसके निमित्त से पुद्गलपरमाणु-पिण्ड में मिथ्यात्वकर्मरूप बनने की शक्ति आ जाती है ।।३५५-३५९।।

टीका—मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं जो आत्मा स्वयं नहीं परिणमन करने वाला है उसको द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति हठात् मिथ्यादृष्टि बना देती है। **तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगा पत्ता** तव हे सांख्यमतिन् ! तेरे मत से तो अचेतनरूप यह द्रव्य-मिथ्यात्व नाम की प्रकृति ही भाव-मिथ्यात्व की करने वाली ठहरी, जीव तो फिर सर्वथा अकर्त्ता ही ठहरा । तब फिर उसको तो कर्मबंध नहीं होना चाहिये, और जब कर्मबंध नहीं, तो संसार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है । इसी प्रकार **सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं** सम्यक्त्व–नाम वाली प्रकृति स्वयं नहीं परिणमन करने वाले आत्मा को सम्यग्दृष्टि बना देती है **तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगा पत्ता** तो फिर चैतन्य-शून्य-प्रकृति ही तेरे मतमें कर्त्ता ठहरी, जीव तो सम्यक्त्व परिणाम का कर्त्ता नहीं ठहरा अपितु अकर्त्ता ही रहा तो वेदकसम्यक्त्व का अभाव ही रहा, और वेदक सम्यक्त्व के अभाव में क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव ठहरा और उससे मोक्ष का भी अभाव हुआ, तब यह प्रत्यक्ष विरोध व आगम विरोध हुआ । इस पर प्रश्न होता है

आत्मा तथा प्रकृति ये मिल के जड़ों को, मिथ्यात्वरूप करते इन पुद्गलों को ।
ऐसा कहो यदि तदा जड़के-दलों का, दोनों हि स्वाद चख ले विधि के फलों का ।।३५८।।
आत्मा तथा प्रकृति भी न कभी जड़ों को, मिथ्यात्व रूप कहते इन पुद्गलों को ।
ऐसा कहो तदपि पुद्गल ही हुआ है, मिथ्यात्व क्या मत त्वदीय नहीं हुआ है ।।३५९।।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्यः प्रथमविकल्पः स च कर्मविशेषः कथं सम्यक्त्वं भवति ? सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानन्दैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति । परिहारमाह–सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मन्त्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपञ्चकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानन्तरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हन्ति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थंकरनामकर्मवत् परम्परया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति विरोधः । **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** अथवा पूर्वदूषणभयादेष प्रत्यक्षीभूतो जीवः, द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति, न पुनः स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतं । **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठो ण पुण जीवो** तह्यैकान्तेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः । कर्मबन्धः तस्यैव, संसारोऽपि तस्यैव, न च जीवस्य । स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत इति मतं । **तह्मा दोहि कदत्तं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं

कि सम्यक्त्वप्रकृति तो कर्म का भेद है जो कि सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार के होने वाले दर्शनमोह का प्रथम भेद है वह सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्य जीव का परिणाम होता है जो कि निर्विकार-सदानन्दरूप है लक्षण जिसका ऐसा जो परमात्म तत्त्व उसे आदि लेकर जीवादि-सातों तत्त्वों के श्रद्धानरूप होकर मोक्ष का बीजभूत होता है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सम्यक्त्व-प्रकृति कर्म विशेष है यह ठीक है किन्तु निर्विष किया हुआ विष जैसे मारने वाला नहीं होता है वैसे ही मन्त्र स्थानीय विशुद्धि विशेष मात्र शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम के द्वारा नष्ट कर दी गई है मिथ्यात्व शक्ति जिसकी, ऐसा वह सम्यक्त्व नामकर्म विशेष है वह क्षायोपशमिक आदि पाँच-लब्धियों के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रथमोपशम-सम्यक्त्व उसके अनन्तर उत्पन्न जो वेदकसम्यक्त्व उसका स्वभाव जो तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मपरिणाम उसको नष्ट नहीं करता है, इसलिये उपचार से सम्यक्त्व का हेतु होने के कारण यह कर्म विशेष भी सम्यक्त्व कहा जाता है, जो कि तीर्थंकरनामकर्म के समान परम्परा से मुक्ति का कारण भी होता है । इसमें कोई दोष नहीं है । **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** अब यदि उपर्युक्त दूषण से बचने के लिए यह कहा जाय कि यह प्रत्यक्षभूत जीव-द्रव्य-कर्मरूप-पुद्गलद्रव्य के शुद्धात्म-तत्त्वादिक के विषय में विपरीत अभिप्राय को पैदा करने वाले भाव-मिथ्यात्व को कर देता है किन्तु स्वयं भाव-मिथ्यात्व रूप परिणमन नहीं करता है ऐसा तेरा मत है ? **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठो ण पुण जीवो** तो फिर एकांत रूप से वह पुगद्ल-द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि होना चाहिये, जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होना चाहिये । ऐसी दशा में कर्मबंध भी उसी के होना चाहिये, संसार भी उसी के, अपितु जीव के तो फिर कुछ नहीं होना चाहिये, यह प्रत्यक्ष विरोध है । **अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** फिर इस दूषण से बचने के लिये भी यह कहा जाय कि जीव और प्रकृति दोनों कर्मरूप पुगद्लद्रव्य को भाव-मिथ्यात्वरूप कर देते हैं । **तह्मा दोवि कदत्तं** तो उपादान-कारणभूत उन दोनों के द्वारा किये हुये उस मिथ्यात्व के **दुण्णिवि भुंजति तस्स फलं** फल को जीव और पुगद्ल दोनों ही भोगें, ऐसा होना चाहिये सो

तन्मिथ्यात्वं । **दुण्णिवि भंजंति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुञ्जाते ततश्चाचेतनायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्तं स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्व करेदि मिच्छत्तं** अथ मतं न प्रकृतिः करोति न च जीव एव एकान्तेन । किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं । कथंभूतं न करोति ? मिथ्यात्वं भावमिथ्यात्वरूपं । **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** तद्वचनं तु पुनः हु स्फुटं । किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवत्येव । किं च यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकान्तेनापरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधिं जनयति न च काष्ठादौ । कस्मादिति चेत् ? तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति । एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकान्तेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मबन्धाभावः ततश्च संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतं ॥३५५-३५९॥

अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकान्तेन कर्मैव करोति न चात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदन्ति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति—तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकान्तेन कर्ता भवति इति कथनमुख्यत्वेन **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । ततः परं सांख्यमतेऽप्येवं भणितमास्ते—इति संवाद-

---

इसमें अचेतनरूप-प्रकृति के भी भोक्तापन का प्रसंग आया, यह प्रत्यक्ष में विरोध है । **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं** यदि ऐसा कहा जाय कि एकांत से न तो प्रकृति ही करती है और न अकेला जीव ही इस कर्म को भाव मिथ्यात्व रूप करता है, **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तब पुद्गल-द्रव्य ही मिथ्यात्व ठहरा, सो ऐसा कहना क्या मिथ्यापन नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है, क्योंकि यह **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** इस पूर्वोक्त वाक्य से विरुद्ध ही है । स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध ही है फिर भी पर्यायार्थिक नय से कथंचित् परिणामीपना होने पर अनादि काल से धारा प्रवाह रूप से चले आये कर्मों के उदय के वश से यह जीव स्फटिकपाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि-परिणाम को ग्रहण करता है । यदि एकांत से यह अपरिणामी ही हो तो फिर इसमें उपाधिरूप-परिणाम कभी घटित नहीं हो सकता है । स्फटिकपाषाण में जपा पुष्प की उपाधि के द्वारा परिणमन कर जाने की शक्ति है इसलिये जपापुष्प उस स्फटिक में उपाधि पैदा कर देता है किन्तु वही जपापुष्प काष्ठादिक में उपाधि पैदा नहीं करता क्योंकि वहाँ उपाधि रूप से परिणमन शक्ति का अभाव है । ऐसी ही बात जीव के विषय में है । इस प्रकार एकांत से यदि ऐसा मान लिया जाय कि द्रव्य रूप मिथ्यात्वप्रकृति ही कर्त्ता बनकर भाव मिथ्यात्व को कर देती है तब फिर जीव भाव मिथ्यात्व का कर्त्ता नहीं ठहरता है, एवं जीव में भाव मिथ्यात्व के न होने पर कर्म का अभाव आ जाता है और कर्म के अभाव से संसार का अभाव आता है सो यह प्रत्यक्ष विरोध है । इत्यादि रूप से व्याख्यान द्वारा तृतीय स्थल में पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥३५५-३५९॥

आगे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुख आदि कर्म एकांत से कर्म ही करता है, आत्मा नहीं करता, ऐसे सांख्यमत के अनुसार चलने वाले कहते हैं । उन्हीं के प्रति नयविभाग से यह सिद्ध करते हैं कि यह जीव कथंचित् कर्त्ता है । इसकी तेरह गाथायें हैं । इनमें कर्म ही एकांत से कर्त्ता होता है, इसकी मुख्यता से **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि चार सूत्र हैं । उसके बाद सांख्यमत में भी

दर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्य[त्वेन] [पु]रिसित्थियाहिलासी इत्यादि गाथाद्वयं । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **जम्हा घादेदि परं** इत्यादि गाथाद्वयं [प्र]कृतिकर्तृत्वेनात्मनो [ए]कान्तनिराकरणार्थं तस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहार-रूपेण **एवं संखु** [इ]त्यादि समुदायेन द्वितीयमन्तरस्थलं । तदन्तरं आत्मा कर्म न करोति कर्मजनि[त] [भा]वं पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन **अहवा मण्णसि म[ज्झं]** [इ]त्यादि सूत्रचतुष्टयेन [चतु]रन्तराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका । तद्यथा,—

[अ]ण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
[ज]ग्गावि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥३६०॥
[दु]क्खम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदि य असंजमं चेव ॥३६१॥
कम्मेहिं भमादिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयं च ।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥३६२॥

ऐसा कहा गया है इस सम्वाद को बतलाने के लिये ब्रह्मचर्य के स्थापन की मुख्यता से **पुरिसित्थियाहिलासी** इत्यादि दो गाथायें हैं। अहिंसा की स्थापना की मुख्यता से **जह्मा घादेदि परं** इत्यादि दो गाथायें हैं । प्रकृति के ही कर्त्तापन है आत्मा के नहीं इस एकांत के दूषण को दूर करने के लिये इसी ही चार गाथाओं का ही दिखाया हुआ संकोच रूप **एवं संखुवदेसं** इत्यादि एक गाथा है । ऐसे पाँच सूत्रों के समुदाय से दूसरा अन्तःस्थल हुआ । उसके बाद आत्मा कर्म व कर्म-जनित भाव नहीं करता, किन्तु अपने आपको करता है इस प्रकार कहते हुये एक गाथा में पूर्व-पक्ष है और तीन गाथाओं में उसका परिहार है इस प्रकार समुदाय रूप से **अहवा मण्णसि मज्झं** इत्यादि चार सूत्र हैं। इस प्रकार चार अन्तर अधिकार में तीसरे स्थल के द्वारा समुदाय पातनिका हुई ।

अर्थ—यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है, और कर्मों के द्वारा ज्ञानी भी होता है, कर्मों के द्वारा ही सुलाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरण पाता है । कर्मों के द्वारा ही सुखी और दुःखी भी होता है । कर्मों के द्वारा ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और कर्मों के द्वारा असंयम को प्राप्त होता है । कर्मों के द्वारा ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में परिभ्रमण करता है । जो कुछ शुभ और अशुभ हो रहा है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया हुआ हो रहा है । क्योंकि कर्म ही तो करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है:

अज्ञान का सदन पुद्गल कर्म द्वारा, होता विबोध घर आतम पूर्ण प्यारा ।
है कर्म से विवश हो कर गाढ़ सोता, है कर्म के वश सुजागृत पूर्ण होता ॥३६०॥
पा कर्म के फल अतीव सदीव रोते, मिथ्यात्व मंडित असंयत जीव होते ।
हैं डूबते भव पयोनिधि में दुःखी हैं, होते कभी क्षणिक पा सुख को सुखी हैं ॥३६१॥
आत्मा शुभाशुभ कभी पशु योनियों में, पाता निवास कुछ काल सुरालयों में ।
है कर्म ही नरक में इसको गिराता, संसार के विपिन में सबको भ्रमाता ॥३६२॥

जह्मा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि।
तह्मा सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३६३॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थि कम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥३६४॥
तह्मा ण कोवि जीवो अबंभचारी दु तुह्म[1] मुवदेसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि जं भणिदं ॥३६५॥
जह्मा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सा पयडी।
एदेणत्थेण दु किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥३६६॥
तह्मा ण कोवि जीवो वघादगो अत्थि तुह्म उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं घादेदि जं भणिदं ॥३६७॥

सब कुछ कर्म ही करता है इसलिये सब जीव ही अकारक हैं कुछ भी करने वाले नहीं हैं। यह आचार्यों की परम्परा से आई हुई बात है कि पुरुषवेद-कर्म तो स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेदकर्म पुरुष की इच्छा करता है। इसलिये कोई भी जीव आपके मत में अब्रह्मचारी नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्म को चाहता है ऐसा शास्त्र में कहा है। क्योंकि दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह भी कर्म ही है इसलिये उसे परघातनाम प्रकृति कहते हैं। इसलिये आपके मत में तो कोई भी जीव उपघात करने वाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा है। इस प्रकार जो कोई भी श्रमण, सांख्यमत के अनुसार उपदेश करते हैं उनके यहाँ प्रकृति ही सब कुछ करती है, जीव तो सब अकारक ही हैं। [तब फिर उनके विचार से जिनवाणी में जो आत्मा को कर्ता

जो भी करे करम ही करता कराता, संसार का रचयिता बस कर्म भाता।
ऐसा हि सांख्य मत 'सा' यदि तू कहेगा आत्मा अकारक रहा भव क्या रहेगा ॥३६३॥
स्त्रीवेद को पुरुष वेद सदैव चाहे, पुंवेद को नियम से तियवेद चाहे।
आचार्य की परम-पूत-परम्परा है, जो जैन से जबकि स्वीकृत सुन्दरा है ॥३६४॥
लो बार-बार हम तो कहते इसी से, है ब्रह्मलीन सब जीव सदा रुची से।
है कर्म-कर्म भर को बस चाहता है, आत्मा जिसे सतत मात्र निहारता है ॥३६५॥
होती विनष्ट परसे परको मिटाती, एकान्त से प्रकृति ही नव जन्म पाती।
भाई अतः प्रकृति भी परघात वाली, है सर्व सम्मत रही जड़-गात-वाली ॥३६६॥
आत्मा रहा अमर वो मरता नहीं है, औ मारता न पर को कहना सही है।
तो कर्म-कर्म भर को बस मारता है. यों मात्र सांख्यमत आशय धारता है ॥३६७॥

---

[1] अम्ह इति पाठः।

एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३६८॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स ॥३६९॥
अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे ॥३७०॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि ।
तत्तो सो किं हीणो अहियो व कदं भणसि दव्वं ॥३७१॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं ।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥३७२॥ (त्रयोदशकम्)

कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकान्तेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः । स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति

बताया है वह कैसे बनेगा ?] यही कहा जाय कि आत्मा तो अपने आपको ही करता है तो ऐसा कहना भी झूठा है क्योंकि आत्मा तो नित्य असंख्यातप्रदेशी सिद्धान्त में बतलाया है सो वह उससे हीन या अधिक नहीं किया जा सकता है ? जीव का अपना स्वरूप विस्तार की अपेक्षा से लोकाकाश प्रमाण है उससे हीन या अधिक क्या कभी किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया सकता । तथा आत्मा ज्ञायकभाव है वह ज्ञान स्वभाव ही रह रहा है इसलिये आत्मा अपने आपको करता है यह नहीं बनता है [इसलिये आत्मा अज्ञानदशा में कथंचित् अपने अज्ञान भावरूप कर्म का कर्त्ता होता है] ॥३६०-३७२॥

टीका—यह जीव एकांत रूप से कर्मों के द्वारा अज्ञानी होता है और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी होता है । कर्मों के द्वारा ही निद्रालु बना लिया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरूक ।

ऐसा ही सांख्य मत से यदि बोलते हो, साधू हुए अमृत में विष घोलते हो ।
रागादि का करन ही बन जाय कर्त्ता, तो सर्वथा सकल जीव बने अकर्त्ता ॥३६८॥
आत्मा मदीय करता निज को निजी से, ऐसा त्वदीय मत स्वीकृत हो सदी से ।
तो भी रहा मत नितान्त असत्य तेरा, कूटस्थ नित्य निज में नहि हेर फेरा ॥३६९॥
है एक हेतु इसमें सुन ए हितैषी, आत्मा रहा अमर नित्य असंख्य देशी ।
वो एकसा, न घटता बढ़ता नहीं है, ऐसा रहा कथन आगम का सही है ॥३७०॥
हो केवली समुद्घात त्रिलोक व्यापी, आत्मा प्रमाण तनके, तनमें तथापि ।
ऐसी दशा फिर भली उसको बढ़ाता, वो कौन सक्षम उसे क्रमशः घटाता ॥३७१॥
आत्मा त्रिकाल यदि ज्ञायक ही रहा हो, वैराग्य राग किसको कब हो कहाँ हो ।
आत्मा कथंचित अतः विधि से सरागी, हो बोध-धाम तज राग बने विरागी ॥३७२॥

प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकान्तेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता। यस्मादेवं भणितं कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मादेकान्तेन सर्वे जीवा अकारकाः प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः—इति कर्मैकान्तकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं। कर्मैव करोत्येकान्तेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयन्ति। वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलषत्येकान्तेन, न च जीवः। एवमाचार्यपरम्पराया: समागता श्रुतिरीदृशी। श्रुतिः कोऽर्थः ? आगमो भवतां सांख्यानामिति प्रथमगाथा गता। तथा सति किं दूषणं भवति? एवं न कोपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवन्ति तथैकान्तेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति न च जीव इत्युक्तं पूर्वं, स च प्रत्यक्षविरोधः। इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं। यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृतिः कर्त्री हन्ति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः। एतेनार्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते। परं किंतु जैनमते जीवो हिंसाभावेन

इस प्रकार पहली गाथा हुई। कर्मों से ही सुखी किया जाता है और कर्मों से ही दुःखी किया जाता है। और एकांतरूप से कर्मों से ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा ही असंयम को प्राप्त होता है। यह दूसरी गाथा हुई। कर्मों के द्वारा ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में परिभ्रमण करता है, और भी जो कुछ शुभ या अशुभ होता है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया गया होता है। यह तीसरी गाथा हुई। जहाँ एकांत से ऐसा कहा गया है कि जो कुछ शुभ या अशुभ करता है वह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है तो फिर जीव अकारकपने को प्राप्त हुये, इसमें जीव के कर्मों का अभाव आया, कर्म के अभाव होने पर संसार का अभाव आया, सो यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध हुआ ? इस प्रकार एकान्त से कर्म को ही कर्त्ता मान लेने पर दूषण बताने की मुख्यता से चार गाथाएँ हुईं। कर्म ही करता है इस प्रकार का उपर्युक्त सिद्धान्त सांख्यमतवादियों का है ऐसा बताकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव फिर भी उसका समर्थन इस प्रकार करते हैं कि हम यह बात मात्र द्वेष के वश होकर ही नहीं कहते हैं। आपके मत में ऐसा लिखा हुआ है कि पुंवेदनाम का कर्म स्त्रीवेदकर्म की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नाम का कर्म एकान्तरूप से पुंवेद नाम कर्म की अभिलाषा करता है, जीव ऐसी अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। श्रुति है इसका क्या अर्थ है ? आप सांख्य लोगों का यह आगम है। इस प्रकार यह पहली गाथा हुई। अब ऐसा होने पर क्या दूषण आयेगा ? कि आपके मत में [सांख्यमत में] कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं ठहरेगा किन्तु जैसे शुद्धनिश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं वैसे ही एकांतरूप से अशुद्धनिश्चयनय से भी वे सब ब्रह्मचारी ही ठहरेंगे क्योंकि स्त्रीवेद नाम वाले कर्म की अभिलाषा तो पुंवेद नाम का कर्म करता है जीव तो कुछ करता नहीं है यह पूर्व में कहा है सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध पड़ता है। इस प्रकार दो गाथाओं में अब्रह्मचर्य का कथन किया गया है। और क्योंकि किसी दूसरे कर्म के स्वरूप को जो प्रकृति नाश करती है वह प्रकृति भी दूसरे कर्म के द्वारा नष्ट कर दी जाती है अपितु जीव नष्ट नहीं किया जाता है। इस अर्थ को लिये हुए ही जैनमत में परघातनाम का कर्म कहा गया है किन्तु ऐसा

परिणमति परघातनामसहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता। तस्मात्किंदूषणं ? शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवोजैनागमे कथितः। कथं ? इति चेत्, **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनात्, व्यवहारेण तु परिणामीति। भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन तथाऽशुद्धनयेनाप्युपघातको हिंसकः कोऽपि नास्ति। कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकान्तेन कर्म चैव हि स्फुटमन्यत् कर्म हन्ति, न चात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति। एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं। **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा** एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकान्तरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानन्तः। **समणा** श्रमणाभासाः द्रव्यलिङ्गिनः प्ररूपयन्ति कथयन्ति। **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकान्तेन प्रकृतिः कर्त्री भवति आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभावः, कर्माभावे संसाराभावः। ततो मोक्षाप्रसङ्गः। स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोषः। एवं सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकान्तेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपञ्चकं गतम्। **अहवा मण्णसि मज्झ अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** हे सांख्य ! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्तकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यतः कारणादज्ञानिनां कर्मबन्धो भवति। किंत्वात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः

कहकर भी जैनमत में तो वहाँ पर जीव ही हिंसा के रूप में परिणमन करता है, परघात नाम का कर्म तो उसका सहकारी कारण होता है, इसलिये वहाँ कोई विरोध नहीं है। यह पहली गाथा हुई। यद्यपि जैनमत में शुद्धपारिणामिकरूप जो परमभाव को ग्रहण करने वाला शुद्धद्रव्यार्थिकनय है उसके द्वारा जीव हिंसा-परिणाम से रहित अपरिणामी कहा गया है जैसे कि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस सूक्त से स्पष्ट होता है, फिर भी व्यवहार से वही जीव परिणामी भी माना गया है। किन्तु आप सांख्यों के मत में तो वह जैसे शुद्धनय से वैसे ही अशुद्धनय से भी उपघातक या हिंसक रूप कभी कोई भी जीव नहीं होता है, क्योंकि आपके यहाँ तो स्पष्ट एकांतरूप से कर्म ही कर्म को मारता है किन्तु आत्मा नहीं मारता ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है। इस प्रकार हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथायें कही गईं। **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा** इस प्रकार पूर्वोक्त सांख्यमत के उपदेश को लेकर जो द्रव्यलिंगी-श्रमणाभास परमागम में कहे हुए नयविभाग को नहीं जानने वाले हैं, वे लोग एकांत पकड़ कर उसका कथन करते हैं। **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तब उनके एकांत मत के द्वारा प्रकृति ही सब कुछ करने वाली होती है, आत्मायें तो कुछ भी करने वाली नहीं ठहरती हैं। इस प्रकार जब आत्मा के कर्तापन का अभाव होने पर संसार का भी अभाव हो जाता है, तब मोक्ष का प्रसंग भी नहीं। इन सबका न होना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। किन्तु जैनमत में तो परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा यह सब बातें घट जाती हैं इसमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार सांख्यमत के संवाद को दिखला कर जीव को एकांत रूप से अकर्त्ता मानने में जो दूषण आता है उसका कथन पाँच गाथाओं में हुआ। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** आचार्यदेव उसी सांख्यमत को लक्ष्य में लेकर फिर कहते हैं कि पूर्वोक्त दूषण के भय से तू ऐसा कहे कि मेरे मत में तो जीव ज्ञानी ही है और जब ज्ञानी ही है तो वहाँ कर्म के कर्तापन की कोई बात ही नहीं घटती है क्योंकि कर्मबंध तो अज्ञानी के होता है। किन्तु आत्मारूप कर्त्ता आत्मा को ही करता है और करणभूत आत्मा के द्वारा ही करता है इसलिये हमारे यहाँ आत्मा को अकर्त्ता मानने में कोई दोष नहीं आता, तो **एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स** इस प्रकार मानने वाले तेरा यह भी मिथ्यात्व-

कारणादकर्तृत्वे दूषणं न भवति इति चेत् ? **एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता । अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह कस्मान्मिथ्यास्वभावः ? इति चेत्, **जे** यस्मात् कारणात् । **अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यातप्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति । **णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं** तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायातीति हेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ मतं असंख्यातमानं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति । तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणासंख्यातप्रदेशत्वं जीवः करोति, तदपि न घटते यस्मात्कारणात् । **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यतः सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं । **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीवः किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति । **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं** अथ हे शिष्य ! ज्ञायको भावः पदार्थः आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं, **तम्मतं तम्हा णवि अप्पा अप्पय तु समयप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानन्दैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा नैवं करोती-

---

भाव ही है । इस प्रकार यह पूर्वपक्ष गाथा हुई । अब इसके आगे तीन सूत्रों से इसका परिहार करते हैं । अर्थात् उपर्युक्त तेरा मिथ्यात्व भाव क्यों है ? कि **अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि** द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है और वह असंख्यातप्रदेशी है ऐसा परमागम में कहा गया है सो उस आत्मा का असंख्यातप्रदेशीपना और शुद्धचैतन्यपने का अन्वय ही है लक्षण जिसका ऐसा द्रव्यपना भी उसमें पहले से ही है । **ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** सो उस असंख्यातप्रदेशीपन तथा द्रव्यपन को उस परिमाण से हीनाधिक तो किया नहीं जा सकता इसलिये आत्मा आत्मा को करती है यह वचन मिथ्या ही रहा । इस पर यदि यह कहा जाये कि असंख्यात का परिमाण तो जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से बहुत प्रकार का है अत एव यह जीव उस असंख्यात प्रदेशपने को जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट के रूप में अनेक प्रकार से करता रहता है तो इस प्रकार का कहना भी घटित नहीं होता क्योंकि **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीव का जो जीव रूप है वह प्रदेशों की अपेक्षा से जब विस्तार को प्राप्त हो तब महामत्स्य के काल में, या लोकपूरण काल में, और जघन्यरूप से सूक्ष्मनिगोदिया के शरीर के काल में, अथवा नाना प्रकार के मध्यम अवगाहनावाले शरीरों के ग्रहण के काल में दीपक के प्रकाश के समान विस्तार और उपसंहार के वश में होकर भी लोकमात्र-प्रदेशवाला ही रहता है ऐसा जानना चाहिये । **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** ऐसी दशा में जीव लोकमात्र-प्रदेश के परिमाण से भी हीन या अधिक किया जा सकता है क्या जिससे कि तू आत्म-द्रव्य को किया गया हुआ कह रहा है ? किन्तु आत्मा तो कभी हीन या अधिक नहीं होता, लोकप्रमाणप्रदेश वाला होकर रहता है । **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं** और हे भाई ! ज्ञायकभाव अर्थात् पदार्थ जो आत्मा है वह तो ज्ञानरूप में पहले से सदा से ही है यह बात भी मानी हुई है । **तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** और जब निर्मल और आनन्दरूप एक ज्ञान ही है स्वभाव जिसका, ऐसा शुद्धात्मा तो पहले से है ही तब फिर आत्मा को अपने आप आत्मा के द्वारा करता है यह नहीं कहा जा सकता, एक दोष तो यह हुआ । दूसरा दोष तुम्हारे

त्येकं दूषणं । द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते । एवं पूर्वपक्षपरिहार-रूपेण तृतीयान्तरस्थले गाथाचतुष्टयं गतं । कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति, कथं हिंसा ? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातं ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । तन्न, कायादिप्राणैः सह कथंचिद्भेदाभेदः । कथं ? इति चेत्, तप्तायःपिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः । यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति । न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव । तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत ।। भीतिरस्ति इति चेत् ? तर्हि त्यज्यतामिति । ततः स्थितमेतत् एकान्तेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति । किं तर्हि ? रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न

कहने में यह है कि निर्विकार–परमतत्त्व का जानने वाला जीव कर्ता नहीं होता यह भी पहले कहा जा चुका है । इस प्रकार जो शिष्य ने प्रश्न किया था उसका परिहार करते हुए इस तीसरे स्थल में चार गाथायें कही गईं ।

अब यहाँ कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न । यदि जीव से प्राण अभिन्न हैं तब तो जैसे जीव का नाश नहीं होता वैसे ही प्राणों का भी नाश नहीं होना चाहिये तो फिर हिंसा कैसे ? यदि प्राण जीव से भिन्न हैं ऐसा कहा जाय तो प्राणों के घात होने पर भी आत्मा का क्या बिगाड़ हुआ अतः फिर भी वहाँ हिंसा नहीं है ? अब इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं क्योंकि कायादि रूप प्राणों के साथ इस जीव का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है । कैसे है ? सो बताते हैं—जैसे तप्तायमान लोहे के गोले में से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिये व्यवहारनय के द्वारा तो कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है किन्तु निश्चयनय से यह जीव मरणकाल में जब परलोक जाता है तो कायादि प्राण इस जीव के साथ नहीं जाते इसलिये कायादिक प्राणों के साथ जीव का भेद भी है । यदि एकान्त से भेद ही मान लिया जाय तब तो जैसे दूसरे के शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर किसी को दुःख नहीं होता उसी प्रकार अपने शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध आता है । इस पर फिर शंकाकार का कहना है कि फिर जो हिंसा हुई वह व्यवहार से ही हुई निश्चय से नहीं । आचार्य उत्तर देते हैं कि यह ठीक बात है अर्थात् तुमने ठीक ही कहा है कि व्यवहार से ही हिंसा होती है, और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नारकादिकों का दुःख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है । हाँ, वह नारकादिकों का दुःख तुम्हें इष्ट है तो हिंसा करते रहो और यदि नरकादिक से तुम्हें डर लगता है तो हिंसा करना छोड़दो । बस ! इस सारे विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि सांख्यमत के समान जैनमत में आत्मा एकांत से अकर्ता नहीं है किन्तु रागादि रूप विकल्प से रहित जो समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के समय में तो आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं होता अवशेष काल में वह कर्मों का कर्त्ता होता है ।

भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयान्तरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ।।३६०-३७२।।

अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मात्मानमात्मत्वेन न जानाति, पञ्चेन्द्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवस्तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीति । अथवा बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमित्यजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धान्तं प्रयच्छति—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ।।३७३।।

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चौथे स्थल में तीन अन्तःस्थलों के द्वारा तेरह गाथायें पूर्ण हुईं ।। ३६०–३७२ ।।

विशेषार्थ—पं. जयचन्दजी का भावार्थ—सांख्यमती पुरुष को एकान्तकर अकर्त्ता शुद्ध-उदासीन चैतन्य मात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष के संसार का अभाव आता है। प्रकृति को संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है उसके सुख-दुःख आदि का संवेदन नहीं है इसलिये किसका संसार ? इत्यादि दोष आते हैं क्योंकि सर्वथा एकांत वस्तु का स्वरूप नहीं है इस कारण वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं। उसी प्रकार जो जैनी भी मानते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियों की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मत मानो। जब तक आप और पर का भेदविज्ञान न हो तब तक तो रागादिक अपने चेतन-रूप भाव कर्मों का कर्त्ता मानो। भेद-विज्ञान हुए पश्चात् [समाधिकाल में] शुद्धविज्ञानघन समस्त कर्तापन के अभाव कर रहित एक ज्ञाता ही मानो। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्त्ता और अकर्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद जैनियों का है तथा वस्तु स्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा मानने से पुरुष के संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकांत मानने में सब निश्चय-व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना।

आगे कहते हैं कि जब तक अपने शुद्ध-आत्मा को आत्मारूप से नहीं जानता है और पाँचों इन्द्रियों के विषय आदिक परद्रव्य को अपने से भिन्न पररूप नहीं जानता है तब तक यह जीव रागद्वेषों से परिणमन करता है। अथवा बाहर में पाँचों इन्द्रियों के विषय त्याग की सहायता से क्षोभरहित चित्त की भावना से पैदा हुआ जो विकार रहित सुखमयी अमृत रस का स्वाद उसके बल से मैं इन्द्रियों के विषय, कर्म और शरीर का घात करूँ इस बात को नहीं जानता हुआ स्वसंवेदन ज्ञान से रहित, कायक्लेश के द्वारा जो अपना दमन करता है, उस जीव को भेद ज्ञान की प्राप्ति होने के अर्थ सिद्धान्त को कहते हैं—

अर्थ—आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। वे अचेतन विषय में तो कुछ भी नहीं है इसलिये उन विषयों में आत्मा उसका क्या घात करे क्योंकि वहाँ घातने के लिये कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और

पंचेन्द्रि के विषय चेतन से परे हैं, सम्यक्त्व-बोध-व्रत से नहिं वे भरे हैं।
हे साधु चेतन अचेतन का तथापि, कैसा विघात करता? नहि वो कदापि ।।३७३।।

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३७४॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३७५॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
णवि तह्मि को वि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो ॥३७६॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु ॥३७७॥
रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥३७८॥ (षट्कम्)

दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति । केषु ? शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयेषु ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मसु औदारि-

---

चारित्र ये अचेतन कर्म में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कर्मों में भी आत्मा किसका क्या घात करे ? क्योंकि वहाँ घातने के लिए कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन काय में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कार्यों में भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योंकि वहाँ भी घातने के लिये कुछ भी नहीं है । घात जो हुआ है वह तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का हुआ कहा गया है पुद्गल द्रव्य का घात तो कुछ भी नहीं कहा गया है । क्योंकि जीव के जो कुछ गुण हैं वे निश्चय से परद्रव्य में नहीं है इसीलिये सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग नहीं होता है । राग, द्वेष और मोह ये सब भाव तो जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, जीव से अभिन्न रूप हैं और इसलिये रागादिक हैं वे शब्दादिक में नहीं हैं [अतः सम्यग्दृष्टि तो अपने उन अज्ञान भावरूप परिणामों का ही अभाव करता है] ॥३७३-३७८॥

टीका—दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों में से कुछ भी नहीं है । कहाँ नहीं हैं ? शब्दादि-

---

दुष्टाष्ट कर्म शुचि चेतन से परे हैं, सम्यक्त्व बोध व्रत से नहि वे भरे हैं ।
हे साधु चेतन अचेतन कर्म का भी, कैसा विघात करता नहि वो कदापि ॥३७४॥
काया अचेतन निकेतन हो तभी है, सम्यक्त्व बोध व्रत से नहि वो बनी है ।
हे ! साधु चेतन, अचेतन काय का भी, कैसा विघात करता नहि हा कदापि ॥३७५॥
विज्ञान चारित सुदर्शन ये भले ही, संमोह के वश मिटे क्षण में टले ही ।
होता न घात पर पुद्गल का इसी से, गाता यही समयसार सुनो रुची के ॥३७६॥
ज्ञानादि दिव्य गुण आतम में अनेकों, दीखे परन्तु परपुद्गल में न देखो ।
सम्यक्त्व की मुनि विराग, पराग पीते, पीते न राग विष, सो चिरकाल जीते ॥३७७॥
है जीव की यह अनन्य विभाववाली, संमोह रोष रति की दुखदा प्रणाली ।
रागादि ये इसलिए जड़ में नहीं है, हे साधु तेल, मिलता तिल में सही है ॥३७८॥

कादिपञ्चकायेषु । कथंभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु । तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि । किञ्च शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबन्धकारणभूतः कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्त्तव्यस्ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरङ्गकारणभूतास्त्याज्या—इति भावार्थः । तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं करोति—तद्यथा, **णाणस्स दसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादिपञ्चेन्द्रियाभिलाषरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धनिमित्तमनन्तानुबन्ध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च । तथैव मिथ्यात्वचारित्रस्य च । **णवि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** न च तत्राचेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्टः । किं च यथा घटाधारभूते हृते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषये हतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवन्ति न चान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति । कस्मात् ? अतिप्रसङ्गादिति भावः । **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न सन्ति खलु स्फुटं । **तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु** तस्मात्कारणान्नि-

---

रूप पञ्चेन्द्रियों के विषय में, ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मों में औदारिकादि पाँच शरीरों में नहीं है, क्योंकि शब्दादिक विषय, ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिकादि शरीर अचेतन हैं । इसलिये चेतन आत्मा इन जड़स्वरूप विषय, कर्म और शरीरों में से किसी का क्यों घात करे ? किन्तु शब्दादिक पंचेन्द्रिय विषयों के अभिलाष रूप जो भाव हैं जो कि शरीर के ममत्व रूप हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के बन्ध के कारणभूत हैं एवं जो मिथ्यात्व व रागादिस्वरूप हैं ऐसे विभाव परिणाम इस आत्मा के मन में स्थान किये हुये हैं उनका घात करना चाहिये । हाँ, ये शब्दादिक भी उन्हीं रागादि विभावों के पैदा होने में बहिरंग कारणभूत हैं । इसलिये इनका भी त्याग करना चाहिये, ऐसा आचार्य के कथन का तात्पर्य है । अब इससे आगे उपर्युक्त गाथा में कहे हुये विषय का ही और विशेष विवरण किया जाता है । वह ऐसे है **णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा रूप और शरीर के साथ ममत्व रूप से होने वाला अनन्तानुबंध्यादि राग-द्वेषरूप मिथ्याज्ञान है वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का निमित्तकारण है और इस आत्मा के मन में निवास करता है । उस मिथ्याज्ञान का निर्विकल्प-समाधिरूप-हथियार से घात करना चाहिये ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है । हाँ, केवल मिथ्याज्ञान का ही नहीं, किन्तु उसके साथ मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र का भी घात करना चाहिये । **ण वि तह्मि को वि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** क्योंकि उस अचेतन शब्द आदि विषय रूप, व द्रव्य कर्म और शरीर रूप पुद्गल-द्रव्य में कुछ भी घात नहीं कहा गया है । देखो, घड़े का आधारभूत जो कुछ भी है उसको नष्टकर देने पर भी घड़ा नष्ट नहीं होता है, वैसे ही रागादिभावों का निमित्त भूत जो पंचेन्द्रियों के विषय शब्दादिक हैं उसके नष्ट कर देने पर भी मन में होने वाले जो रागादिक हैं उनका नाश नहीं होता है । क्योंकि अन्य के घात कर देने पर भी अन्य का घात नहीं होता, ऐसा न्याय है; अन्यथा फिर अति प्रसंग दोष आता है कोई भी व्यवस्था नहीं बनती । **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** क्योंकि जीव के जो सम्यक्त्वादि गुण हैं वे शब्दादिक पर द्रव्यों में नहीं हैं अर्थात् उनका उनके साथ वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है यह बात स्पष्ट है । **तह्मा**

विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति। **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्ण-परिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानीजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्नपरिणामः। **एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रान्तिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न सन्ति। कस्मात्? शब्दादीनामचेतनत्वात्। ततः स्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति। इति गाथाषट्कं गतम् ॥३७३-३७८॥

एवमेतदायाति शब्दादीन्द्रियविषया अचेतनाश्चेतना रागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवन्ति ।

सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु इसलिये विषयों से रहित अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो सुख उसी में तृप्त होने वाला जो सम्यग्दृष्टि है उसका विषयों में राग नहीं होता। **रागो दोसो मोहो जीवस्सेव दु अणण्णपरिणामा** क्योंकि राग, द्वेष और मोह अज्ञानी जीव के परिणाम हैं जो कि अशुद्धनिश्चय से उससे अभिन्न हैं अर्थात् अशुद्ध अवस्था में जीव के साथ तन्मय होते हैं। **एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** इसलिये यद्यपि अज्ञानी जीव भ्रांत ज्ञान के वश होकर अचेतन रूप शब्दादिमय मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं उन्हीं में रागादिक की कल्पना करता है उन्हीं में रागादिक का आरोप करता है [कि अमुक वस्तु में मेरा राग है] तो भी शब्दादिक में रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादिक तो स्वयं अचेतन हैं। इसलिये इस विवेचन से यह बात निश्चित हुई कि रागद्वेष ये दोनों तभी तक उत्पन्न होते हैं जब तक यह आत्मा बहिर्दृष्टि वाला रहता है और इसके मन में त्रिगुप्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता। यह छह गाथाओं का अर्थ हुआ ॥३७३–३७८॥

विशेषार्थ– ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये आत्मा के गुण हैं। ये जहाँ स्वस्थ भाव में रहते हैं वहाँ आत्मा शुद्ध है किन्तु जहाँ ये विकृत हों वहाँ आत्मा ही विकृत होता है यह बात तो ठीक है। किन्तु ये आत्मा के गुण होने के कारण इनका आत्मा से ही सम्बन्ध है बाह्य शब्दादि विषयों से नहीं, क्योंकि इनके नष्ट होने पर भी इनका नाश नहीं होता और इनके बढ़ जाने पर इनकी वृद्धि नहीं होती। अतः जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह इनके लिए शब्दादि बाह्य विषयों को क्यों स्मरण करे? वह तो अपने उपयोग को इनकी ओर जाने भी नहीं देता है। हाँ, छद्मस्थ आत्मा के मन में इन बाह्य वस्तुओं को लेकर जो रागद्वेष-मोह उत्पन्न होता है अर्थात् उस रूप उसका जो ज्ञान परिणत होता है उसी से उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण का घात होता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव तो इन राग-द्वेष और मोह भावों को पैदा नहीं होने देता जिसके लिये वह त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहता है, यही उसका प्रयास है और इसी में उसका भला है।

आचार्य देव इसका निष्कर्ष निकालकर यह बतलाते हैं कि शब्दादि जो इन्द्रियों के विषय हैं वे तो स्वयं अचेतन हैं वे रागादिक की उत्पत्ति में वास्तव में नियमितरूप से कारण नहीं हो सकते––

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो[1] ।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ।।३७९।।

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो अन्यद्रव्येण बहिरङ्गनिमित्तभूतेन कुम्भकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते । स कः ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । **तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण** तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिबहिरङ्गनिमित्तरूपेण । कस्मात् इति चेत् । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पञ्चेन्द्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरङ्गनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायन्ते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुनः शब्दादिरूपा अचेतना भवन्तीति भावार्थः । एवं कोऽपि प्राथमिकशिष्यश्चित्तस्थान् रागादीन्न जानाति बहिरङ्गशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावाच्चिन्तयति तस्य सम्बोधनार्थं पूर्वगाथाषट्केन सह सूत्रसप्तकं गतम् ।।३७९।।

अर्थ—अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का विघात नहीं किया जा सकता इसलिये सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही उपजते हैं ।।३७९।।

टीका—अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो बहिरंग निमित्त जो कुंभकार आदि अन्य द्रव्य हैं उनके द्वारा उपादानरूप जो मिट्टी आदि अन्य द्रव्य हैं, उसके चेतन का अचेतनरूप से और अचेतन का चेतनरूप से इस प्रकार चेतन या अचेतन गुण का घात अर्थात् विनाश नहीं किया जा सकता । **तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण** इसलिये मिट्टी आदिक सब द्रव्य जो घटादि के रूप में उपजते हैं वे सब मृत्तिकादिरूप अपने-अपने उपादानकारण के रूप में उपजते हैं बहिरंग निमित्त कारण कुंभकारादि के रूप में नहीं उपजते क्योंकि उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा अटल नियम है । इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि यद्यपि अज्ञानी जीव के जो रागादि उत्पन्न होते हैं वे सब बहिरंग में निमित्तभूत पंचेन्द्रिय के विषय रूप जो शब्दादि हैं उन्हीं के द्वारा उपजते हैं फिर भी वे [रागादि] शब्दादिरूप अचेतन नहीं होते किन्तु चेतनतामय जीवस्वरूप होते हैं ।

इस प्रकार कोई नया शिष्य अपने चित्त में ठहरे हुए रागद्वेषादि भावों को तो जानता नहीं है किन्तु उन रागादिकों में निमित्त पड़ने वाले बहिरंगभूत शब्दादि विषयों का घात करने की चेष्टा करता है [क्योंकि वह मानता है कि इन शब्दादिकों ने ही मेरे रागादि पैदा किया है अतः इनको नष्ट कर दूँ ऐसा सोचता है] क्योंकि उसके निर्विकल्प समाधि ही है लक्षण जिसका ऐसा जो भेदज्ञान है उसका अभाव है । उस शिष्य को संबोधन करने के लिए ही आचार्य देव ने इससे पूर्व वाली ६ गाथाओं के साथ-साथ यह सातवीं गाथा कही है ।।३७९।।

भाई बना न सकता परके गुणों को, कोई पदार्थ, कहते जिन सज्जनों को ।
प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से, उत्पन्न हो लस रहे कि युगों-युगों से ।।३७९।।

---

[1] गुणुप्पाओ इति पाठः ।

अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदो निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तृ तदेव कर्मेत्युपादिशति—

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३८०॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३८१॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि य गिह्णदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणि य गिह्णदि ण य तम्मओ होदि ॥३८२॥
जह सिप्पिओ दु कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ॥३८३॥

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव रागद्वेष की उत्पत्ति को परद्रव्य से मानकर परद्रव्य के ऊपर कोप करता है, कि इस परद्रव्य ने मेरे रागद्वेष उपजा दिये। अतः उस रागद्वेष को नष्ट करने के लिए इस परद्रव्य को ही नष्ट करूँ इस प्रकार व्यर्थ उलझन में पड़ जाता है। उसे समझाने के लिए ही आचार्यश्री ने यह बात कही है कि हे भाई ! रागद्वेष की उत्पत्ति तो अपने अज्ञान भाव से अपने में ही होती है। यह सब रागद्वेष तेरे ही अशुद्ध परिणाम हैं, सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त हो और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो, ऐसा प्रयत्न कर। इन शब्दादि को भला-बुरा मानकर इनके पीछे क्यों पड़ा है अपितु इन्हें भुलाकर अपने आत्मस्वरूप के अनुभव करने में तल्लीन हो रह।

आगे कहते हैं कि व्यवहार से कर्ता और कर्म का भेद है परन्तु निश्चय से तो जो कर्ता है सो ही कर्म है ऐसा उपदेश करते हैं—

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कुण्डलादि आभूषण कर्म को करता है किन्तु वह आभूषण आदि के साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्म को करता है फिर भी उससे तन्मय नहीं होता। और जैसे कारीगर हतोड़ा आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डलादि कर्म करता है फिर भी उसके साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी मन, वचन, कायादि करणों के द्वारा कर्म करता है तो भी उसके साथ तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी उन उपकरणों को ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी कायादि रूप

शिल्पी स्वयं मुकुट आदिक को बनाते, होते न तन्मय नहीं पर रूप पाते ।
मोहादि कर्म करता रहता निराला, आत्मा कभी न तजता निज चित्त-शाला ॥३८०॥
हस्तादि से मुकुट आदिक को बनाते, शिल्पी न शिल्पमय किन्तु हुए दिखाते ।
है जीव कर्म करता निज इन्द्रियों से, तादात्म्य पै न रखता उन पुद्गलों से ॥३८१॥
शस्त्रास्त्र शिल्प करने गहता अनेकों, शिल्पी न तन्मय बना वह भिन्न देखो ।
स्वीकारता यदपि कर्म तथापि पापी, आत्मा न कर्ममय आप बना कदापि ॥३८२॥
है शिल्प कार्य करता धन-धान्य पाता, शिल्पी अनन्य बनता नहिं अन्य भाता ।
नाना प्रकार फल भोग शुभाशुभों के, आत्मा न पुद्गल बना निज बोध खोके ॥३८३॥

एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं[1] समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३८४॥
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ॥३८५॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दु हि जीवो ॥३८६॥ (सप्तकम्)

यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः । हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुण्डलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैवाज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतः सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति । कैः कृत्वा ? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादककरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि

करणों को ग्रहण करता है तो भी उनसे तन्मय नहीं होता । तथा जैसे शिल्पी कुण्डलादि कर्मों के फल को भोगता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी कर्म के फल सुखदुःखादि को भोगता है परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता । इस प्रकार यह व्यवहारनय का मत है जो कि संक्षेप से कहने योग्य है । अब आगे निश्चय का वचन है उसे सुनो—जो कि अपने परिणामों के द्वारा किया हुआ होता है अर्थात् अपने रागादि विकल्पों के द्वारा सम्पादित होता है । जैसे कि शिल्पी अपने परिणामों की जैसी चेष्टा करता है तब वह उस चेष्टा से पृथक् नहीं होता तन्मय रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने परिणाम स्वरूप कर्म को करता है तो उस चेष्टा रूप कर्म से वह पृथक् नहीं रहता, किन्तु तन्मय रहता है । तथा जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरंतर दुःखी होता है तो वह उस दुःख से भिन्न नहीं रहता किन्तु तन्मय रहता है, उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी दुःखी रहता है ॥३८०-३८६॥

टीका—जैसे भूतलपर हम देखते हैं कि सुनार आदि कारीगर स्वर्ण के कुण्डलादि आभूषण को बनाता है । किन से बनाता है ? हथोड़े आदि उपकरणों के द्वारा बनाता है । उन हतोड़े आदि उपकरणों को अपने हाथ में ग्रहण करता है तब उन सोने के कुण्डलादि आभूषणों से और हतोड़े आदि उपकरणों से वह तन्मय नहीं हो जाता । वैसे ही ज्ञानी जीव भी निष्क्रिय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होता हुआ द्रव्य कर्मों को करता है । किन के द्वारा करता है ? कर्मों के उत्पादन करने वाले मन-वचन-काय के उपकरणों द्वारा करता है । वैसे ही यह जीव भी

आत्मा कुकर्म करता फल चाखता है, ऐसी अवश्य कहती व्यवहारता है ।
पै भोगता व करता परिणाम को ही, ऐसा सुनिश्चय कहे सुन ये विमोही ॥३८४॥
मैं कुण्डलादिक करूँ मन भाव लाता, शिल्पी उसी समय तन्मय हो सुहाता ।
रागादिभाव करता जब जीव ऐसा, तद्रूप आप बन जाय तदीव ऐसा ॥३८५॥
ऐसा विकल्प कर आकुल हो उठेगा, शिल्पी सुनिश्चित दुःखी बन वो मिटेगा ।
रागाभिभूत बनना निज भूल पाता, जो जीव दुःखमय हो प्रतिकूल जाता ॥३८६॥

---

[1] दरिसणं इति पाठः ।

कर्मोत्पादककरणान्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति तथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकाय-व्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टङ्कोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति। तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशनपानादिकमूल्यं लभते भुङ्क्ते च तथापि तेनाशनपानादिना सह तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं बहिरङ्गेष्टानिष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थ-मनोहरानन्दसुखास्वादमलभमानो भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति। **एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टान्तम् उदाहरणं हे शिष्य! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण **सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि** इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु। यत् कथंभूतं? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो** यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुण्डलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तया चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः। **तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो** तथैवाज्ञानी जीवः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूपः कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिरूपं भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्यः इति भावकर्मकर्तृत्वगाथा गता। **जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि** यथा स एव शिल्पी कुण्डलादिक-

---

कर्मोदय के वश होकर कर्मों के उत्पादन करने वाले मन-वचन-काय के व्यापाररूप कर्मों के उत्पादन करने वाले उपकरणों के साथ तन्मय नहीं होता, किन्तु अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायकपने से यह जीव उनसे भिन्न ही रहता है। जैसे सुनारादि कारीगर सोने के कुण्डलादि बन जाने पर उनका आहार-पानादिरूप जो कुछ मूल्य प्राप्त करता है और उसे भोगता भी है, फिर भी वह उस अशनपानादि से तन्मय नहीं होता है। वैसे ही जीव भी अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुए मनोहर आनन्दमयी सुख के स्वाद को नहीं पाता हुआ बाह्य में दीखने वाले अशनपानादिरूप शुभ और अशुभ कर्म के फल को भोगता है फिर भी वह अशनपानादिरूप नहीं बन जाता। **एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण** इस पूर्वोक्त रीति से चार गाथाओं द्वारा हे भाई द्रव्यकर्म के कर्तापन और भोक्तापन रूप जो व्यवहारनय है उसका मत या दृष्टांत या उदाहरण संक्षेप में बताया गया है। **सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि** अब इसके आगे निश्चयनय का वचन रूप व्याख्यान कहा जाता है उसको सुनो—जो कि रागादि विकल्प के द्वारा सम्पादित एवं आत्मा के परिणाम द्वारा किया होता है। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो** जैसे सुनारादि कारीगर अपने मन में जब इस प्रकार का विचार करता है कि मैं इस-इस प्रकार के कुण्डलादि बनाऊं तब वह उस विचार रूप चेष्टा से अभिन्न अर्थात् तन्मय होता है। **तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो** वैसे ही केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति होना है स्वरूप जिसका ऐसा जो कार्यसमयसार उसका जो साधक निर्विकल्प समाधि रूप कारणसमयसार उसका अभाव हो जाने पर यह अज्ञानी जीव अशुद्ध-उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा मिथ्यात्व-रागादिरूप भावकर्म को करने वाला होता है तब उस समय उस भाव-कर्म के साथ अभिन्न होता है। यह भावकर्मके कर्तापन की गाथा हुई। **जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पओ णिच्च दुक्खिदो होदि** जैसे कि कारीगर अपने मनमें यह विचार करता है कि मैं अमुक-अमुक प्रकार के कुण्डलादि बनाऊं ऐसा विचार करता हुआ वह नियम से अपने चित्त में आकुल-व्याकुलतारूप दुःख को प्राप्त होता है उस विचार

मेवमेकं करोमीति मनसि चेष्टां कुर्वाणः सन् चित्तखेदेन नित्यं दुःखितो भवति । न केवलं दुःखितः । **तत्तो सिया अणण्णो** तस्माद् दुःखविकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च स स्यात् । **तह चेट्ठंतो दु हि जीवो** तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्ध-ज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारः, तस्यालाभे सुख-दुःखभोक्तृत्वकाले हर्षविषादरूपां चेष्टां कुर्वाणः सन्मनसि दुःखितो भवति इति । तया हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्ध-निश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टान्तेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुङ्क्ते च ॥३८०-३८६॥

तथैवाशुद्धनिश्चयेनभावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथासप्तकं गतम् ।

अथ ज्ञानं ज्ञेये वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं न भवति इति निश्चयऽ मुख्यत्वेन गाथापञ्चकम् यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकम्, एवं समुदायेन दशकं । तद्यथा—

से वह केवल दुःखी ही नहीं होता, किन्तु **तत्तो सिया अणण्णो** उसके अनुभव में आने वाले दुःख रूप विकल्प से अभिन्न ही रहता है । **तह चेट्ठंतो दुहि जीवो** उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्यसमयसार व उस कार्यसमयसार का साधक जो निश्चय रत्नत्रयात्मक कारणसमयसार है उसके लाभ में अर्थात् अभाव में, सुख-दुःखादि के भोक्तापन के काल में हर्ष-विषादादि रूप चेष्टा को करता हुआ वह अपने मन में दुःखी होता है, तब वह उस हर्ष-विषादादि रूप चेष्टा के साथ अशुद्ध उपादान रूप अशुद्धनिश्चयनय के द्वारा अभिन्न अर्थात् तन्मय होकर रहता है ।

इस प्रकार पूर्व कथित रीति से सुनार आदि के दृष्टांत द्वारा जैसे बताया गया है वैसे यह अज्ञानी जीव निर्विकल्परूप स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होकर व्यवहारनय के द्वारा तो द्रव्यकर्म को करता है व उसे भोगता है इसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा भाव कर्म को करता है और भोगता है, इस प्रकार के व्याख्यान को लेकर इस छठे स्थल में ये सात गाथायें पूर्ण हुईं ॥३८०–३८६॥

विशेषार्थ – यहाँ आचार्य देव ने बतलाया है कि व्याकरण के द्वारा बोलने में कर्त्ता-कर्म आदि की पद्धति भिन्न और अभिन्न रूप से होती है । जैसे बढ़ई वसूले आदि से रथ बनाता है यह तो भिन्न कर्त्ता-कर्म का उदाहरण है और 'दीपक अपने द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है' यह अभिन्न कर्त्ता-कर्म का उदाहरण है । सो छद्मस्थ आत्मा जब तक समाधिस्थ रहता है तब तक अपने आपका अनुभव करते हुए सहजानन्द का भोगने वाला रहता है, किन्तु जब समाधि से च्युत होकर बाह्यदृष्टि पर आता है तो शुभाशुभ रूप कर्म करने लगता है और उनके फलस्वरूप सुख-दुःख को भोगने वाला होता है ।

इस प्रकार आत्मा के भिन्न कर्तृत्व और अभिन्न कर्तृत्व को बताकर आगे यह बतलाते हैं कि ज्ञान ज्ञेयवस्तु को जानता है फिर भी निश्चयनय से उससे तन्मय नहीं होता । जैसे कि सफेद मिट्टी दीवाल को सफेद करती है फिर भी वह मिट्टी दीवाल से भिन्न रहती है । इस प्रकार निश्चय की मुख्यता से पाँच गाथाएँ कहकर, आगे की पाँच गाथाओं में यह बतलाते हैं कि खडिया दीवाल को सफेद कर देती है––यह व्यवहार है, वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेयवस्तु को जानता है यह व्यवहार है । इस प्रकार दोनों मिलाकर दस गाथायें हैं––

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३८७॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३८८॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ॥३८९॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३९०॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३९१॥

अर्थ—अब यहाँ अभिन्नकर्ता-कर्मरूप निश्चय कथन को और भिन्नकर्ता-कर्मरूप व्यवहार कथन को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं—जैसे सफेदी करने वाली खड़िया मिट्टी अन्य भीत आदि वस्तु को सफेद करने वाली है इसलिये खड़िया है ऐसी बात नहीं किन्तु वह तो अपने आप ही खड़िया मिट्टी है भीत से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार जो ज्ञायक है, जानने वाला है, वह परद्रव्य को जानने वाला है इसलिये ज्ञायक है, ऐसा नहीं है किन्तु वह तो सहज ज्ञायक रूप ही है। इसी प्रकार उपरोक्त उदाहरण के समान जो दर्शक है वह भी परद्रव्य को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु वह तो अपने सहज स्वभाव से ही दर्शक है। इसी प्रकार संयत भी पर को त्यागने से संयत नहीं हुआ है किन्तु अपने भाव से संयत है। इसी प्रकार दर्शन भी अर्थात् श्रद्धान भी पर वस्तु के यथार्थ श्रद्धान करने से दर्शन नहीं हुआ है किन्तु वह भी सहज स्वभाव से ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान है। ऐसा यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय में निश्चयनय का कहा हुआ वचन है। अब जो व्यवहारनय का वचन है उसे संक्षेप से कहते हैं

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
है ज्ञेय, ज्ञेय वश ज्ञेय प्रकाशता है, वो ज्ञान, ज्ञान रह ज्ञायक भासता है ॥३८७॥
दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
है दृश्य, दृश्य वश दृश्य दिखा रहा है, आत्मा सुदर्शक सुदर्शक भा रहा है ॥३८८॥
दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
त्यों त्याज्य त्याज्य पर त्याग न तन्मयी है, साधू स्वयं सहज संयत संयमी है ॥३८९॥
दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
श्रद्धेय के वश नहीं समदृष्टि वाला, साधू स्वदृष्टि वश ही समदृष्टि वाला ॥३९०॥
ऐसे विबोध व्रत दर्शन तीन प्यारे, होते सुनिश्चय सदा अघ हीन सारे ।
संक्षेप में अब सुनो व्यवहार गाथा, सन्मार्ग साधक सुनिश्चय का विधाता ॥३९१॥

जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादावि सएण भावेण ॥३९२॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवोवि सएण भावेण ॥३९३॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विरमदि णादावि सएण भावेण ॥३९४॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३९५॥
एसो ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३९६॥ (दशकम्)

यथा लोके श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयी न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन

उसे सुनो। जैसे खड़िया अपने स्वभाव के द्वारा भीत आदि परद्रव्यों को सफेद करती है उसी प्रकार जानने वाला भी अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को जानता है, उसी प्रकार दर्शक अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को देखता है तथा संयत अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को छोड़ता है और श्रद्धान करने वाला अपने स्वभाव के द्वारा ही परद्रव्य का श्रद्धान करता है। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में व्यवहारनय का जो निर्णय है वह कहा गया है। इसी प्रकार और बातों में भी लगा लेना चाहिये ॥ ३८७–३९६ ॥

टीका—जैसे संसार में हम देखते हैं कि श्वेतिका अर्थात् सफेद खड़िया मिट्टी निश्चय से परद्रव्यरूप भींत आदि की नहीं हो जाती अर्थात् उससे लगकर भी भिन्न रहती है तन्मय नहीं

चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रंग यही दिलाती।
विज्ञान से विशद विश्व सुजानता है, ज्ञाता बना सहज भाव सुधारता है ॥३९२॥
चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही दिलाती।
आलोक से सकल लोक-अलोक देखा, दृष्टा बना विमल दर्शन पा सुरेखा ॥३९३॥
चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही दिलाती।
यों जान मान परको पर रूप ज्ञानी, है त्यागता व भजता निजरूप ध्यानी ॥३९४॥
चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही बनाती।
जीवादि तत्त्व भर में रख पूर्ण आस्था, सम्यक्त्व धारक चले अनुकूल रास्ता ॥३९५॥
ज्ञानादि जो न निज की करते उपेक्षा, भाई तथापि पर की रखते अपेक्षा।
सिद्धान्त में बस यही व्यवहार माना, सर्वत्र यों समझना भवपार जाना ॥३९६॥

ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः तर्हि किं भवति ? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव च श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन दर्शकः आत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन संयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति । संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानन्दलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं, सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन गाथा गता । **एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते** एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं कृतं । कस्य संबन्धित्वेन ? निश्चयनयस्य । क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रे । **सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं** इदानीं हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय । किं ? वक्तव्यं व्याख्यानं । कस्य संबन्धित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य संबन्धिव्यवहारः ? **से** तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रत्रयस्यं । केन ?

होती किन्तु बाहर में ही रहती है अर्थात् श्वेतिका तो श्वेतिका ही है और अपने आपके स्वरूप में ही रहती है । इसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत द्वारा ज्ञानात्मा भी निश्चय के द्वारा घटपटादि ज्ञेय-पदार्थों का ज्ञायक नहीं होता है अर्थात् उन्हें जानते हुए भी उनसे तन्मय नहीं होता । फिर क्या होता है ? कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही होता है अपने स्वभाव में रहता है । इस प्रकार यहाँ पर आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि ज्ञान ज्ञेय के रूप में परिणमन नहीं करता जैसा कि ब्रह्म अद्वैतवादियों के यहाँ ज्ञान ज्ञेयरूप स्वभाव विशेष में परिणमन कर जाता है । इस प्रकार की कथन करने वाली गाथा हुई । इसी प्रकार श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर दर्शक आत्मा भी निश्चय से दृश्यरूप जो घटपटादि पदार्थ हैं उनका दर्शक नहीं होता अर्थात् उनके साथ में तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? कि दर्शक तो दर्शक ही होता है अपने स्वरूप में रहता है । इस प्रकार सत्तावलोकनरूप दर्शन दृश्यमान पदार्थों के द्वारा पररूप में परिणमन नहीं कर जाता, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से दूसरी गाथा हुई । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर संयत आत्मा त्याज्य जो परिग्रहादि परद्रव्य हैं उनका निश्चय से त्यागने वाला नहीं होता अर्थात् उनके साथ में तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? कि संयत तो संयत ही रहता है अर्थात् निर्विकार अपना मनोहर आनन्द है लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वरूप में ही रहता है । इस प्रकार वीतराग चारित्र की मुख्यता से तीसरी गाथा हुई । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत द्वारा जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, वह श्रद्धान करने योग्य जो वहिर्भूत जीवादि पदार्थ हैं उनका श्रद्धान करने वाला निश्चय से नहीं होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है अपने स्वरूप में रहता है । इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की मुख्यता से यह चौथी गाथा हुई ।

एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते इस प्रकार पूर्व की चार गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में निश्चय सम्बन्धी कथन का व्याख्यान हुआ । **सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से** अब हे शिष्य ! तुम व्यवहार के व्याख्यान को सुनो । जो कि व्यव-

समासेण संक्षेपेण । इति निश्चयनयेन व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपञ्चकं गतं ।

अथ व्यवहारः कथ्यते यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुड्यादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति न च कुड्यादिपरद्रव्येण सह तन्मयी भवति । का कर्त्री ? श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका । केन कृत्वा श्वेतं करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन । तथा तेन श्वेतमृतिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ कर्ता ? ज्ञातात्मा । केन जानाति ? स्वकीयज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ ? ज्ञातात्मा । केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । स कः कर्ता ? ज्ञातात्मा । केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्पसमाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । स कः कर्ता ? सम्यग्दृष्टिः । केन कृत्वा ? स्वकीयश्रद्धानपरिणामेनेति चतुर्थगाथा गता । **एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदंसणचरित्ते भणिदो** भणितः कथितः । कोऽसौ कर्मतापन्नः ? एष प्रत्यक्षीभूतः, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन निर्दिष्टो विनिश्चयः, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थः । कस्य संबन्धी ? व्यवहारनयस्य । क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये । **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव**

हारनय का व्याख्यान पूर्वोक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में है । **समासेण** जिसको मैं संक्षेप में कहता हूँ । इस प्रकार निश्चयनय के व्याख्यान की मुख्यता से पाँच सूत्र कहे अब व्यवहार का कथन किया जाता है—जैसे लौकिक में परद्रव्य भींत आदि है उनको श्वेत खड़िया मिट्टी अपने श्वेत भाव के द्वारा सफेद करती है फिर भी उन भींत आदि परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं हो जाती । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत से समझना चाहिये कि ज्ञाता आत्मा परद्रव्य घटपटादि जो ज्ञेय द्रव्य हैं उनको व्यवहार से जानता है फिर भी परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं हो जाता, मात्र अपने ज्ञान भाव के द्वारा उन्हें जानता ही है । यह पहली गाथा का अर्थ हुआ । उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर ज्ञान स्वरूप आत्मा दृश्यमान घटपटादि परद्रव्य को व्यवहार से देखता है किन्तु उस परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता अपितु मात्र अपने दर्शन गुण के द्वारा उसे देखता है । यह दूसरी गाथा हुई । उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर ज्ञाता आत्मा परिग्रहादिक जो परद्रव्य हैं उनको व्यवहार से त्यागता है किन्तु वह परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होता । तो फिर वह छोड़ता कैसे है ? कि अपने निर्विकल्प रूप समाधि परिणाम के द्वारा उनसे उदासीन हो जाता है । यह तीसरी गाथा हुई । उसी प्रकार उस श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर यह सम्यग्दृष्टि जीव जीवादिक पर द्रव्यों को व्यवहार से अर्थात् भेदरूप से श्रद्धान करता है किन्तु वह उनके साथ तन्मय नहीं हो जाता है । किसके द्वारा नहीं होता है ? कि अपने श्रद्धान परिणाम के द्वारा वह सम्यग्दृष्टि जीव परद्रव्य को परद्रव्य समझते हुए अपने श्रद्धान में अपने से भिन्न मानता है इस प्रकार यह चौथी गाथा का अर्थ हुआ । **एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदंसण चरित्ते भणिदो** यह प्रसंग प्राप्त हुआ जो कि पूर्वोक्त चार गाथाओं से कहा गया है वह विनिश्चय अर्थात् व्यवहार अनुयायी निर्णय कहा गया है । किसके विषय में ? ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में अर्थात् व्यवहारनय के द्वारा उपर्युक्त प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निर्णय किया जाता है । **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** जैसा व्यवहार ऊपर ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विषय

णादव्वो इदमोदनादिकं मया भुक्तं इदमहिविषकण्टकादिकं त्यक्तं गृहादिकं कृतं च,तत्सर्वं व्यवहारेण । निश्चयेन पुनः स्वकीयरागादिपरिणाम एवं कृतो भुक्तश्च । एव मिथ्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति । किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः । यदि पुनः परकीयसुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा । यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति । ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः, तस्य, किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहारस्रूपेणापि सत्यो न भवति सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्गः । एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति । तत एतदायाति ग्रामारामादि सर्वं

में बतलाया गया है वैसा और भी अवस्थाओं में लगा लेना कि जैसे यह भातादि मेरे द्वारा खाया गया, यह साँप का विष व कंटकादि मेरे द्वारा छोड़ दिया गया, यह घर मेरे द्वारा बनाया गया यह सब तो व्यवहार है यदि निश्चय से कहें तो इस प्रकार कहना चाहिये कि इन ओदनादिक को खाने का मैंने अपना रागरूप परिणाम किया और उसी को भोगा । इसी प्रकार और सब स्थानों में भी निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग को समझ लेना चाहिये ।

इस पर फिर भी प्रश्न होता है कि यदि परद्रव्य का जानना व्यवहार से ही होता है तब फिर सर्वज्ञ भी व्यवहार से ही कहे जायेंगे, निश्चय से नहीं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि—हे भाई ! जिस प्रकार आत्मा अपने सुखादि को तन्मय होकर जानता है वैसे बाह्य द्रव्यों को तन्मय होकर नहीं जानता इसलिये उस जानने को व्यवहार से जानना कहा है । यदि दूसरे के सुखादि को भी यह आत्मा अपने सुखादि के समान तन्मय होकर जाने तब तो जैसे अपने संवेदन में सुखी होता है उसी प्रकार पर के सुख-दुःख के संवेदन काल में भी सुखी-दुःखी होना चाहिये सो वह होता नहीं है । यद्यपि सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीय सुख संवेदन की अपेक्षा तो निश्चय रूप है किन्तु परकीय सुख के संवेदन की अपेक्षा से वही सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवहाररूप है अर्थात् परकीय सुख को जानता है फिर भी उससे भिन्न है इसलिये उसे व्यवहाररूप कहा गया है, किन्तु छद्मस्थ की अपेक्षा तो दूसरे के सुख को जानने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान भी वास्तविक है—निश्चय है [काल्पनिक नहीं है] ।

यहाँ पर शंकाकार फिर शंका करता है कि बौद्धमती भी ऐसा कहते हैं कि हमारे सौगत बुद्ध भगवान् व्यवहार से सर्वज्ञ होते हैं, फिर आप उनको दूषण क्यों देते हो ? इसका परिहार करते हैं कि सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहाँ झूठा ही है, किन्तु जैनमत में तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है । यदि लोक व्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोक व्यवहार मिथ्या हो जाये, ऐसा होने पर कोई भी व्यवस्था नहीं बने । इसलिए जैसा ऊपर कहा गया है वह ठीक ही है कि परद्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता

खल्विदं ब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति पर ब्रह्माद्वैतवादिनो वदन्ति तन्निषिद्धं। यद्यपि सौगतो वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च ज्ञानाद्भिन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं। कथं ? इति चेत्, यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभावः प्राप्नोति यदि वा ज्ञेयं ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं स च प्रत्यक्षविरोधः। एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यानमुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं गतम् ॥३८७-३९६॥

अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदशति—

कम्मं जं पुव्वकदं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३९७॥

है देखता है किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म अद्वैतवादी जो कहा करते हैं कि ग्राम, बगीचा आदि जो वस्तुयें हैं वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं ब्रह्म के सिवाय कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस बात का यहाँ पर निषेध किया गया है। सौगत लोग जो कहते हैं कि ज्ञान ही घटपटादि रूप परिणमन कर जाता है, ज्ञान से भिन्न कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस कहने का भी निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञेय रूप में परिणमन करता है तो ज्ञान के अभाव का प्रसंग आता है और ज्ञेय ज्ञान रूप से परिणमन करता है तो ज्ञेय के अभाव का प्रसंग आता है एवं दोनों का अभाव ठहरता है सो प्रत्यक्ष विरोध है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार की मुख्यता से समुदाय रूप से इस सातवें स्थल में दस सूत्र हुए। ॥ ३८७–३९६ ॥

विशेषार्थ—आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है, उसी को देखना, जानना, श्रद्धान करना, एवं परद्रव्य से निवृत्त होना यह उसी के रूपान्तर हैं। निश्चयनय से जब सोचें तो आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक कहा जा सकता और न श्रद्धाता [श्रद्धा करने वाला] और न त्याग करने वाला ही कहा जाता है क्योंकि निश्चयनय में आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी सम्बन्ध ही नहीं है अतः परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धाता, एव त्याग करने वाला तो यह आत्मा व्यवहार से ही कहा जाता है, क्योंकि परद्रव्य के साथ में जो नैमित्तिकादि सम्बन्ध होता है वह व्यवहार का ही विषय होता है। यही बात आचार्यदेव ने ऊपर बताई है सो यह निश्चयनय का और व्यवहारनय का अपना-अपना विषय है जो अपने-अपने स्थान पर ठीक है। इसे भले प्रकार समझकर यथार्थ श्रद्धान करना यही पाठकों का कर्त्तव्य है।

अब इसके आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचना के रूप परिणत हुआ स्वयं तपोधन ही अभेदनय से निश्चयचारित्र होता है ऐसा व्याख्यान आगे की गाथाओं में करते हैं—

अर्थ—पहले के किये हुए कार्यों से ममत्व रहित होना प्रतिक्रमण है, आगे न करने का दृढ़ संकल्प करना

अज्ञान से विगत में निजभाव बाना, भूला किया अशुभ या शुभ भाव नाना।
शुद्धात्म को सजग हो उनसे छुड़ाना, माना प्रतिक्रमण आज उसे निभाना ॥३९७॥

कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि बज्झदि भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ।।३९८।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेय वित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा ।।३९९।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कमदि ।
णिच्चं आलोचेदिय सो हु चरित्तं हवदि चेदा ।।४००।। (चतुष्कम्)

णियत्तदे अप्पयं तु जो इहलोकपरलोकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षालक्षणनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मके निर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानन्दस्वभावसुखरसास्वादसमरसीभावपरिणामेन सालम्बने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा

सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान के कार्यों से भी दूर रहना आलोचना कहलाती है। यही चारित्र का विधान है सो ही बता रहे हैं कि अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत पूर्वकाल में किये हुए जो शुभाशुभ कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आपको छुड़ा लेता है वह आत्मा ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। आगामी काल में शुभ या अशुभ कर्म जिस भाव के होने पर बँधे उस अपने भाव से जो ज्ञानी दूर रहता है वह ज्ञानी ही प्रत्याख्यान होता है। अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत शुभ या अशुभ कर्म वर्तमान में उदय में आ रहा है उसे भी जो ज्ञानी दोष मानता है अर्थात् उससे भी बचना चाहता है, मिटा देने योग्य भावना करता है वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप होता है। एवं जो इसी प्रकार के प्रतिक्रमण को, प्रत्याख्यान को और आलोचना को निरन्तर करता रहता है वह ज्ञानी जीव निश्चय से चारित्रवान् होता है ।। ३९७–४०० ।।

टीका– णियत्तदे अप्पयं तु जो जो कारणसमयसार इसलोक और परलोक की आकांक्षामय ख्याति, पूजा और लाभ तथा दृष्ट, श्रुत और अनुभूत जो भोग उनकी आकांक्षा रूप निदानबंध इत्यादि समस्त परद्रव्यों का जो आलम्बन उससे उत्पन्न शुभाशुभ संकल्प-विकल्प से रहित तथा विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभाव जो आत्मतत्त्व उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय सो ही है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका ऐसी जो निर्विकल्प रूप परम समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानन्द स्वभावरूप सुखरस का आस्वाद वही हुआ समरसीभाव परिणाम, इसके आलम्बन से भरा पूरा है और जो केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की

भावी शुभा-शुभ विभाव विकार देखो ! होंगे प्रमादवश आतम में अनेकों ।
आत्मा स्वयं यदि उन्हें निज से हटाता, है प्रत्यख्यान वह है सुख का विधाता ।।३९८।।
तत्काल जो कलुषराग तरङ्गमाला, है जन्मती हृदय में दुख पूर्ण हाला ।
विज्ञान से बस उसे झट से हटाना, आलोचना वह रही प्रभु का बताना ।।३९९।।
जो प्रत्यख्यान करता रुचिसंग साता, साधू प्रतिक्रमण धार सदा सुहाता ।
आलोचना सरसि में डुबकी लगाता, चारित्र निश्चय ! जिसे शिर मैं नवाता ।।४००।।

यः कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं पुव्वकदं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो** शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् **सो पडिक्कमणं** स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमणं भवतीत्यर्थः । **णियत्तदे जो** अनन्तज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिस्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वरागादिपरिणामे सति बध्यते । तस्मात् **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** स एवं गुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं । **जो वेदादि** नित्यानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदुःखजीवितमरणादि विषये सर्वापेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । किं जानाति ? **जं** यत्कर्म । **तं** तत् । केन रूपेण ? **दोसं** दोषोऽयं मम स्वरूपं न भवति । कथंभूतं कर्म ? **उदिण्णं** उदयागतं । पुनरपि कथंभूतं ? **सुहमसुहं** शुभाशुभं । पुनश्च किंरूपं ? **अणेयवित्थरविसेसं** मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं । **संपडिय** संप्रतिकाले खलु स्फुटं । **सो आलोयणं चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यम् । **णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्चं अलोचेदिय** निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति । **सो दु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन

अभिव्यक्ति रूप कार्यसमयसार का समुत्पादक है ऐसे उस कारणसमयसार में स्थित होकर अपने आपको दूर कर लेता है । किससे दूर करता है ? **कम्म जं पुव्वकदं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो** अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण जो पूर्वकाल के किए शुभाशुभ कर्म हैं उनसे दूर कर लेता है । **सो पडिक्कमणं** वह पुरुष ही अभेदनय से निश्चयप्रतिक्रमण होता है । तथा **णियत्तदे जो** अनन्तज्ञानादि स्वरूप जो आत्मद्रव्य, उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव स्वरूप अभेदरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे परम सामायिक में स्थित होकर आत्मा को बचा लेता है । किससे बचा लेता है ? **कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभ और अशुभरूप अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ भविष्यत्कालीन कर्म जिस मिथ्यात्व या रागादिरूप परिणाम के होने पर बन्धता है उस परिणाम से बचा लेता है दूर कर रखता है । **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** इस प्रकार के गुणवाला वह तपोधन ही अभेदनय से निश्चयरूप प्रत्याख्यान होता है ऐसा जानना चाहिये । तथा **जो वेदादि** सदा बना रहने वाला जो आनन्द वही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेदरत्नत्रयवाले एवं सुख और दुःख तथा जीवन और मरण आदि के विषय में समभाव रखने वाले सब ओर उपेक्षा रखने वाले संयम में स्थित होकर वेदता है, अनुभव करता है जानता है । क्या जानता है? कि **जं तं** जो कोई कर्म है वह **दोसं** मेरा किया हुआ दोष है, किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है । वह कौनसा कर्म ? **उदिण्णं** जो कि उदय में आ रहा है । फिर वह कैसा है ? कि **सुहमसुहं** शुभ और अशुभरूप है । फिर कैसा है कि **अणेयवित्थरविसेसं** मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के फैलाव मे फैला हुआ है। **संपडिय** जो कि वर्तमान काल में स्पष्ट हो रहा है **सो आलोयणं चेदा** सो वह उपर्युक्त प्रकार से जानने वाला आत्मा ही अभेदनय से आलोचना रूप होता है ऐसा जानना चाहिये । **णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्च आलोचेदिय** निश्चयरत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसमें स्थित होकर जो जीव उपर्युक्त निश्चयप्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना रूप अनुष्ठान नित्य ही सदा

निश्चयचारित्रं भवति । कस्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात् । एवं निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।। ३९७–४०० ।।

अथेन्द्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीवः करोतीत्याख्याति—

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि ।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ।।४०१।।

काल करता रहता है, **सो दु चरित्तं हवदि चेदा** वह सचेतन पुरुष ही अभेदनय निश्चयचारित्र होता है क्योंकि शुद्धात्मा के स्वरूप में चरण करना तल्लीन होना सो चारित्र है इस प्रकार का आर्ष वचन है ।

इस प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना और चारित्र के व्याख्यान रूप से इस आठवें स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ।। ३९७–४०० ।।

विशेषार्थ—यहां इन चार गाथाओं में निश्चयचारित्र का कथन किया गया है । चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विवरण आवश्यक है । वहां अपने चारित्र में लगे हुए दोषों से आत्मा को निर्वर्तन करना तो प्रतिक्रमण है । आगे के दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है और वर्तमानकालीन दोष से दूर रहना सो आलोचना है । वे तीनों चारित्रवान् आत्मा के गुण हैं जो कि उस आत्मा से अभिन्न हैं, उनको आत्मा से पृथक् रूप में वर्णन करना सो व्यवहार होता है । किन्तु निश्चय से विचारा जावे तब तो तीनों कालों सम्बन्धी दोषों से सदा बचते रहने वाला आत्मा तो प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है और वही आलोचनारूप है और तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव करना ही चारित्र है जैसा कि यहाँ बताया गया है । इस निश्चयचारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणमय होने का नाम ही ज्ञानचेतना है जिससे कि आत्मा शुद्ध हो जाती है किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञान चेतना अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है वह बन्धकारक होती है जैसा कि श्री अमृतचन्द्रसूरि ने निम्न वृत्त में स्पष्ट कर बताया है—

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यंप्रकाशते ज्ञानमतीवशुद्धं, अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धि निरुणद्धिबंधः ।

अर्थात् – ज्ञान में रागद्वेष भावकी अर्थात् आर्त्तरौद्र भावकी पुट न होना, ज्ञान का ज्ञान मात्र होना सो ज्ञानकी संचेतना कहलाती है इसी का दूसरा नाम निर्विकल्प समाधि दशा है । इसके द्वारा नित्य शाश्वत् बना रहने वाला शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है । यदि वह अविच्छिन्न-ज्ञानधारा प्रवाह रूप से एक सम्पन्न मुहूर्त्त मात्र काल तक बनी रह जाये तो केवलज्ञान हुए बिना न रहे । किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो मुहूर्त्त के भीतर ही या तो छद्मपने को दूरकर बताया है और नहीं तो फिर निर्विकल्प दशा से हटकर सविकल्पदशा पर आना ही पड़ता है है जिसका नाम अज्ञानचेतना है जिससे ज्ञान अशुद्ध बनकर बन्ध होने लगता है ।

आगे कहते हैं कि मिथ्याज्ञान में परिणमन करता हुआ यह जीव पंचेन्द्रिय और मनके विषयों में राग और द्वेष करता है—

निन्दामयी स्तुतिमयी वचनावली है, चैतन्य शून्य जड़ पुद्गल की कली है ।
हो रुष्ट तुष्ट उसको सुन मूढ़ ऐसा, मैं निंद्य पूज्य खुद हूँ कर भूल ऐसा ।।४०१।।

पुग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अबुहो ॥४०२॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सो दु विसयमागदं सद्दं ॥४०३॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणदि पेच्छ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥४०४॥
असुहो सुहो य गंधो ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं भणदि घाणविसयमागदं गंधं ॥४०५॥
असुहो सुहो य रसो ण तं भणदि रसय मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥४०६॥

अर्थ—बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप में पुद्गल वर्गणाएँ परिणमती हैं उसको सुनकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मुझे भला-बुरा कहा गया है, ऐसा जानकर या तो क्रोध करता है अथवा संतुष्ट होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द रूप में परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है उसका गुण तो पुद्गल मय है, तेरे से अन्य है, इसलिये हे भोले प्राणी ! तुझे तो उसने कुछ भी नहीं कहा है, तू अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है आदि। देख–अशुभ या शुभ शब्द है वह तुझे ऐसा कहता है क्या, कि तू मुझे सुन ? अपितु नहीं कहता और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नहीं दौड़ता। इसी प्रकार अशुभ या शुभ गंध भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि मुझे सूँघ और घ्राण इन्द्रिय के विषय में आये हुए गंध को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नहीं दौड़ता। इसी प्रकार अशुभ या शुभ रस भी तुझे नहीं कहता कि तू मुझे चख और रसना के विषय में आए हुए रस के ग्रहण करने के लिए आत्मा वहाँ नहीं जाता। वैसे ही अशुभ तथा शुभ स्पर्श भी तुझे

जो शब्द रूप ढल पुद्गल द्रव्य भाता, बोला मुझे न कुछ भी मुझसे न नाता ।
है ! मूढ़ क्यों न इस भाँति विचारता है, क्यों रोष-तोष कर होश विसारता है ॥४०२॥
वो शब्द हो अशुभ हो शुभ हो "सुनो" रे, ऐसा कभी न कहता कि मुझे गुणों रे !
जो वर्ण का विषय मात्र बना हुआ है. होता गृहीत न, स्वतन्त्र तना हुआ है ॥४०३॥
वो रूप! हो अशुभ हो, शुभ हो, लखो रे! ऐसा कहे न कि मुझे दृग से लखो रे !
वो नेत्र का विषय मात्र बना हुआ है, होता गृहीत न स्वतन्त्र तना हुआ है ॥४०४॥
वो गंध हो अशुभ या शुभ सूँघ लेना, ऐसा कहे न कि मुझे कुछ मूल्य देना ।
पै नासिका विषय केवल वो बनी है, आती नहीं पकड़ में यह तो सही है ॥४४५॥
ऐसा तुम्हें न कहता रस वो कदापि, चाखो मुझे अशुभ या शुभ हो तथापि ।
जिह्वेन्द्रिका विषय हो पर स्वाश्रयी है, आता नहीं पकड़ में न पराश्रयी है ॥४०६॥

असुहो सुहो य फासो ण तं भणदि फास मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ।।४०७।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ।।४०८।।
असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ।।४०९।।
एवं तु जाणिदव्वस्स[1] उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ।।४१०।। (दशकम्)

रूसदि तूसदि य एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादिदुर्लभपरम्पराक्रमेणातीतानन्तकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषय-कषायादिविभावपरिणामाधीनतया अत्यन्तदुर्लभेन कथञ्चित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव

ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे छू ले और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आये हुए स्पर्श के ग्रहण करने को आत्मा भी नहीं जाता । इसी प्रकार किसी भी बाह्य द्रव्य का गुण जो अशुभ तथा शुभ है वह तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान, बुद्धि के विषय में आए हुए गुण को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नहीं दौड़ता । इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ द्रव्य है वह भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान और बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य के ग्रहण करने को आत्मा दौड़ नहीं लगाता । ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता प्रत्युत पर के ग्रहण करने का मन करता है क्योंकि इसे द्रव्य के स्वरूप को कल्याणकारी बुद्धि अर्थात् समुचित समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है ।। ४०१–४१० ।।

टीका—रूसदि तूसदि य इत्यादि-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभ परम्परा उसके क्रम से भूतकालीन अर्थात् बीते हुए अनन्तकाल में देखे, सुने और अनुभव किये मिथ्यात्व और कषायादि रूप विभाव परिणाम उसके वशवर्तीपने से जो अत्यन्त दुर्लभ हैं, और जो कथंचित् कालादि लब्धि के वश से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का और चारित्रमोहनीयकर्म

बोले न स्पर्श कि शुभा-शुभ यों किसी से, संस्पर्श तू कर मुझे कर से रुची से ।
पै स्पर्श-स्पर्श रहता वश में न आता, हो काय का विषय वो पर भिन्न भाता ।।४०७।।
जानों हमें गुण शुभा-शुभ ये कदापि, ऐसा न बाध्य करते तुमको अपापी ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं, होते नहीं वश स्वतन्त्र तने हुए हैं ।।४०८।।
अच्छे बुरे सब पदार्थ हमें पिछानो, ऐसा कभी न कहते कि हमें सुजानो ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं, होते नहीं वश स्वतन्त्र तने हुए हैं ।।४०९।।
यों ताव की पकड़ से रह मूढ़ रीता, जीता पिपासु बन, साम्य सुधा न पीता ।
सम्भोग का रसिक मात्र परानुरागी, विज्ञान से विरत है विधि से सरागी ।।४१०।।

---

[1] जाणिदूण इति पाठः ।

स पुनः पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थः। **एवं तु** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा, कथंभूतस्य ? **जाणिदव्वस्स** ज्ञातद्रव्यस्य पञ्चेन्द्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थः। तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि। **उवसमंणेव गच्छदे मूढो** उपशमं नैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वयं। कथंभूतः ? **णिग्गहमणा** निग्रहमनाः निवारणबुद्धिः। कस्य संबन्धित्वेन? **परस्स य** परस्य पञ्चेन्द्रियमनोविषयस्य। कथंभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य। पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य। पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीवः। **सयं च बुद्धि सिवमपत्तो** स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्तः। वीतरागसहजपरमानन्दरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चा प्राप्त इति। किंच, यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीपं न गच्छन्ति। जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयतः किन्तु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति। एवं वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति। हे भगवन् पूर्व बन्धाधिकारे भणितं—"एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं भावेहिं ॥१॥" इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादयः इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादि पंचेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः ? अत्रोत्तरमाह—तत्र बन्धाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनितां भणिताः। अत्र चाज्ञानिवस्य मुख्यता स

वहाँ पर रागद्वेष क्यों कर लेता है ? यह रागद्वेष करना या उसे अच्छा-बुरा मान लेना ही तेरा अज्ञानभाव है। हाँ, पूर्वोक्त व्यवहार कारणसमयसार और निश्चय कारणसमयसार को जानने वाला ज्ञानी होता है, वह वहाँ हर्ष-विषाद नहीं करता है यही तात्पर्य है। **एवं तु** इस प्रकार जानने योग्य पंचेन्द्रियों के विषय भले और बुरे शब्दादि तथा मन के विषय जो पर के गुण और द्रव्य **जाणिदव्वस्स** उन मन और इन्द्रियों के विषय को जानकर भी मूढ़ अज्ञानी जीव **उवसमं णेव गच्छदे** उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता है, शान्त नहीं रहता है। किन्तु **णिग्गहमणा** वह तो अपने जानने में आये हुये **परस्स य** दूसरे के शब्दादि गुण या द्रव्य रूप उन पंचेन्द्रिय और मन के विषयभूत वस्तु का निग्रह करना चाहता है। क्योंकि **सयं च बुद्धि सिवमपत्तो** स्वयं शुद्धात्मा के संवेदन स्वरूप निर्दोष बुद्धि को प्राप्त नहीं हो रहा है अर्थात् शिव शब्द के द्वारा कहे जाने योग्य वीतराग और सहज परमानन्द स्वरूप सुख को नहीं पा रहा है।

सारांश यह है कि जैसे चुम्बक पाषाण से खैंची हुई लोह-शलाका अपने स्थान से च्युत होकर चुम्बक पाषाण के पास पहुँच जाती है, वैसे ही शब्दादि इस जीव के चित्त को विकृत बनाने के लिए जीव के पास नहीं जाया करते हैं तथा जीव भी उनके पास नहीं जाता है अपितु अपने स्थान में अपने ही रूप रहता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। फिर भी यह अज्ञानी जीव अपने उदासीन-भाव को छोड़ कर रागद्वेष करने लगता है यह इसका अज्ञान भाव है। इस पर कोई शंका करता है कि हे भगवन् ! आपने बंधाधिकार में तो यह बताया था कि "एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिएहिं भावेहिं ॥" अर्थात् ज्ञानी जीव रागादिकों का करने वाला नहीं किन्तु रागादि भाव तो पर द्रव्य जनित होते हैं। अब आप ही यहाँ कह रहे हैं कि रागादि भाव इस आत्मा की अपनी ही बुद्धि के दोष से पैदा हुए हैं, इसमें दूसरों का [किन्हीं का भी] कोई दोष नहीं है, सो यह बात तो पूर्वापर विरुद्ध है ? आचार्य देव इसका उत्तर देते हैं कि हे भाई ! वहाँ बंधाधिकार के व्याख्यान में ज्ञानी जीव की मुख्यता है सो

चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं। ततः कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति। एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभिः परिणमति। परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतं ॥ ४०१–४१० ॥

ज्ञानी जीव तो रागादिरूप में परिणमन करता नहीं है, इसलिये वहाँ पर उनको परद्रव्य जनित बता आये हैं। किन्तु यहाँ पर तो अज्ञानी की मुख्यता है जो कि अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि के दोष से परद्रव्य को निमित्तमात्र लेकर रागादि के रूप परिणमन करता है इसलिये पर वस्तु जो शब्दादिरूप पंचेन्द्रियों के विषय हैं उनका कोई दोष नहीं है ऐसा कहा है, इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप जो निश्चय कारणसमयसार और व्यवहार कारणसमयसार है उन दोनों को नहीं जानता हुआ अज्ञानी जीव अपनी ही बुद्धि के दोष से रागादि के रूप में परिणमन करता है। पर-पदार्थरूप जो शब्दादि हैं उनका इसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नवमें स्थल में दशगाथाएँ पूर्ण हुईं ॥४०१–४१०॥

विशेषार्थ– यहाँ कार्यसमयसार और कारणसमयसार तथा व्यवहार-मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग के विषय में कहा गया है। समयसार नाम तो परमात्मा का है, जिसके विषय में यह संसार का अज्ञानी प्राणी भूला हुआ विषय-कषायों में उलझा रहता है। वह किसी भी प्रकार से इन विषय-कषायों को भुलाकर तथा परमात्मा को जान पहचानकर आप आत्मा से परमात्मा बन जाये, यहाँ यह कर्त्तव्य है। परमात्मा बन जाने का नाम तो कार्यसमयसार है, और परमात्मा से पूर्व की सन्निकट सम्बन्धित अवस्था का नाम कारणसमयसार है, जिसको उष्कृष्ट अन्तरात्मा कहा जाता है। यह कारणसमयसार ही मोक्षमार्ग है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय स्वरूप है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। जब अनादिकाल का भूला भटका शरीर और आत्मा को एक समझने वाला अज्ञानी जीव भाग्योदय वश सद्गुरुओं के निकट पहुँचता है और सुनता है कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है क्योंकि शरीर तो जड़ और नाशवान् है और आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। ऐसी दशा में शरीर को पुष्ट बनाये रखने के लिए पाप-पाखण्ड करने की क्या आवश्यकता है ? तब गुरु की वाणी पर विश्वास लाते हुए वह शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न सोच-समझकर पापों से दूर हो जाता है। यह भिन्नरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग हुआ। इसके अनन्तर-फिर इस आत्मा का संसार की इन बाह्य बातों से वास्तविक सम्बन्ध न होने के कारण आत्मा आत्मतल्लीन हो जाता है आत्मा को जानने, मानने और पहिचानने में लग रहता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में तल्लीन हो जाता है यह अभिन्नरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग में पूर्वोत्तर काल का भेद होकर परस्पर में साधन और साध्यपना पाया जाता है। व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधन है जो पूर्व में होता है किन्तु निश्चयमोक्षमार्ग उस व्यवहारमोक्षमार्ग के द्वारा साध्य होता है, प्राप्त करने योग्य होता है। एवं दोनों ही मोक्षमार्ग मुमुक्षु के लिये उपयोगी होते हैं। किन्तु जो इन दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्गों से रहित होता है वह मोही जीव तो इन बाह्य के विषय-कषायों में उलझा हुआ रहकर निरन्तर कर्मबन्ध करता

अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादकं कर्मबन्धं जनयतीति प्रतिपादयति–

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४११॥
वेदंतो कम्मफलं मएकदं जो दु मुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४१२॥
वेदंतो कम्मफलं सुहदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४१३॥ (त्रिकलम्)

ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति । इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्वभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति । मया कृतं कर्मेति च यो भणति । स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इति गाथा-

---

रहता है ।

आगे कहते हैं कि मिथ्यात्व व रागादि परिणत जीव के अज्ञानचेतना होती है वह केवलज्ञानादि गुणों को प्रच्छादन करने वाले कर्मबंध को पैदा करती है––

अर्थ—उदय में आये हुए कर्म को भोगता हुआ जो जीव उस कर्म को या कर्म के उदयको अपना लेता है वह दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म बन्ध को फिर से करने लगता है । वह अपनाना दो प्रकार से है एक तो यह है कि कर्म मेरा है मैंने किया है इत्यादि यह तो कर्मचेतना है, और दूसरा यह—मैं इस कर्म के उदय से सुखी हो रहा हूँ या दुःखी हो रहा हूँ ऐसा संवेदन करना सो कर्मफलचेतना है । यह दोनों प्रकार की चेतनाएँ अज्ञानचेतना में गर्भित होती हैं । जिसके होने से यह जीव संसार के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म को फिर से बाँधने लगता है ॥ ४११–४१३ ॥

टीका—ज्ञान और अज्ञानके भेद से चेतना दो प्रकार की होती है एक ज्ञानचेतना और दूसरी अज्ञान चेतना । अब यहाँ पर तीन गाथाओं से अज्ञानचेतना का वर्णन किया जाता है—उदय में आये हुए शुभ या अशुभकर्म को भोगता हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वस्थ भाव से भ्रष्ट होकर इस प्रकार कहता जानता है कि यह मेरा कर्म है तथा इसको मैंने ही किया है ऐसा सोचने वाला जीव फिर से आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म को बाँधता है । कैसा है वह कर्म ? बीज है । कारण है, किसका ? दुःख का । इस प्रकार दो गाथाओं में कर्मचेतना का व्याख्यान

आए हुए उदय में विधि के फलों को, आत्मीय मान चखता जड़ के दलों को ।
मोही नवीन विधि के दुख बीज बोता, खोता विवेक चिर औ भव बीच रोता ॥४११॥
आए हुए उदय में विधि के फलों को, है भोगता तज कुधी निज में गुणों को ।
मैंने किया यह सभी जब मान लेता, मोही नवीन दुख को पुनि माँग लेता ॥४१२॥
आए हुए उदय में विधि के फलों को, जो भोगता तज कुधी निज के गुणों को ।
मोही दुखी यदि सुखी नित हो रहा है, हा! दुःख बीज विधि के पुनि बो रहा है ॥४१३॥

द्वयेनाज्ञानरूपा कर्मचेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत्, सा बन्धकारणभूता कर्मचेतना भण्यते । उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता । कर्मफलचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेणहर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत्, सा बन्धकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इयं कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बन्धकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति । कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबन्धविनाशार्थं करोतीत्यर्थः । तद्यथा—यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषम् । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षट्संयोगेनैकभङ्गः । यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषं । केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पञ्चसंयोगेन, एकैकापनयनेन भङ्गत्रयं

हुआ । कर्मचेतना का क्या अर्थ है ? कि यह मेरा है, मैंने ही इसे किया है इस प्रकार अज्ञानभाव विषयों के द्वारा वीतरागमय जो शुद्धात्मानुभूति है उससे च्युत हुए जीव का जो इष्ट-अनिष्ट रूपसे इच्छापूर्वक मन, वचन और काय की चेष्टा करना है वह कर्म-चेतना कहलाती है जो नवीन बंध का कारण होती है । इसी प्रकार उदय में आये हुए कर्म के फल को भोगता हुआ अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं अनुभव करता हुआ जो जीव मनोहर अथवा अमनोहर रूप इन्द्रियों के निमित्त से सुखी अथवा दुःखी होता है वह जीव दुःख के बीज या कारणभूत ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को फिर से बाँधने लग जाता है । इस प्रकार एक गाथा से कर्मफलचेतना का व्याख्यान हुआ । कर्मफलचेतना का यह अर्थ है कि स्वस्थ भाव से रहित अज्ञान भाव के द्वारा यथा सम्भव व्यक्त अथवा अव्यक्त (अप्रकट) रूप से इच्छा पूर्वक इष्ट और अनिष्ट विकल्प के रूप में हर्ष-विषादमय सुख या दुःख का अनुभव होना सो कर्मफलचेतना कहलाती है जो बंध का कारण है । इस प्रकार कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, ये दोनों प्रकार की चेतनाएँ बंध का कारण होने से त्यागने योग्य हैं । कर्मचेतना और कर्मफलचेतना इन दोनों में पहले कर्मचेतना के सन्यास की भावना को बताते हैं अर्थात् कर्मबंध को निवारण करने के लिये कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं सो निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचना है जिनका स्वरूप, पहले बताया जा चुका है उसमें स्थित होकर शुद्धज्ञानचेतना के बल द्वारा उस कर्मचेतना के त्याग की भावना करते हैं (क्योंकि बिना ज्ञानचेतना बल के कर्मचेतना के त्याग की भावना होना असम्भव है—सम्भव नहीं है ।) इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

जो मैंने पहले किया, मैंने पहले किसी से करवाया अथवा करते हुये को भला माना, मन से, वचन से अथवा काय से किसी भी प्रकार वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाये, इस प्रकार यह छहों के संयोगरूप पहला भङ्ग हुआ । मैंने किया, अथवा किसी से करवाया और किसी भी करते हुए को भला माना, मनसे और वचन से वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाये, इस प्रकार यह पाँच संयोग का भङ्ग हुआ । एक को हटा देने से तीन भङ्ग पाँच संयोगी होंगे । इस प्रकार संयोग करने पर अक्ष संचार के द्वारा सारे उनचास (४९) भङ्ग हो जाते हैं यही टीकाकार

भवति । संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपञ्चाशद्भङ्गा भवन्तीति टीकाभिप्रायः । अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यन्ते कथं ? इति चेत् कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भङ्गत्रयं भवति । कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भङ्गत्रयं जातं कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसंयोगेनैको भङ्ग इति सप्तभङ्गी । तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकं भङ्गत्रयं भवति । मनोवचनद्वयं मनःकायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भङ्गत्रयं जातम् । मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भङ्ग इयमपि सप्तभङ्गी । कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मनःकायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभङ्गी जाता यथा तथा कारितेऽपि, तथा अनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभङ्गी योजनीया । एवं–एकोनपञ्चाशद्भङ्गा भवन्तीति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः । इदानीं प्रत्याख्यानकल्पः कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैको भङ्गः । यथा यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समानुज्ञास्मि । केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पञ्चसंयोगेन भङ्गत्रयं भवति एवं पूर्वोक्तक्रमेण–एकोनपञ्चाशद्भङ्गा ज्ञातव्याः । इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः । इदानीमालोचनाकल्पः कथ्यते, तद्यथा यदहं

के कहने का अभिप्राय है । जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीकामें बताया है । अब यहाँ और भी सरल रूप से बताया जा रहा है । देखो-कृत, कारित और अनुमत इस प्रकार प्रत्येक तीन-तीन भङ्ग हुए; फिर कृत, कारित ये दोनों; कृत अनुमत ये दोनों, कारित अनुमत ये दोनों; इस प्रकार दो-दो के संयोग से तीन भङ्ग हुए । और कृत कारित और अनुमत इन तीनों के संयोग से एक भङ्ग हुआ । इस प्रकार सब मिलकर एक सप्तभङ्गी हुई । उसी प्रकार मनसे, वचन से, कायसे प्रत्येक को लेकर तीन भङ्ग हुए । फिर मन और वचन ये दो; मन और काय ये दो; वचन व काय दो; इस प्रकार दो के संयोग से तीन भङ्ग हुए । मन, वचन और काय इन तीनों के संयोगसे एक भङ्ग हुआ । इस प्रकार यह दूसरी सप्तभङ्गी हुई । मन के साथ करना, वचन के साथ करना, और काय के साथ करना, मन और वचन दोनों के साथ करना, मन और काय दोनों के साथ करना, वचन और काय दोनों के साथ करना, और मन, वचन, काय इन तीनों के द्वारा करना इस प्रकार कृत का निरुद्ध अर्थात् निषेध होने पर तीसरी सप्तभङ्गी हुई । जिस प्रकार कृत की सप्तभङ्गी बतलाई उसी प्रकार कारित पर, अनुमत पर, तथा कृत कारित इन दोनों पर, कृत और अनुमति इन दोनों पर, और कारित, अनुमति इन दोनों पर, तथा कृत, कारित और अनुमति इन तीनों पर भी प्रत्येक से इस क्रम से सप्तभङ्गी लगा लेना चाहिए इस प्रकार ये सब मिलकर उनचास (४९) भङ्ग होते हैं । प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ ।

अब प्रत्याख्यानकल्प का वर्णन करते हैं—जो मैं करूँगा, जो मैं कराऊँगा, करते हुए किसी अन्य को भला मानूंगा, मन से, वचन से, किसी भी प्रकार से यह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह छहों के संयोग रूप पहले के अनुसार एक पहला भंग हुआ । इसी प्रकार मैं करूँगा, मैं कराऊँगा और मैं करते हुए किसी अन्य को भला मानूंगा—मन से और वचन से सो मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होवे यह पंच संयोगी भंग भी पूर्व कहे अनुसार एक-एक को हटा देने पर तीन प्रकार का होता है । इसी प्रकार पहले कहे अनुसार इसको फला लेने से उनचास (४९) भंग हो जाते हैं । प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैकभङ्गः । तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि, केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति—एकैकापनयनेन पञ्चसंयोगन भङ्गत्रयं भवति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपञ्चाशद्भङ्गा ज्ञातव्याः । इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः । कल्पः पर्व परिच्छेदोऽधिकारोऽध्यायः प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्याः । एवं निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता । इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावनां नाटयति करोतीत्यर्थः । तद्यथा—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । सम्यगनुभवे इत्यर्थः । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । इति पञ्चप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुञ्जे । तर्हि किं

अब आलोचनाकल्प को कहते हैं वह इस प्रकार है—जैसे कि जो मैं करता हूँ, कराता हूँ अथवा करते हुए अन्य को अच्छा मानता हूँ मनसे, वचन से, काय से यह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाये यह पहले के समान छहों के संयोग रूप पहला भंग हुआ । इसी प्रकार जो मैं करता हूँ, कराता हूँ, और करते हुये अन्य प्राणी को भला मानता हूँ मन से, वचन से, सों सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाये, इस प्रकार क्रम से एक-एक को कम करने पर पंच संयोगात्मक तीन भंग होते हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त कहे अनुसार सारे मिलकर उनचास (४९) भंग हो जाते हैं । यह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ । कल्प कहो, पर्व कहो, अधिकार कहो, अध्याय कहो, परिच्छेद कहो इत्यादि सब एकार्थ नाम हैं ।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, और निश्चय आलोचना रूप जो शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना इन दो गाथाओं के व्याख्यान से कर्म चेतना के त्याग की भावना समाप्त हुई । अब इसके आगे शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना के बल से ही कर्मफल चेतना संन्यास अर्थात् त्याग की भावना को करते हैं—

जैसे कि मैं मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ । तब फिर क्या करते हो ? कि मैं तो शुद्ध-चैतन्य-स्वभावमय आत्मा को ही भले प्रकार अनुभव करता हूँ । मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता । तब फिर क्या करते हो ? कि शुद्ध-चैतन्य-स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । अवधिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता । तब फिर क्या करते हो ? कि शुद्ध-चैतन्य-स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । मैं मनःपर्ययज्ञानावरणकर्म के फल को भी नहीं भोगता । तब फिर क्या करते हो ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । मैं केवलज्ञानावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता । तब फिर क्या करते हो ? शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार पाँच प्रकार के ज्ञानावरणी कर्म के रूप में कर्मफल संज्ञा वाली भावना का वर्णन हुआ । मैं चक्षुदर्शनावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता । तब फिर क्या करते हो ? कि शुद्ध-चैतन्य-स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार टीका में बताये हुये

करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । एवं टीकाकथितक्रमेण–"पण णव दु अट्ठवीसा चउ तिय णउदीय दुण्णि पंचेव । वावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा" ॥१॥ इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः । किंच जगत्त्रयकालत्रयसंबन्धिमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवसालम्बनेन भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टम्भेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः । एवं गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गाथैका कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥४११–४१३ ॥

क्रम के अनुसार––

पणणवदुअट्ठवीसा चउतियणउदीय दुण्णि पंचेव ।
वावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥

पाँच ज्ञानावरण कर्म की, नव दर्शनावरण की, दो वेदनीय की, अट्ठाईस मोहनीय की, चार आयु की, तेरानव (९३) नाम की, दो गोत्र की, व पाँच अन्तराय की इस प्रकार सब मिलाकर बावन (५२) कम दोसौ (२००) अर्थात् एक सौ अडतालीस (१४८) कर्मप्रकृतियाँ हुईं । इन सब प्रकृतियों का नाशकर सिद्ध होते हैं । इस गाथा का आशय लेकर १४८ संख्या वाली कर्म की उत्तर प्रकृतियों के फल के त्याग की भावना करने योग्य है ।

भावार्थ यह है कि तीनलोक और तीनकाल से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे जो मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमत तथा ख्याति, पूजा और लाभ एवं देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध उसको आदि लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनके आलम्बन से उत्पन्न जो शुभाशुभ संकल्प-विकल्प हैं उनसे जो रहित हैं और चिदानन्द एक स्वभाव वाले शुद्धात्म तत्त्व के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो अभेदरत्नत्रय उस अभेद-रत्नत्रयात्मक-निर्विकल्प-समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग-सहज-परमानन्दसुख उसके रस का आस्वाद वही हुआ परम समरसीभाव उसके अनुभव के आलम्बन से जो भरापूरा है जो केवल-ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय के अभिव्यक्तिरूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार का उत्पादक है और जिसमें शुद्ध-ज्ञानचेतनाकी भावना का बल है ऐसे निश्चय-कारणसमयसार के द्वारा मोक्षार्थी जीव को कर्मचेतना के त्याग की भावना और कर्मफल चेतना के त्याग की भावना करनी योग्य है ।

इस प्रकार इस दसवें स्थल में दो गाथाएँ कर्मचेतना के त्याग की भावना की प्रधानता लेकर और एक गाथा कर्मफल चेतना के त्याग की भावना की प्रधानता लेकर, इस प्रकार तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥४११–४१३॥

विशेषार्थ—यहाँ सार यह है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पर से जब तक आत्मा दूर नहीं होता, तब तक ज्ञानचेतना पर नहीं पहुँच पाता है । क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों अज्ञानरूप हैं, किन्तु ज्ञानचेतना शुद्धज्ञानरूप है एवं ज्ञान और अज्ञान में परस्पर में दिन और रात सरीखा विरोध है । तथा ज्ञानचेतना जब तक प्राप्त नहीं हो पाती तब तक नवीन कर्मों

अथेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपंचेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहितं सदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति—

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥४१४॥
सद्दो णाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥४१५॥
रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥४१६॥
वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं विण्णं जिणा विंति ॥४१७॥

का उपार्जन होता ही रहता है। अतः मुमुक्षु को नूतन कर्मबंध से बचने के लिए कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से दूर हटकर ज्ञानचेतना को प्राप्त करने का अर्थात् परम समाधि में लगे रहने का यत्न करना चाहिये।

अब यहाँ आगे उस परमात्मतत्त्व का प्रकाश करते हैं जो व्यवहारनय से कहे हुए जीव आदि नव पदार्थों से पृथक् रहने वाला है तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप जो पारमार्थिक पदार्थ ऐसा नामवाला है। तथा गद्य-पद्य आदि विचित्र रचना से हुए शास्त्रों से व शब्द आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय को लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनसे भी शून्य है तो भी रागद्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित सदा आनन्दमयी एक लक्षण को रखने वाले सुखामृत रस के आस्वाद से भरा पूरा है--

अर्थ--शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता [वह तो जड़ है], इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान् कहते हैं। शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है और रूप उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन

है जानता स्वपर को न कभी निजी से, वो शास्त्र, ज्ञान नहिं हो सकता इसी से ।
पै शास्त्र, शास्त्र 'जड़' केवल नाम पाता, पै ज्ञान, ज्ञान बस चेतन धाम भाता ॥४१४॥
ये शब्द ज्ञान नहिं हो सकते इसी से, वे जानते न परको निजको निजी से ।
पै शब्द शब्द पर पुद्गल है निराला, पै ज्ञान ज्ञान बस चेतन है निहाला ॥४१५॥
रे ! रूप, ज्ञान नहिं है जिन हैं बताते, वे क्योंकि आप-पर को नहिं जान पाते ।
तो रूप रूप जड़कूप निरा निरा है, औ ज्ञान ज्ञान जगभूप निरा खरा है ॥४१६॥
ना जानता वह कभी कुछ भी यतः है, रे वर्ण ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
हो वर्ण वर्ण, यह वर्णन वर्ण का है, हो ज्ञान ज्ञान, मत-दिव्य जिनेंद्र का है ॥४१७॥

गंधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ।।४१८।।
ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं[1] ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति ।।४१९।।
फासो णाणं ण हवदि जह्मा फासो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ।।४२०।।
कम्मं णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ।।४२१।।
धम्मच्छिओ[2] ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ।।४२२।।

भगवान से कहा है । वर्ण भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न हैं और वर्ण उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । गंध भी ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध भी कुछ नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न वस्तु है गंध उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है । रस भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रस तो नित्य अचेतन जड़ है इसलिये ज्ञान उनसे अन्य है रस भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है स्पर्श उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है । कर्म भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है और कर्म उससे भिन्न हैं ऐसा जिन भगवान् ने कहा है । धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्मद्रव्य कुछ नहीं जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है धर्मद्रव्य उससे अन्य है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है । अधर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य

जो जानता न कुछ भी जड़ की निशानी, है 'गंध' ज्ञान नहिं है यह वीर वाणी ।
हो 'गंध' 'गंध' भर ही यह गंध गाथा, हो ज्ञान ज्ञान ध्रुव जीवन संग-नाता ।।४१८।।
ना जानता रस कभी रस को यतः है, होता न ज्ञान, रस वो रस ही अतः है ।
है ज्ञान भिन्न रस भिन्न निरे निरे हैं, ऐसा कहे जिन हुए अघ से परे हैं ।।४१९।।
वो स्पर्श ज्ञान है नहिं कहते यमी है, है जानता स्वपर को न यही कमी है ।
हो स्पर्श स्पर्श भर हो जड़ मात्र न्यारा, हो ज्ञान ज्ञान गुण चेतन पात्र प्यारा ।।४२०।।
ना कर्म जान सकता कुछ भी यतः है, वो कर्म, ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
है कर्म कर्म पर पुद्गल धर्म-वाला, है ज्ञान ज्ञान शुचिचेतन-धर्मशाला ।।४२१।।
धर्मास्तिकाय वह ज्ञान नहीं अतः है, वो जानता स्वपर को न कभी यतः है ।
धर्मास्तिकाय वह भिन्न सदा रहा है, है ज्ञान भिन्न मत यों जिन का रहा है ।।४२२।।

---

[1] ण याणदे किंचि इति पाठः । [2] धम्मो इति पाठः ।

ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ[1] जं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ।।४२३।।
कालोवि: णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि ।
तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं[2] ।।४२४।।
आयासंपि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णायासं अण्णं णाणं जिणा विंति ।।४२५।।
अज्झवसाणं णाणं ण हवादि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।४२६।।
जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं ।।४२७।।

भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है अधर्मद्रव्य उससे भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। कालद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कालद्रव्य भी कुछ नहीं जानता है, इसलिये काल ज्ञान नहीं होता क्योंकि काल नित्य अचेतन है जड़ है। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य वस्तु है और आकाश भिन्न ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। उसी प्रकार अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है इसलिए ज्ञान अन्य वस्तु है और अध्यवसान उससे भिन्न वस्तु है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। जीव जब कि सदा जानता है इसलिए जीव ज्ञायक है वह ज्ञानी है और ज्ञान उस ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है और धर्म और अधर्म ज्ञान ही है और दीक्षा भी ज्ञान ही है ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते हैं ।।४१४-४२८।।

होता न ज्ञान यह द्रव्य अधर्म ज्ञाता, औचित्य है न कुछ भी वह जान पाता ।
अत्यन्त भिन्न चिर द्रव्य अधर्म भाता, है ज्ञान भिन्न पर से रखता न नाता ।।४२३।।
वो काल ज्ञान नहिं हो सकता अतः है, वो काल जान सकता कुछ भी यतः है ।
पै काल काल जड़ ही चिरकाल भाता, लो ज्ञान ज्ञान मणिमाल निहाल साता ।।४२४।।
आकाश जान सकता कुछ भी नहीं है, आकाश ज्ञान नहिं हो सकता सही है ।
आकाश भिन्न यह ज्ञान विभिन्न प्यारा, देते जिनेश जग को उपदेश सारा ।।४२५।।
होता न ज्ञान यह अध्यवसान सारा, वो जानता न कुछ भी जड़ का पिटारा ।
बोले जिनेश वह अध्यवसान न्यारा, चैतन्य धाम यह ज्ञान प्रमाण प्यारा ।।४२६।।
है जानता सतत जीव अतः प्रमाणी, है शुद्ध ज्ञान धन ज्ञायक पूर्ण ज्ञानी ।
होता न ज्ञान उस ज्ञायक से निराला, जैसा अनन्य इस दीपक से उजाला ।।३२७।।

---

[1] णाणमधम्मो इति पाठः। [2] कालो इति पाठः। [3] अण्णं कालं जिणा विंति इति पाठः।

णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्बुवेंति बुहा ॥४२८॥ (पंचदशकम्)

गद्यपद्यादिग्रन्थरचनारूपं शास्त्रं, श्रवणेन्द्रियविषयः शब्दः, रूपशब्देनाभिधेया वाच्या स्पर्शरसगन्धवर्णवती या मूर्तिः कृष्णनीलरक्तपीतश्वेतपञ्चभेदभिन्नो वर्णः सुरभिदुरभिरूपो गन्धः। कटुकतिक्तकषायाम्लमधुरभेदभिन्नो रसः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनभेदभिन्नः स्पर्शः। ज्ञानावरणाद्यष्टमूलप्रकृतिभेदोऽष्टाधिकचत्वारिंशदधिकशतसंख्योत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं कर्म। धर्मास्तिकायो ऽधर्मास्तिकायकालाकाशसंज्ञानि ज्ञेयद्रव्याणि च। तान्येतानि सर्वाणि पूर्वोक्तानि शास्त्रादीनि ज्ञानं न संभवंति। कस्मात्? अचेतनत्वात्। यस्मादचेतनानि तस्मात् ज्ञानमन्यत् एतान्यन्यानीति जिना वदन्ति जानन्ति ब्रुवन्ति कथयन्ति वा। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानरूपेण रागादिविकल्परूपाण्यध्यवसानान्यपि ज्ञानं न भवन्ति। कस्मात्? अचेतनत्वात्। तस्मादन्यदज्ञानमध्यवसानं चान्यदिति जिना वदन्ति तर्हि किं ज्ञानमिति चेत? **जम्हा जाणदि णिच्चं** यस्मात् जानाति ज्ञेयं वस्तु नित्यं सर्वकालं। **तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी** तस्मात जानाति ज्ञायकः ज्ञानमस्यास्तीतिज्ञानी। कोऽसौ जीवः। **णाणं च जाणयादो अव्विदिरित्तं मुणेदव्वं** ज्ञानं पुनः ज्ञायकात् जीवात संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन यद्यपि भिन्नं तथापि निश्चयेनाभिन्नमग्नेरुष्ण गुणवदिति। किं चापवादव्याख्यानं—**अब्बुवेंति** अभ्युपगच्छन्ति मन्यते। किं? कर्तारः। **बुहा** बुधाः पण्डिताः? किं कर्मतापन्नं। **णाणं** ज्ञानभेदेनात्मस्वरूपं। किं किं ज्ञानं मन्यन्ते। **सम्मादिट्ठी** सम्यग्दृष्टिरभेदेनसम्यक्त्वं जीवगुण-

---

टीका—गद्य पद्यादि ग्रन्थ रचनारूप शास्त्र, कर्णेन्द्रिय का विषयभूत शब्द, रूप शब्द के द्वारा वाच्य स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण वाली मूर्ति, कृष्ण-नील-लाल-पीत और शुक्ल इन पांच भेद वाला वर्ण, सुगन्ध-दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार की गन्ध, कड़ुवा, चिरपरा, कषायला खट्टा और मधुर भेद वाला रस, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-गुरु-लघु-मृदु और कठोर भेद वाला स्पर्श, ज्ञानावरणादि आठ प्रकृतियों तथा एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों के भेद वाला कर्म, धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश नामक ज्ञेय द्रव्य। ये सब पूर्व में कहे गये शास्त्रादिक ज्ञान नहीं हो सकते क्योंकि अचेतन हैं। जिस कारण ये अचेतन हैं उस कारण ज्ञान जुदा है और ये जुदे हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते हैं अथवा कहते हैं। शुद्ध उपादान रूप निश्चय नय से रागादि विकल्प रूप अध्यवसानभाव भी ज्ञान नहीं हैं कारण कि ये अचेतन हैं अर्थात् अचेतन कर्म के निमित्त से होने के कारण शुद्ध चेतन रूप नहीं है। इसलिये अज्ञान और अध्यवसानभाव अन्य नहीं-ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं। तो फिर ज्ञान क्या है? इसका उत्तर यह है कि जो निरन्तर सदा ज्ञेय रूप वस्तु को जानता है ऐसा जीव ज्ञायक है तथा ज्ञानी है। यह जीव कौन? जो ज्ञान रूप है। यह ज्ञान यद्यपि जीव से अव्यतिरिक्त-अभिन्न है तथा संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि के भेद से भिन्न है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि उष्णस्पर्श से अभिन्न है उसी प्रकार निश्चय से जीव भी ज्ञान गुण से अभिन्न है। इसके सिवाय अपवाद-विशेष व्याख्यान यह है-कि ज्ञानीजन ज्ञान को आत्म स्वरूप मानते हैं। सम्यग्दृष्टि, जीव के गुण स्वरूप सम्यग्दर्शन को, इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम रूप बाह्य संयम के बल से प्रकट शुद्धात्मानुभूति रूप संयम को, अङ्गपूर्व ज्ञान के

विज्ञान संयम सुदर्शन है सुहाता, औ द्वादशांग श्रुत पूर्ण वही कहाता।
विज्ञान साधुपन धर्म अधर्म भी है, ऐसा सदैव कहते बुध ये सभी हैं ॥४२८॥

लक्षणं। **संजमं** बहिरङ्गेन्द्रियप्राणसंयमबलेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं। **भाव संजमं सुत्तमंगपुव्वेसु** अङ्गपूर्वविषये शुद्धात्मादिपरिच्छित्ति रूपं भावश्रुतं। **धम्माधम्मं च तहा** भावपुण्यपापस्वरूपं च तथा। **पव्वज्जं** रागादीच्छा-निरोधलक्षणं स्वरूपप्रतपनस्वभावं।

तत्पश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते? इति चेत्, मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तस्वकीय-स्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति। ततः स्थितं शुद्ध-पारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिकनवपदार्थेभ्यो भिन्नमादि-मध्यान्तमुक्तमेकमखण्डप्रतिभासमयं निजनिरञ्जनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधानं सर्वप्रकारोपादेयभूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति। एवं व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तवः

बल से प्रकट शुद्धात्मादि की परिच्छित्ति रूप भाव श्रुत को, भाव पुण्य-पाप को, तथा रागादि रूप इच्छा के निरोध रूप लक्षण से युक्त स्वरूप की लीनता रूप प्रव्रज्या को विवक्षा वश आत्म-स्वरूप मानते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि यह सब तो तपश्चरण है सो इसका ज्ञान किस नयके द्वारा कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान पर्यंत अपने अपने गुणस्थान के योग्य शुभ, अशुभ अथवा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव रखने वाला जो विवक्षित अशुद्धनिश्चयनय है जो कि अशुद्ध उपादानरूप है। उस अशुद्धनय के द्वारा यह सब ज्ञान माना जाता है। इस सब कथन से यह बात निश्चित हुई कि शुद्धपारिणामिक रूप जो परमभाव उसका ग्रहण करनेवाला जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय है वह शुद्ध उपादान स्वरूप है। उस शुद्धद्रव्यार्थिकनय के द्वारा शुद्ध ज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्मतत्त्व ही श्रद्धान करने योग्य, जानने योग्य और ध्यान करने योग्य होता है। वह शुद्धात्मतत्त्व जीवादिक व्यावहारिक नव पदार्थों से भिन्न है और आदि-मध्य-अंत इन कल्पनाओं से रहित है। एक अखंड प्रतिभास रूप है, अपने निरंजन सहज शुद्ध परमसमयसार इस प्रकार के नाम वाला है। जो सब प्रकार से उपादेयभूत है उस शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान तथा ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार व्यावहारिक नव पदार्थों में भूतार्थनय से वास्तवमें एक शुद्ध जीव ही स्थित है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस ग्यारहवें स्थल में इन पन्द्रह गाथाओं का कथन किया गया।

पं० जयचन्दजी का भावार्थ– सब परद्रव्यों से तो जुदा और अपने पर्यायों से अभेदरूप ऐसा ज्ञान एक दिखलाया। इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर हो गये। क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग में ज्ञान प्रधान है वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इस कारण तो अतिव्याप्ति स्वरूप नहीं, और अपनी सब अवस्थाओं में है इसलिये अव्याप्ति स्वरूप नहीं है। यहां पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना क्योंकि अभेद विवक्षा में गुण और गुणी का आपस में अभेद है इसलिए विरोध नहीं। यहां ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से ज्ञान सब परद्रव्यों से भिन्न अनुभव गोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं तो भी उनमें कोई तो छद्मस्थ के अनुभव गोचर ही नहीं कि उसको कहे। [फिर] छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहचाने? नहीं पहचान सकता। कोई धर्म अनुभव गोचर हैं उनमें कोई अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमेयत्वादि हैं वे अन्य द्रव्यों से साधारण [समान] हैं उनके कहने से जुदा आत्मा नहीं जाना जाता। कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं उनको कहने से परमार्थ आत्मा का

स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशस्थले पञ्चदश गाथा गताः। किं च—मत्यादिसंज्ञानपञ्चकं पर्यायरूपं तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूपः। जीवपदार्थो हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्यायः, किन्तु परस्परसापेक्ष-द्रव्यपर्यायधर्माधारभूतो धर्मी। तत्रेदानीं केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति। अवधिमनः पर्ययज्ञानद्वयं च **'रूपिष्ववधेः'**, **'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य'** इति वचनात् मूर्तविषयत्वादेव मूर्तं मोक्षकारणं न भवति। ततः सामर्थ्यादेव बहिर्विषयमतिज्ञानश्रुतज्ञानसंज्ञंविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुख-परिच्छित्तिलक्षणं निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानसमतिज्ञानश्रुतज्ञानसंज्ञं पञ्चेन्द्रियाविषयत्वेनातीन्द्रियं शुद्धपारि-णामिकभावविषये तु या भावना तद्रूपं निर्विकारस्वसम्वेदनशब्दवाच्यं संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिक-

---

शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है। इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान में अनादि अज्ञान से शुभ-अशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में प्रवृत्ति रूप स्वसमय के परिणमन स्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को परिणमा के संपूर्ण ज्ञान को जब प्राप्त होता है तब फिर त्याग ग्रहण के लिए कुछ नहीं रहता। ऐसा साक्षात् समयसार स्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थभूत शुद्ध ठहरे उसको देखना। यहां पर देखना भी तीन प्रकार जानना। एक तो शुद्धनय के ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना—यह तो अविरत आदि अवस्था में भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है। दूसरा-ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रह का त्याग करना इसका अभ्यास करना। उपयोग को ज्ञान में ही ठहराना। जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना श्रद्धान किया वैसा ही ध्यान में लेकर एकाग्रचित्त हो ठहराना। बार-बार इसीका अभ्यास करना। सो यह देखना अप्रमत्त दशा में होता है। सो जहां तक अभ्यास से केवलज्ञान प्राप्त हो वहां तक यह अभ्यास निरंतर करना—यह देखना दूसरा प्रकार है। यहां तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय परोक्ष देखना है। और तीसरा यह है कि केवलज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात् देखना होता है। उस समय सब विभावों से रहित हुआ सबको देखने जानने वाला ज्ञान होता है। यह पूर्णज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है। यह ज्ञान ही आत्मा है अभेद विवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं जानना।

अब [तात्पर्यवृत्तिकार के शब्दों में] विचार करते हैं—जीव में मत्यादि पाँच प्रकार के ज्ञान होते हैं वे तो पर्यायरूप हैं, किन्तु शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्य है, जीव पदार्थ न केवल द्रव्य-रूप है और न केवल पर्यायरूप ही, किन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायरूप धर्मों का आधारभूत धर्मी है। मोक्ष कौन से धर्म से होता है अब यह विचार किया जाता है—सो केवलज्ञान तो फलस्वरूप होता है जो कि आगे जाकर होगा। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान **"रूपिष्ववधेः और तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य"** इन सूत्रों के अनुसार मूर्त्त पदार्थ को ही विषय करने वाले हैं इसलिये मूर्त्त हैं। अतः ये दोनों ज्ञान भी मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। इसलिये सामर्थ्य से यह बात सिद्ध हुई कि बहिर्विषयक मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के विकल्पों से रहित होने के कारण जो ज्ञान अपने शुद्धात्मा के अभिमुखरूप परिच्छिति [जानकारी] ही है लक्षण जिसका ऐसा तथा निश्चितरूप से निर्विकल्प भावनारूप मानस मतिज्ञान-श्रुतज्ञान है नाम जिसका तथा पंचेन्द्रिय का विषय न होने से अतीन्द्रिय है ऐसा और जो शुद्धपारिणामिक भाव के विषय में जो भावनारूप होता है तथा निर्विकल्प स्वसंवेदन शब्द के द्वारा जिसको कहा जाता है, एवं सांसारिक जीवों को क्षायिकज्ञान होता नहीं है इसलिये क्षायोपशमिकरूप है, ऐसा जो विशिष्ट भेदज्ञान होता है वही

मपि विशिष्टभेदज्ञानं मुक्तिकारणं भवति। कस्मात्? इति चेत् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाल्हादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकारपरमसमरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्यानन्तज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति। तथा चोक्तं 'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन। तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन' ॥४१४-४२८॥

अतः परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यतीत्युपदिशति—

अत्ता जस्स अमुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ दु ॥४२९॥
णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउग्गिय विस्ससो वापि ॥४३०॥

मुक्ति का कारण होता है। क्योंकि वह विशिष्ट भेदज्ञान ही सब प्रकार के मिथ्यात्व और रागादिरूप विकल्पों की उपाधि से रहित ऐसी जो अपनी शुद्धात्मा उसकी भावना से उत्पन्न हुआ परम आह्लाद वही है लक्षण जिसका ऐसा जो सुखामृत रस उसके आस्वादन के साथ एकाकाररूप जो परम समरसी भाव परिणाम, उस परिणाम के कार्यभूत जो अनंतज्ञानसुखादि स्वरूप मोक्ष का फल है उसका विवक्षित एक [प्रधान] शुद्धनय के द्वारा शुद्धोपादान कारणरूप है। यही बात अमृतचन्द्राचार्य स्वामी ने कही है—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन, तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।

जो कोई भी सिद्ध होते हैं वे सब नियमपूर्वक भेदविज्ञान के द्वारा ही अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मध्यान के द्वारा ही होते हैं जब वह शुद्ध आत्मध्यान नहीं रह पाता उस समय फिर से कर्मबंध करने लगते हैं अर्थात् कर्मबंधन से छूटने का उपाय एक निर्विकल्प शुद्धात्मा का ध्यान भेदविज्ञान ही है ॥४१४-४२८॥

परमात्मा शुद्ध-बुद्धरूप एक स्वभाववाला है, ऐसी हालत में जब परमात्मा के देह नहीं है तो उसके आहार कैसे होगा? यह बतलाते हैं—

अर्थ—जैसा कि ऊपर बता आये हैं कि ज्ञान या आत्मा संपूर्ण पर-द्रव्यों से भिन्न है और अमूर्त्त है। उन गाथाओं के उल्लेखानुसार जिसके विचार में आत्मा अमूर्त्त है, वह नियम से आहार को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि आहार तो मूर्तिक है जो कि पुद्गलमय है, पर-द्रव्य स्वरूप है, वह अमूर्तिक आत्मा के द्वारा ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता। यह कोई ऐसा ही आत्मा का गुण है चाहे उसे वैस्रसिक कहा जाय या प्रायोगिक किन्तु यह उस आत्मा का अटल गुण है कि जो विशुद्ध आत्मा है। वह जीव और अजीव जो

आत्मा अमूर्त वह मूर्त कभी नहीं है, आहार ग्राहक अतः बनता नहीं है।
आहार मूत जड़ पुद्गल धर्म वाला, पीते मुनीश कहते शिव-शर्म-प्याला ॥४२९॥
होता सदोष गुण है पर द्रव्य ग्राही, ऐसा सदा समझते शिवराह राही।
निर्दोष आत्म गुण निश्चय से किसी को, पै त्यागता न गहता, गहता निजी को ॥४३०॥

अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति। देहाभावे देहमयं द्रव्यलिङ्गं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादयति—

पाखंडीलिंगाणि य गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४३२॥
ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते ॥४३३॥ (युग्मम्)

पाखण्डिलिङ्गानि गृहस्थलिङ्गानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदन्ति मूढा। किं वदन्ति ? इदं द्रव्यमयलिङ्गमेव मुक्तिकारणं। कथंभूताः सन्तः ? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूपं भावलिङ्गमजानन्तः। **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं** भावलिङ्गरहितं द्रव्यलिङ्गं केवलं मोक्षमार्गो न भवति। कस्मात् ? इति चेत्—**जं** यस्मात्कारणात्। **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हन्तो भगवन्तो देहनिर्ममाः सन्तः। किं कुर्वन्ति ? **लिंगं मुइत्तु** लिङ्गाधारं यच्छरीरं तस्य शरीरस्य यन्ममत्वं तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् **दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवन्ते

उपर्युक्त लिखे अनुसार विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभाव वाले परमात्मा के नोकर्म आदि आहार के अभाव होने पर आहारमय देह नहीं है। देह के अभाव में देहमयी द्रव्य-लिंग भी निश्चय से मुक्ति का कारण नहीं है—

अर्थ—पाखंडी [बनावटी] साधुओं के और गृहस्थों के जो लिंग हैं—शरीर पर बनाये हुए जो भेष हैं—वे अनेक प्रकार के होते हैं उन्हीं को ग्रहण करके मूढ़ लोग ऐसा मानने लगते हैं कि यह भेष ही मुझे मोक्ष देने वाला है। इसको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई ! यह धारण किया हुआ बाह्य भेष ही मोक्ष का कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अर्हंत देव तो देह से निर्ममत्व होते हुए—इस बाह्य लिंग की उपेक्षा करके— दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सेवा करते हैं। [रत्नत्रय को ही अपनी आत्मा में प्रगट करते हैं क्योंकि वस्तुतः रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है] ॥ ४३२–४३३ ॥

टीका—जो मोही हैं अर्थात् रागादि विकल्प की उपाधि से रहित परम समाधिरूप भावलिंग के विषय के जानकर नहीं हैं, ये नाना प्रकार के बनावटी साधुओं के भेष अथवा गृहस्थों के भेष लेकर मान बैठते हैं कि यह द्रव्यमय मेरा भेष मुझे मुक्ति प्राप्त करा देगा। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं** भावलिंग से रहित अर्थात् अंतरंग शुद्धि से रहित केवलमात्र शरीर पर स्वीकार किया हुआ द्रव्यलिंग ही मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता। क्योंकि **जं देहणिम्ममा अरिहा** अर्हंत भगवान् देह से निर्मत्व होते हुए और **लिंगं मुइत्तु** लिंग का आधार जो शरीर उसके ममत्व को मन-वचन-काय से छोड़कर **दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सेवा करते हैं। अर्थात् चिदानंद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा जो शुद्धात्मतत्त्व उसके विषय में जो श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र

ये दीखते जगत में मुनि साधुओं के, हैं भेष, नेक विधि भी गृहवासियों के ।
वे अज्ञ मूढ़ इनको जब धारते हैं, है मोक्षमार्ग यह यों बस मानते हैं ॥४३२॥
पर्याप्त केवल नहीं तन नग्नता है, तू मान पंथ शिव का निज मग्नता है ।
होते निरीह तन से अरिहन्त तातैं, चारित्र-बोध-दृग लीन स्वगीत गाते ॥४३३॥

भावयन्तीत्यर्थः ।।४३२-४३३।।

अथैतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४३४।।

हैं उनको बार-बार उपार्जन करते हैं ।।४३२-४३३।।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यदेव ने बतलाया है कि वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही रत्नत्रय है उसी को मोक्षमार्ग बताकर बाह्य लिंग मोक्षमार्ग नहीं होता । किंतु बाह्य लिंग मोक्षमार्ग नहीं होता ऐसा बताते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनेक प्रकार के ग्रहस्थों के और पाखंडी बनावटी साधुओं के लिंग उन सबका निषेध किया है, न कि यथाजात दिगम्बर साधु के भेष को क्योंकि इन्हीं कुन्दकुंदाचार्य देवने अपने अष्टपाहुड़ग्रन्थ में 'णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे' बताया है कि छलरहित नग्नपना ही मोक्ष मार्ग है इसके सिवाय सब उन्मार्ग हैं, ऐसी दशा में वे स्वयं ही यथाजात दिगम्बर भेष का निषेध कैसे कर सकते थे । अतः गृहस्थों के लिंग के साथ इन्होंने बनावटी पाखंडी छली साधुओं के लिंगों को लिया है न कि यथाजात नग्न दिगम्बर लिंगों को । क्योंकि पाखंडी शब्द का अर्थ बनावटी छली साधु ही होता है जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

"सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनां, पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ।।

अर्थात् हिंसा, आरंभ और परिग्रह से सहित एवं सांसारिक उलझनों में ही फंसे रहने वाले पाखंडी अर्थात् साधुपन से दूर होकर भी अपने आपको साधु कहने वाले लोगों का आदर-सत्कार करना पाखंडी मूढ़ता कहलाती है जिससे सम्यग्दृष्टि जीव दूर रहता है । इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने यहां पर पाखंडी शब्द से बनावटी साधुओं को ही लिया है, वास्तविक साधुभेष को नहीं । क्योंकि रत्नत्रय ही वास्तविक मोक्षमार्ग माना गया है वह भी किसी आधार विशेष में ही होगा । इस पनपते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आधार छलरहित यथाजात भेष ही है जिसको कि प्रत्येक ऋषभादि तीर्थंकरने स्वीकार किया है । उसके बिना निराधार रूप से न तो किसी तीर्थंकर ने रत्नत्रय का सेवन ही किया और न हो सकता है । अतः प्रत्येक मुमुक्षु को अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को पनपाकर सम्पन्न करने के लिए यह निश्छल-निग्रन्थ-दिगम्बर भेष धारण करना ही चाहिये, ऐसा किये बिना रत्नत्रय सम्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु निश्छल यथाजात दिगम्बर बनकर भी सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय को भूल नहीं जाना चाहिये ।

इसी बात को आचार्यदेव फिर विशेषरूप से और भी दृढ़ करते हैं—

अर्थ - बनावटी छली साधु और गृहस्थ के द्वारा स्वीकार किये हुए जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं

पाखण्डिलिंग गृहिलिंग धरो तथापि, वो मोक्ष मार्ग नहिं हो सकता कदापि ।
तीनों मिले चरित-दर्शन-बोध सो ही, है मोक्ष-मार्ग कहते जिन वीत-मोही ।।४३४।।

ण वि एस मोक्खमग्गो न चैष मोक्षमार्गः। एष कः ? **पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिङ्गान्निरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखण्डिगृहमयानि द्रव्यलिङ्गानि। कथंभूतानि ? निर्ग्रन्थकोपीनग्रहणरूपाणि बहिरङ्गाकारचिह्नानि। तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत् **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति** शुद्धबुद्धैकस्वभाव एवं परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदन्ति कथयन्ति ।। ४३४ ।। यत एवं—

तह्मा जहित्तु[1] लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।।४३५।।

किन्तु मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, [जो कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष में ही आधार-आधेय मात्र से पाया जाता है] ऐसा जिन भगवान् ने कहा है ।। ४३४ ।।

टीका—ण वि एस मोक्खमग्गो यह मोक्ष का मार्ग नहीं है। कौन मोक्ष का मार्ग नहीं है ? कि **पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग से सर्वथा रहित जो पाखंडी गृहस्थों के द्वारा स्वीकार किये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। ये भेष कौन कौनसे हैं ? कि [अंतरंग शुद्धि के बिना] बाह्यमें सर्वथा निर्ग्रन्थ होकर रहना अथवा कोपीन धारण करना आदिरूप बहिरंग आकारके चिह्नरूप हैं ये सब मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग क्या है ? कि **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति** शुद्ध-बुद्धरूप-एकस्वभाववाला जो परमात्मतत्त्व उसका श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।।४३४।।

विशेषार्थ—आत्मा जब सब कर्मों से रहित हो रहे, इस प्रकार के आत्मा के परिणाम का नाम ही मोक्ष है। इसलिये उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये क्योंकि कार्य-कारण में परस्पर पूर्वोत्तर भाव होता है। एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के परिणाम हैं जिनका कि फल मोक्ष होता है। बाह्यलिंग तो देहमय है जो कि पुद्गल द्रव्य रूप है इसलिये उसके साथ आत्मा के मोक्ष का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। हाँ, यह बात दूसरी हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो चारित्र है वह विश्वभर के सम्पूर्ण पदार्थों से दूर हट कर आत्मतल्लीन होने का नाम है और बाह्य समस्त पदार्थों से स्पष्ट रूपसे पृथक् रहना ही नग्न दिगम्बर भेष है जिसके होने पर ही आत्मतल्लीनतारूप वास्तविक चारित्र सम्पन्न हो पाता है। अतः आत्मतल्लीनतारूप निश्चयचारित्र का आधार होने से निश्छल-दिगम्बर भेष भी कारण का कारण होने से उपादेय है। किन्तु कोई मात्र नग्नता को ही मोक्षमार्ग मान ले तो उसका यहाँ निषेध किया गया है और बताया गया है कि भाई ! मुक्ति की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही होगी मात्र बाह्य नग्न आदि भेष से नहीं। इसलिए आचार्य देव कहते हैं—

अर्थ—जबकि केवल द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है इसलिये आचार्य कहते हैं कि गृहस्थों के अथवा घरहीनों

सागार और अनगार पदानुराग, वाक्काय से मनस से झट त्याग जाग।
सम्यक्त्व-बोध-व्रत में शिवपंथ में ही, भाई विहार कर तो सुख हाथ में ही ।।४३५।।

1— दुहित्तु इति पाठः।

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारिऐहिं वा गहिदे यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयन्ति तस्मात्त्यक्त्वा । कानि ? निर्विकारस्वसंवेदनरूपभावलिङ्गरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैर्गृहीतानि बहिरङ्गाकारद्रव्यलिङ्गानि । पश्चात् किं कुरु ? **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! आत्मानं योजय सम्बन्धं कुरुष्व । क्व ? केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ।। ४३५ ।।

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।४३६।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य ! आत्मानं स्थापय, क्व विषये ? विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । **चेदयहि** तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसीभावेन अनुभवस्व ।

के द्वारा ग्रहण किये गये लिङ्गों को छोड़कर अपने आपको दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में लगाओ ।।४३५।।

टीका—तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे जब कि ऊपर लिखे अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् प्रतिपादन करते हैं तो निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानरूप जो भावलिंग है उससे रहित होने वाले सागार गृहस्थ और अनगार त्यागी मुनियों के द्वारा मात्र बाह्य में ग्रहण किये हुए द्रव्य लिंगों को छोड़कर **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय स्वरूप जो शुद्ध आत्मा उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेदरत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग में अर्थात् मोक्ष के उपाय में अपने आपको युक्त करो अर्थात् तल्लीन बन जावो ।।४३५।।

पं० जयचन्दजी का भावार्थ यहां द्रव्यलिंग को छुड़ाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगने का बचन है सो यह सामान्य परमार्थवचन है । कोई समझेगा कि मुनि-श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश है ऐसा नहीं है । जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जान भेष रखे है, उसको उसका पक्ष छुड़ाया है कि भेषमात्र मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम ही हैं । व्यवहार आचार सूत्र में कहे अनुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं वे व्यवहार कर निश्चयमोक्षमार्ग के साधक हैं । उनको छुड़ाते नहीं परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से ही मोक्ष होता है, भेषमात्र से मोक्ष नहीं है ऐसा जानना ।

अब आचार्य यह उपदेश करते हैं कि मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मानुभूति रूप लक्षण वाले निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिये—

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने आपको मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का अनुभव कर और उस आत्मा में ही निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।। ४३६ ।।

टीका- मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य ! शुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाववाले आत्मतत्त्व का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप जो अभेदरत्नत्रय वही है स्वरूप जिसका ऐसे मोक्षमार्ग

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो, अन्यत्र छोड़ निजको न करो विहारो ।
संबंध मोक्ष पथ से अविलंब जोड़ो, तो आपको नमन हो मम ये करोड़ों ।।४३६।।

झायहि तं चेव तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय। **तत्थेव विहर णिच्चं** तत्रैव विहर वर्तनापरिणतिं कुरु। नित्यं सर्वकालं। **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिपरद्रव्यालम्बनोत्पन्न-शुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु मा विहार्षीः, मा गच्छ, मा परिणतिं कुर्विति ॥ ४३६ ॥

अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिङ्गरहिता ये द्रव्यलिङ्गे ममतां कुर्वन्ति तेऽद्यापि समयसारं न जानन्तीति प्रकाशयति—

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ॥४३७॥

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिङ्ग-रहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखण्डिद्रव्यलिङ्गेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिङ्गेषुबहु प्रकारेषु ये ममतां कुर्वन्ति। **तेहिं ण णादं समयसारं** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनसमुत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविक-ल्परहितः शून्यः चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजात-

---

में अपने आपको स्थापित कर। **चेदयहि** उसी मोक्षमार्गका अनुचिंतन कर अर्थात् परमसमरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव कर। **झायहि तं चेव** उसी का ध्यान कर अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लगकर उसकी बार-बार भावना कर। **तत्थेव विहर णिच्चं** उसी में नित्य पर्यटन कर। **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** देखे हुये, सुने हुए, अनुभव किये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान बंधादि परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभसंकल्प-विकल्पों में मत जा, उन्हें स्मरण मतकर, उन रूप अपनी परिणति मत होने दे ॥४३६॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि निश्चयनय से आत्मा के परिणाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, उनमें आत्मा का स्थित रहना ही मोक्ष का मार्ग है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि उस मोक्षमार्ग में ही अपने आपको स्थिर करे, उसी का ध्यान करे, उसी का अनुभव करे, और संसार के सब द्रव्यों को छोड़कर इसी में प्रवृत्त रहे तभी मोक्ष प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।

आगे कहते हैं कि जो सहज शुद्ध परमात्मानुभूति लक्षण वाले भावलिंग से तो रहित हैं। किन्तु द्रव्यलिंग में [बाहरी वेषभूषा में] ही ममता करते हैं वे आज भी समयसार को नहीं जानते—

अर्थ—जो लोग नाना प्रकार के पाखंडी लिङ्गों में और गृहस्थ लिङ्गों में ही ममत्व किये हुए हैं [कि उन्हें यही भेष मोक्ष दिला देगा] वे लोग समयसार को नहीं जानते ॥ ४३७ ॥

टीका—पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं वीतरागस्वरूप स्वसवेदन ज्ञान लक्षण वाले ऐसे भावलिंग से जो रहित हैं ऐसे निर्ग्रन्थरूप पाखण्डियों के द्रव्यलिंगों में और कोपीन आदि चिह्नवाले गृहस्थ के द्रव्यलिंगों में जो कि अनेक प्रकार के हैं उनमें जो ममता किये बैठे हैं, **तेहिं ण णादं समयसारं** वे लोग निश्चयसमयसार को नहीं जानते। वह निश्चय-कारणसमयसार कैसा है ? कि जो तीन लोक और तीन काल में ख्याति, पूजा, लाभ, मिथ्यात्व, काम और क्रोधादि समस्त परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभ तथा अशुभ-संकल्प-विकल्पों से रहित है और चिदानंदमयी एक स्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्व का समीचीन श्रद्धान,

---

गार्हस्थ्यलिंग भर में मुनिलिंग में ही, जो मुग्ध साधक रहा बहिरंग में ही।
अज्ञात ही समयसार उसे रहेगा, संसार में भटकता दुख ही सहेगा ॥४३७॥

वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालम्बनः पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसारः स खलु तेन ज्ञात इति ।।४३७।। अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिङ्गसहितं निर्ग्रन्थयतिलिङ्गं कौपीनधरणादिबहुभेदसहितं गृहिलिङ्गं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते। निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिङ्गानि न मन्यत इत्याख्याति —

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।४३८।।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यावहारिकनयो द्वे लिङ्गे मोक्षपथे मन्यते। केन कृत्वा ? निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणभावलिङ्गस्य बहिरङ्गसहकारिकारणत्वेनेति। **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि** निश्चयनयस्तु निर्विकल्प-समाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अहं निर्ग्रन्थलिङ्गी, कौपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिङ्गविकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति। कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति। किंच – अहो शिष्य ! **पाखंडीलिंगाणि य** इत्यादि गाथासप्तकेन द्रव्यलिङ्गनिषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि किं तु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिङ्गरहितानां

ज्ञान और आचरण तद्रूप जो अभेदरत्नत्रयमयी निर्विकल्प-समाधि उससे उत्पन्न हुआ, वीतराग सहज अपूर्व परम आह्लादरूप सुखरस का अनुभवन करना वही हुआ परम समरसीभाव रूप परिणाम उसके आलम्बनसे पूर्ण कलश के समान भरा पूरा है और केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की प्रकटतारूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार का उत्पादक है ऐसा जो निश्चय कारणसमयसार है, उसको नहीं जानते ।।४३७।।

अब इसके आगे आचार्य बतलाते हैं कि विकार रहित शुद्धात्मा का संवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे भावलिंग से युक्त जो निर्ग्रन्थ यति लिंग होता है और कोपीन आदि से युक्त जो बहुत प्रकार का गृहस्थ लिंग होता है उन दोनों को व्यवहारनय मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय तो सब ही द्रव्यलिंगों को मोक्षमार्ग नहीं मानता-

अर्थ – व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों प्रकार के ही लिंगों को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय सब ही बाह्यलिंगों में किसी को भी मोक्षमार्ग नहीं मानता ।।४३८।।

टीका – ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यवहारिकनय मोक्षमार्ग में निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग और उत्तम श्रावक का लिंग, इन दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग में उपयोगी मानता है। क्योंकि वह निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणवाले भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारण है किन्तु **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि** निश्चयनय तो स्वयं निर्विकल्प समाधिरूप है इसलिये निर्विकल्प समाधिरूप होने से वह–मैं निर्ग्रन्थ लिंगी हूँ अथवा कोपीन धारक हूँ–इस प्रकार के मन में पैदा होने वाले सभी द्रव्यलिंगों के विकल्प को सर्वथा नहीं चाहता जैसे कि वह रागादिविकल्प को नहीं चाहता।

अब यहाँ आचार्य शिष्य को संबोधन कर कहते हैं कि हे शिष्य ! यहाँ पर **पाखंडीलिंगाणि य** इत्यादि सात गाथाओं के द्वारा जो द्रव्यलिंग का निषेध किया है उसे सर्वथा निषिद्ध ही मत

दो द्रव्य–भावमय लिंग नितान्त पाये-जाते विमोक्ष में 'व्यवहार' गाये ।
पै लिंग का न शिव के पथ में सहारा, 'आत्मा' अलं सहज निश्चय ने पुकारा ।।४३८।।

यतीनां संबोधनं कृतं। कथं ? इति चेत्, अहो तपोधनाः ! द्रव्यलिङ्गमात्रेण संतोषं मा कुरुत किन्तु द्रव्यलिङ्गाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत। ननु भवदीयकल्पनेयं, द्रव्यलिङ्ग-निषेधो न कृत इति अत्र ग्रन्थे पुनर्लिखितमास्ते। **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं** इत्यादि? नैव **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग** मित्यादिवचनेन भावलिङ्गरहितं द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं न च भावलिङ्गसहितं। कथं ? इति चेत् द्रव्यलिङ्गा-धारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं। न च द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं। केन रूपेण ? इति चेत् पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसङ्गपरित्याग एव कृतो न च देहत्यागः। कस्मात् ? देहाधारेण ध्यानज्ञानानुष्ठानं भवती तिः हेतोः। न चदेहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति। वीतरागध्यानकाले पुनर्ममदीयो देहोऽहं लिङ्गीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः। देहनिर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते ? इति चेत् **जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाण-चरित्ताणि सेवंते** इत्यादि वचनेनेति। न हि शालितन्दुलस्य बहिरङ्गतुषे विद्यमाने सत्यभ्यन्तरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यन्तरतुषत्यागे सति बहिरङ्गतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसङ्गपरित्यागरूपे बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति, न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसङ्ग-परित्यागरूपं द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति। हे भगवन् भावलिङ्गे सति बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गं भवतीति नियमो नास्ति

मान लेना, किन्तु निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग है उससे रहित होनेवाले यतियों को संबोधन किया है कि हे तपोधन लोगो ! तुम अपने इस द्रव्यलिंग मात्र से ही संतोष मत कर बैठना किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावना को प्राप्त करने की चेष्टा करना।

इस पर शिष्य फिर कहता है कि यह आपका कहना है कि 'यहाँ द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया है' किन्तु यहाँ तो स्पष्ट रूप से **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि** लिखा हुआ है। जिसका अर्थ होता है कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि तुम कहते हो सो बात नहीं है किन्तु **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि** इस वचन से भावलिंग रहित द्रव्यलिंग का निषेध किया है न कि भावसहित द्रव्यलिंग का क्योंकि द्रव्यलिंग का आधारभूत जो देह है उसके ममत्व का यहाँ निषेध किया है न कि द्रव्यलिंग का। क्योंकि पहले जब दीक्षा ली गई उस समय सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया गया था तब वहाँ देहका त्याग नहीं किया गया, क्योंकि देहके आधार से ध्यान और ज्ञानानुष्ठान होता है। और शेष परिग्रह के समान देहको पृथक् भी नहीं किया जा सकता, अतः फिर वीतराग रूप ध्यान के काल में यह मेरा देह है, मैं लिंगी हूँ इत्यादि विकल्प व्यवहार के द्वारा भी नहीं करना योग्य है। इस कथन से देह का ममत्व छुड़ाया है यह कैसे जाना जाये ? इसका उत्तर यह है कि **जं देह णिम्ममा अरिहा दसणाणचरित्ताणि सेवंते** इत्यादि मूलग्रन्थकारका वचन है, इससे स्पष्ट जाना जाता है कि यहाँ देह का ममत्व छुडाया है और वह ठीक भी है। क्योंकि शालितंदुल के बाहर में जब तक तुष लगा रहे तब तक अंतरंग के तुषको नहीं छुडाया जा सकता। जहाँ अंतरंग तुषका त्याग होता है वहाँ उसके बहिरंग तुषका त्याग अवश्य होता ही है। इस न्यायसे जहाँ सर्वसंग अर्थात् परिग्रह के त्याग स्वरूप बहिरंग द्रव्यलिंग होता है वहाँ भावलिंग होता भी है और नहीं भी होता, कोई एक नियम नहीं है। किन्तु अंतरंग भावलिंग जहाँ होता है वहाँ सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है ऐसा नियम है।

यहाँ पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! जहाँ भावलिंग होता है वहां बहिरंग

साहारणासाहारणेत्यादि वचनादिति ? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानामूढ़स्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं । आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव । कस्मात् ? इति चेत् बुद्धिपूर्वक-ममत्वाभावात् पाण्डवादिवत् ।। येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रन्थरूपेणैव । परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थः । एवं भावलिङ्गरहितानां द्रव्यलिङ्ग-मात्रं मोक्षकारणं न भवति । भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतम् । अत्राह शिष्यः केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति । कस्मात् ? इति चेत् - **सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** इति वचनात् इति ? नैवं, छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं । तद्यथा –यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्व-रागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं । अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबन्धि भेदज्ञान-मात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः । अथ मतं सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति । कस्मात् ? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन

[सर्वसंग त्यागरूप] द्रव्यलिंग भी होता ही है ऐसा भी नियम नहीं है क्योंकि **साहारणासाहारण** इत्यादि आगम का वचन मिलता है । आचार्य इसका परिहार करते हैं कि बात ऐसी है कि कोई तपस्वी ध्यान लगाये बैठा है वहाँ कोई दुष्ट आकर दुष्ट भाव से उस ध्यान में बैठे हुए तपस्वी के कपड़ा लपेट जाय या उसे कोई आभूषण आदि पहना दे तो भी वह तो निर्ग्रन्थ ही रहता है क्योंकि उसके बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है जिसके लिए पाण्डवादिक उदाहरण स्पष्ट है । तथा भरत चक्रवर्ती आदि भी दो घडी काल में ही मुक्त हो गये हैं वे भी निर्ग्रन्थ रूप धारण करके ही मुक्त हुये हैं परन्तु उनसे परिग्रह के त्यागरूप अवस्था का काल स्वल्प होने से साधारण लोग उनके परिग्रह के त्याग को नहीं जानते हैं ऐसा यहाँ आशय है ।

इस प्रकार भावलिंग से रहित मात्र द्रव्यलिंग से मोक्ष नहीं होता किन्तु जो भावलिंग सहित हैं उनका वहाँ द्रव्यलिंग सहकारी कारण है [उसके बिना भावलिंग नहीं होता] इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहाँ तेरहवें स्थल में सात गाथायें कही गई ।

यहाँ पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि केवलज्ञान तो शुद्ध होता है और छद्मस्थों का ज्ञान अशुद्ध, वह छद्मस्थों का ज्ञान अशुद्धरूप केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि "सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो" इस प्रकार इसी समयसार में वचन आया है अर्थात् शुद्ध को जानने वाला ही आत्मा शुद्ध बनता है ऐसा समयसार में लिखा है ।

इसका आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि हे भाई ! तुम जैसा कहते हो ऐसा नहीं है । अपितु छद्मस्थ का ज्ञान कथंचित् शुद्ध भी होता है तो कथंचित् अशुद्ध भी । केवलज्ञान की अपेक्षा तो छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध ही होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाने के कारण और वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र सहित होने के कारण वह शुद्ध भी होता है । अभेदनय से वह छद्मस्थ सम्बन्धित भेदविज्ञान आत्म स्वरूप ही होता है, इसलिये एकदेश व्यक्तिरूप उस ज्ञान के द्वारा सकलदेश व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है इसमें कोई दोष नहीं है इसलिये वह शुद्ध नहीं होता । ऐसा आशय लेने पर तो फिर मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि छद्मस्थों का

निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति । अथाभिप्रायः पारिणामिकभाव-शुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते । कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं पारिणामिकभावस्य शक्ति-मात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति । तथाहि—जीवत्वभव्यत्वरूपेण त्रिविधो हि पारिणामिकः । तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोप-शमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं । तच्च शुद्धत्वं औपशमिकक्षा-योपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबन्धि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति । तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बन्धमोक्षस्य कारणरहितत्वं पञ्चास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते ।

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥

तत एव स्थितं निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यं क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति । शुद्धपारिणामिकभावः पुनरेकदेश-व्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति नच ध्यानपर्यायरूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ॥४३८॥

ज्ञान एकदेश निरावरण तो होता है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा वह नियमपूर्वक आवरण सहित और क्षायोपशमिक ही होता है । इस पर यदि तुम ऐसा कहो कि परिणामिक भाव शुद्ध हैं उससे मोक्ष हो सकता है, तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं बैठता क्योंकि केवलज्ञान होने के पहले तो पारिणामिक भाव भी व्यक्ति रूप से नहीं किन्तु शक्तिरूप से ही शुद्ध होता है। देखो, पारिणामिक भाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से तीन प्रकार का है । उसमें अभव्यत्व भाव तो मुक्ति का कारण नहीं हो सकता है । शेष दो जीवत्व और भव्यत्व, इन दोनों में शुद्धता तब होती है जबकि यह जीव दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम को प्राप्त कर लेने से वीतराग-सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में परिणत होता है । वह शुद्धता वहां पर मुख्य रूप से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव संबंधी होती है । पारिणामिक भाव की तो वहाँ गौणता रहती है । दूसरी बात यह है कि शुद्ध पारिणामिक भाव तो बंध-मोक्ष का कारण ही नहीं होता ऐसा पंचास्तिकाय के निम्न श्लोक में कहा है—

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥

अर्थात् जीव के भाव औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक के भेद से पाँच प्रकार के हैं । उनमें से औदयिक भाव तो बंध करने वाला है, और औपशमिक भाव क्षायोपशमिक भाव क्षायिक भाव मुक्ति देने वाले हैं । पारिणामिक भाव निष्क्रिय होता है ।

अतएव यह बात निश्चित होती है कि मोक्ष का कारण तो क्षायोपशमिक रूप भाव श्रुतज्ञान ही है जो कि वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र के साथ में नियम से होता है और जो निर्विकल्प रूप शुद्धात्मा की परिच्छित्तिरूप लक्षणवाला है । अतएव अभेदनय से वही शुद्धात्मा शब्द से कहा जाता है । ऐसा वह भावश्रुतज्ञान जो कि क्षायोपशमिक होता है वही मोक्ष का कारण होता है । शुद्ध पारिणामिक भाव कथंचित् भेदाभेदात्मक द्रव्य-पर्याय स्वरूप जो जीव पदार्थ है उसकी एकदेश अभिव्यक्ति वाला शुद्धभावना रूप अवस्था में ध्येयरूप द्रव्यके रूपमें रहता है न कि ध्यानपर्याय के रूपमें क्योंकि ध्यान तो विनश्वर हुआ करता है ॥४३८॥

अथेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति; **श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः समयसारग्रन्थसमाप्तिं** कुर्वन्तः फलं दर्शयन्ति—तद्यथा—

जो समयपाहुडमिणं पडिदूणय अत्थतच्चदो णादुं ।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं ।।४३९।।

जो समयपाहुडमिणं पडिदूणय यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा । **अत्थतच्चदो णादुं** ज्ञात्वा च । कस्मात् ? ग्रन्थार्थतः न केवलं ग्रन्थार्थतः ? तत्त्वतो भावपूर्वेण । **अत्थे ठाहिदि** पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति । **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते । किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं, "आत्मानोपादानसिद्धं स्वयमति-शयवद्वीतबाधं विशालं वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं, शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्" इति ।

अब इस शुद्ध आत्मतत्त्व को निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा भाता हुआ परमोत्तम अक्षय सुख को प्राप्त हो जाता है ऐसा आगे की गाथा में कहते हैं या **श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ** को समाप्त करते हुए इसका जो फल होता है उसे बलताते हैं—

अर्थ— जो ज्ञानी जीव इस समयसार ग्रन्थ को पढ़कर अर्थ और तत्त्व से जानकर उसके अर्थ में ठहरेगा अर्थात् इस ग्रन्थ के कहे अनुसार अपना परिणमन कर लेगा वह स्वयं उत्तम सुख को प्राप्त कर लेगा ।।४३९।।

टीका—जो समयपाहुडमिणं पडिदूणय श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुये इसका फल दर्शाते हैं कि कोई भी जीव इस समयप्राभृत नाम के ग्रन्थ को पढ़कर, केवल पढ़कर ही नहीं **अत्थतच्चदो णादुं** अर्थ और तत्त्व से भी जानकर अर्थात् उसके भाव को भी समझकर **अत्थे ठाहिदि** पश्चात् शुद्धात्म लक्षण वाले उपादेय पदार्थ में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लग रहेगा **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** वह आत्मा आगामीकाल में वीतरागरूप सहज अपूर्व परम आह्लाद रूप सुख को प्राप्त करेगा । वह सुख कैसा है—

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वंद्वभावं ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकाल-
मुत्कृष्टांनतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ।।

अर्थात्—[इस समयसार के पढ़ने और अपने जीवन में उतारने से] जो सिद्ध होता है उसको वह परमसुख होता है जिसका कि आत्मा ही उपादान है अर्थात् आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अपने आप अतिशय सहित है, सभी प्रकार की बाधाओं से रहित है, विशाल है, अर्थात् उससे अच्छा सुख दूसरा कोई नहीं है, हानि और वृद्धि से रहित है, विषयों की वासना से रहित है, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं है, जो अन्य द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला है, निरुपम है अर्थात्

साधु स्वयं समयसार सुना सुनाता, सारांश सादर सदा गुणता गुणाता ।
पीता सदा समयसार-सुधा-सुधारा, सानन्द शीघ्र तिरता भवसिंधु-धारा ।।४३९।।

अत्राह शिष्यः—हे भगवन् ? अतीन्द्रियसुखं निरन्तरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्नज्ञायते ? भगवानाह—कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रियं। कस्मात् ? इति चेत् सांसारिकसुखं पञ्चेन्द्रियप्रभवं। यत्पुनरतीन्द्रियसुखं तत्पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत इदं तावत्सामान्येनातीन्द्रियसुखमुपलभ्यते। यत्पुनः पञ्चेन्द्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति। यच्च मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च। तथाहि मुक्तानामिन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतीन्द्रियसुखमस्तीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनीन्द्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतुः। एवं पक्षहेतुरूपेण द्वयङ्गमनुमानं ज्ञातव्यम्। आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादिवचनेन। अतः कारणात् अतीन्द्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति।

उक्तं च यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम्।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्।
भाविनो ये च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वान्तरञ्जकम्॥

जिसकी तुलना करने वाला दूसरा सुख नहीं है, अमित है अर्थात् सीमातीत है, सर्वकाल रहने वाला है, उत्कृष्ट है और अनन्तसार वाला है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! आपने अनेक बार अतीन्द्रिय सुख की बात कही है किन्तु वह अतीन्द्रिय सुख कैसा है ऐसा लोग नहीं जानते। आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं—देखो, कोई व्यक्ति स्त्री प्रसंग आदि पंचेन्द्रिय के विषय-सुख व्यापार से रहित अवस्था में सभी प्रकार की आकुल-व्याकुलता से दूर होकर बैठा हुआ है उसको किसी ने आकर पूँछा कि कहो भाई देवदत्त ! सुख से तो हो ? इस पर वह उत्तर देता है कि सुख से हूँ, तो यह सुख अतीन्द्रिय है क्योंकि सांसारिक सुख विषयों के सेवन से पैदा होता है और यहाँ पंचेन्द्रियों के विषय के व्यापार का अभाव होते हुये भी सुख दीख रहा है वह अतीन्द्रिय है। किन्तु यह जो सुख हो रहा है वह सामान्यात्मक साधारण-सा अतीन्द्रिय सुख है। किन्तु जो पाँचों इन्द्रियों से और मन से होने वाले सभी प्रकार के विकल्प जालों से रहित ऐसे जो समाधिस्थ परम योगीराज को स्वसंवेदनात्मक अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेष रूप से होता है अर्थात् इससे भी और अपूर्व विशेषता लिये हुये होता है। जो मुक्तात्माओं को अतीन्द्रिय सुख है, वह हम तुम सरीखे लोगों के या तो अनुमानगम्य है या आगमगम्य है। देखो, मुक्तात्माओं को इन्द्रिय-विषयों के व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में रत होकर रहने वाले परम मुनीश्वरों को स्वसंवेद्यात्मक सुख की उपलब्धि होती है, यह हेतु हुआ। यह पक्ष और हेतु रूप दो अंगवाला अनुमान हुआ ऐसा जानना चाहिये। आगम में तो जैसा "आत्मोपादान सिद्ध" इत्यादि वचन से ऊपर कह आये हैं वह वचन अतीन्द्रिय सुखका वर्णन करने वाला प्रसिद्ध ही है। इसलिये अतीन्द्रिय सुख के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये—यही बात और स्थान पर भी कही है—

यद्देव मनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थ संभवं, निर्विशंति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमं।
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं, भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं।

अनन्तगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकं। तदनन्तरमन्यः करोति अन्यो भुङ्क्ते इति बौद्धमतैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं। ततः परमात्मरागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपञ्चकं। ततः परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदशकम्। तदनन्तरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य-इत्यजानन्बहिरङ्गशब्दादिविषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चिन्तयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकं। तदनन्तरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं। ततः परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनन्तरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। तदनन्तरं पञ्चेन्द्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनन्तरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयं। ततः परं शास्त्रेन्द्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण गाथा-

---

अनंतगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजं। एकस्मिन् समये भुंक्ते तत्सुखं परमेश्वरः॥

अर्थात्–वर्तमान में जो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य हैं वे सब निर्रगल रूप से अपनी सभी इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाले इन्द्रियजन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त हुए सुख भोग रहे हैं। और जो महर्दिक सुख पहले भूतकाल में पुण्याधिकारी देव और मनुष्यों ने भोगा है तथा आगे होने वाले पुण्याधिकारी देव और मनुष्य इन्द्रियजन्य स्वादिष्ट और मनोरंजक सुख को भोगेगें उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा अतीन्द्रियजन्य अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान् को एक समय में होता है।

जैसा कि पूर्व में वर्णन कर आये हैं सात गाथाओं में विष्णु के कर्तापन का निराकरण किया है, उसके बाद चार गाथाओं में बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण है कि कर्त्ता कोई दूसरा है और भोक्ता दूसरा ही है। उसके आगे पांच गाथाएं आई हैं जिनमें परमात्मा रागादि भावों का कर्त्ता नहीं है इस प्रकार की सांख्यमतवालों की जो मान्यता है उसका निराकरण है। उसके आगे तेरह गाथाएं ऐसी हैं जिनमें इन्हीं सांख्यमतवालों की "कर्म ही सुखादि करता है आत्मा कुछ नहीं करता" इस मान्यता का निराकरण है। इसके पश्चात् सात गाथाएं ऐसी हैं जिनमें जो पुरुष 'चित्त में होने वाले रागभाव का घात करना चाहिये' इस बात को नहीं जानकर बहिरंग शब्दादि विषयों का ही घात करने के लिए सोचता रहता है, उसको समझाया है। इसके बाद सात गाथाएं हैं, जिनमें यह बताया गया है कि आत्मा व्यवहार से द्रव्यकर्म का कर्त्ता है और निश्चयनय से भावकर्म का कर्त्ता है। उसके भी आगे दस सूत्र ऐसे हैं, जिनमें बताया गया है कि ज्ञान गुण ज्ञेय रूप से परिणमन नहीं करता। उसके बाद चार गाथाओं में शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना रूप चारित्र का व्याख्यान किया गया है। उसके बाद दस सूत्र हैं, जिनमें पांचों इन्द्रियों और मनके विषयों के निरोध का कथन है। उसके बाद तीन गाथायें हैं, जिनमें यह बताया गया है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का नाश करना चाहिये। इसके पश्चात् पन्द्रह गाथाएं आई हैं, जिनमें बताया गया है कि शास्त्र और इन्द्रियों के विषय शब्दादिक ये सब ज्ञान नहीं, ज्ञान इन सबसे भिन्न वस्तु है। इसके बाद तीन

पञ्चदशकं । ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तदनन्तरं शुद्धात्मभावनारूपं भावलिङ्गनिरपेक्षं द्रव्यलिङ्गं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनन्तरं सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम् ॥४३९॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां **समयसार** व्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां

तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन षडधिकनवतिगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः

समयसारचूलिकाभिधानो **सर्वविशुद्धज्ञान**नामा

दशमोऽधिकारः समाप्तः ।

गाथायें हैं, जिनमें बताया गया है कि शुद्धात्मा निश्चय से कर्म और नोकर्म आदि आहार को ग्रहण नहीं करता । इसके बाद सात गाथाएं हैं, जिनमें मुख्यता से यह बताया गया है कि शुद्धात्मा की भावना रूप जो भावलिंग है उस भावलिंग से शून्य जो द्रव्यलिंग है, वह मुक्ति का कारण नहीं होता, और इन सबके अन्त में एक गाथा है, जिनमें मुख्यता से यह बतलाया गया है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल सुख प्राप्ति है ॥ ४३९ ॥

इस प्रकार इस **समयसार** ग्रन्थ की **श्री जयसेनाचार्य कृत** शुद्धात्मानुभूति
लक्षण वाली तात्पर्य नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में
मात्र छियानवे (९६) गाथाओं के द्वारा तेरह अन्तर अधिकारों में
यह समयसार चूलिका है दूसरा नाम जिसका,
ऐसा **सर्वविशुद्धिज्ञान** नामका दसवां अधिकार
समाप्त हुआ ।

स्याद्वादाधिकारः

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥

चिन्त्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूयः पुनरपि । काऽसौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति । वस्तुतत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्याख्या । किमर्थं ? स्याद्वादसिद्ध्यर्थं स्याद्वादनिश्चयार्थं । अत्र समयसारव्याख्याने समाप्तिप्रस्तावे न केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते, उपायोपेयभावश्च । उपायो मोक्षमार्गः उपेयो मोक्ष इति । अतः परं स्याद्वादशब्दार्थः कः ? – इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः– **स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेणानेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः** स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनमित्यर्थः । तच्च भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु, अनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति । अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूप परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकान्तो भण्यते । स चानेकान्तः किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थः शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेत्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथयति । तथाहि — ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति । ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति । द्रव्यार्थिकनयेनैकः । पर्यायार्थिकनयेनानेकः । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः । द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः । पर्यायार्थिकनयेनानित्य ।

अब थोड़ा फिर भी इस बात का विचार किया जाता है कि वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिति [व्याख्या] किस प्रकार की है ? यह विचार भी स्याद्वाद की सिद्धि के लिए अर्थात् उसके निर्णय के लिए किया जा रहा है । यहां इस समयसार के व्याख्यान में समाप्ति के अवसर पर केवल वस्तुतत्त्व की व्यवस्था का ही विचार नहीं किया जा रहा है किन्तु इसके साथ में, उपाय–उपेय भाव का भी विचार किया जा रहा है । यहां उपेय तो मोक्ष है और उपाय उस मोक्ष का मार्ग है । अब यहां प्रश्न होता है कि स्याद्वाद शब्द का क्या अर्थ है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं— कि 'स्यात् अर्थात् कथंचित् विवक्षित प्रकार से [अपनी विवक्षा को लिए हुए] अनेकांत रूप से बोलना [कथन करना] सो स्याद्वाद है । यह स्याद्वाद भगवान् अरहंत देव का शासन है । भगवान् का यह शासन सम्पूर्ण वस्तुओं को अनेकान्तात्मक बतलाता है । अब अनेकान्त का क्या अर्थ है ? सो स्पष्ट बतलाते हैं—एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व-नास्तित्व सरीखी दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों का जो प्रतिपादन किया जाता है उसका नाम अनेकान्त है । वह अनेकान्त यह बताता है कि "ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है शुद्धात्मा है वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सदसदात्मक किंवा नित्यानित्यादि स्वभावात्मक है ।" इसका स्पष्टीकरण यह है कि आत्मा ज्ञानरूप से तद्रूप है, तो ज्ञेयरूप से वही अतद्रूप भी है । द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिक नय से वही अनेक भी है । अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय के द्वारा जो सद्रूप है वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय के द्वारा असद्रूप भी है ।

मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः। इति निरन्तरं भावना कर्तव्या। इति स्याद्वादोऽधिकारः। अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता। वाक्यानि च भिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं। तेन कारणेन लिङ्गवचन-क्रिया-कारक-सन्धि-समास-विशेष्यविशेषण-वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः। शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति। जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो। बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥१॥ जं संल्लीणा जीवा तरंति संसार-सायरमणंतं। तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥२॥ यश्चाभ्यस्यति संशृणोति पठति प्रख्यापय-त्यादरात्। तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं। शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलज्ञानात्मकं केवलं संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते ॥३॥

इतिश्रीकुन्दकुन्ददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीजयसेनाचार्य-कृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकागाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता।

आदि और भी जो विभाव परिणाम हैं इन सबसे मैं रहित हूँ। मैं तो शुद्धनिश्चयनय के द्वारा तीनों लोकों में और तीनों कालों में मन-वचन-काय के द्वारा और कृत-कारित और अनुमोदना के द्वारा पूर्वोक्त विभाव परिणामों से सर्वथा शून्य हूँ वैसे ही निश्चयनय से और भी सब जीव हैं। यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

यहाँ इस ग्रन्थ में लोगों को सरलता से ज्ञान प्राप्त हो जाये इसलिये प्रायः पदों की सन्धि नहीं की गई है और वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे गये हैं, इसलिए विवेकियों को यहां पर लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य-विशेषण और वाक्य परिसमाप्ति आदि विषय की कहीं कमी दीख पड़े तो ध्यान नहीं देना चाहिये, तथा शुद्ध आत्मादि तत्त्वों के प्रतिपादन के विषय में अज्ञान के कारण से कहीं कोई भूल रह गई हो तो क्षमा कर देने योग्य है।

[अब टीकाकार अन्तिम मंगलाचरण करते हैं] जिन महर्षि पद्मनन्दी ने अपने बुद्धिरूपी सिर से महातत्त्वपाहुड अर्थात् समयसार पाहुड रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवों के लिये अर्पण कर दिया वे पद्मनन्दी महर्षि जयवंत रहो ॥१॥ जिसका आश्रय लेकर भव्य लोग अनंत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह सब जीवों के लिये शरणभूत हो रहने वाला जिनशासन चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥२॥ [यहां वृत्तिकार आशीर्वाद सूचक मंगलाचरण करते हैं] आत्मरस के रसिकों के द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम का प्राभृत शास्त्र है इसको जो कोई आदर-पूर्वक सुनेगा, अभ्यास करेगा और इसे फैलावेगा वह जीव सदा रहने वाला अद्भुत सकलज्ञान-स्वरूप समर्थ केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे सदा के लिये मुक्तिरूपी स्त्री में आसक्त हो रहेगा।

इस प्रकार **श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा** रचे गये समयसारप्राभृत नाम के ग्रन्थ की **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई चारसौ उनतालीस गाथाओं द्वारा दश अधिकार वाली इस **तात्पर्यवृत्ति** टीका का हिन्दी अर्थ **श्री १०८ श्री आचार्य ज्ञानमूर्त्ति चारित्रभूषण ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा समाप्त हुआ।**

आचार्य श्री की ओर से लाघव प्रदर्शन–

अक्षरमात्रपदादिहीनम् यदिहोदितमस्त्यपराचीनम्।
क्षन्तव्यं साधुभिरक्षुद्रे को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥

है ! कुन्द - कुन्द गुरु कुन्दनरूपधारी,
स्वीकार हो कृति तुम्हें कृति है तुम्हारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तजदूँ अविद्या ।।

कालोवि णत्थि णाणं	४२४	४००	३५६
केहिचिदु पज्जयेहिं	३५१	३४५	३१४
केहिचिदु पज्जयेहिं	३५२	३४६	३१४
को णाम भणिज्ज बुहो	२१७	२०७	२११
को णाम भणिज्ज बुहो	३२३	३००	२८६
कोधादिसु वट्टंतस्स	७५	७०	७१
कोविदिदच्छो साहू	१६८	०	१६०
कोहुवजुत्तो कोहो	१३०	१२५	१२५

ग

गंधो णाणं ण हवदि	४१८	३६४	३५८
गुणसण्णिदा दु एदे	११६	११२	११६

च

चहुविह अणेयभेयं	१७७	१७०	१७१
चारित्त पडिणिबद्धं	१७०	१६३	१६३
चेदा दु पयडियट्ठं	३३४	३१४	२६६

छ

छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२१८	२०६	२१२
छिदादि भिदादि य	२५३	२३८	२३८
छिदादि भिदादि य	२५८	२४३	२४०

ज

जइया इमेण जीवेण	७६	७१	७२
जइया स एव संखो	२३६	२२२	२२४
जदा विमुंचदे चेदा	३३७	३१५	२६७
जदि जीवो ण सरीरं	३१	२६	३३
जदि णवि कुव्वदि छेदं	३०६	२८६	२७७
जदि पुग्गलकम्ममिणं	६१	८५	६०
जदि सो परदव्वाणि य	१०६	६६	१०६
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो	३०	२५	३१
जदि संसारत्थाणं	६८	६३	६४
जह कणयमग्गितवियं	१६१	१८४	१८५
जह कोवि णरो जंपदि	३४८	३२५	३१०
जह चेट्ठं कुव्वंतो	३८६	३५५	३३४
जह जीवस्स अणणुवओगो	१२०	११३	११६
जह णवि सक्कमणज्जो	८	८	१०
जह णाम कोवि पुरिसो	२०	१७	२४
जह णाम कोवि पुरिसो	४०	३५	४१
जह णाम कोवि पुरिसो	१५५	१४८	१५२
जह णाम कोवि पुरिसो	२५२	२३७	२३८
जह णाम कोवि पुरिसो	३०८	२८८	२७७
जह परदव्वं सेटदि हु	३६२	३६१	३३८
जह परदव्वं सेटदि हु	३६३	३६२	३३८
जह परदव्वं सेटदि हु	३६४	३६३	३३८
जह परदव्वं सेटदि हु	३६५	३६४	३३८
जह पुण सो चेव णरो	२४१	२२६	२२६
जह पुण सो चेव णरो	२५७	२४२	२४०
जह पुरिसेणाहारो	१८६	१७६	१८१
जह फलिहमणिविसुद्धो	३००	२७८	२७०
जह बंधे चिंतंतो	३११	२६१	२७६
जह बंधे छित्तूणय	३१२	२६२	२७६
जह बंधे भित्तूणय	३१३	०	२७६
जह बंधे मुत्तूणय	३१४	०	२८०
जह मज्जं पिवमाणो	२०५	१६६	१६६
जह राया ववहारा	११५	१०८	११४
जह विसमुवभुज्जंता	२०४	१६५	१६६
जह सिप्पिओ दु कम्मं	३८०	३४६	३३३
जह सिप्पिओ दु करणेहिं	३८१	३५०	३३३
जह सिप्पिओ करणाणि	३८२	३५१	३३३
जह सिप्पिओ दु कम्मफल	३८३	३५२	३३३
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं	३८५	३५४	३३४
जह सेटिया दु ण परस्स	३८७	३५६	३३७
जह सेटिया दु ण परस्स	३८८	३५७	३३७
जह सेटिया दु ण परस्स	३८६	३५८	३३७
जह सेटिया दु ण परस्स	३६०	३५६	३३७
जह संखो पोग्गलदो	२३७	०	२२४
जह्मा कम्मं कुव्वदि	३६३	३३५	३२२
जह्मा घादेदि परं	३६६	३३८	३२२
जह्मा जाणदि णिच्चं	४२७	४०३	३५६
जह्मा दु अत्तभावं	६२	८६	६०
जह्मा दु जहण्णादो	१७८	१७१	१७२
जा एसा पयडीयट्ठं	३३६	३१४	२६७
जाव ण पच्चक्खाणं	३०७	२८५	२७४
जाव ण वेदं विसेसंतरं	७४	६६	७१
जा संकप्पवियप्पो	२८८	०	२६०
जिदमोहस्स दु जइया	३८	३३	३८

जीवणिबद्धा एदे	७९	७४	७५
जीवपरिणामहेदुं	८६	८०	८५
जीवस्स जीवरूवं	३७१	३४३	३२३
जीवस्स जे गुणा केई	३७७	३७०	३२९
जीवस्स णत्थि वण्णो	५५	५०	५५
जीवस्स णत्थि रागो	५६	५१	५५
जीवस्स णत्थि वग्गो	५७	५२	५५
जीवस्स णत्थि केई	५८	५३	५५
जीवस्स दु कम्मेण य	१४५	१३७	१४०
जीवस्साजीवस्स य	३३१	३०९	२९४
जीवह्मि हेदुभूदे	११२	१०५	११२
जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं	१६२	१५५	१५८
जीवे कम्मं बद्धं	१४८	१४१	१४३
जीवे ण सयं बद्धं	१२३	११६	१२२
जीवेव अजीवे वा	२३	०	२७
जीवो कम्मं उहयं	४७	४२	४७
जीवो चरित्तदंसण	२	२	४
जीवो चेव हि एदे	६७	६२	६३
जीवो ण करेदि घडं	१०७	१००	१०६
जीवो परिणामयदे	१२५	११८	१२२
जीवो बंधो य तहा	३१६	२९४	२८२
जीवो बंधो य तहा	३१७	२९५	२८२
जे पुग्गलदव्वाणं	१०८	१०१	१०८
जो अप्पणा दु मण्णदि	२६५	२५३	२४५
जो आदभावणमिणं	१२	०	१३
जो इंदिए जिणित्ता	३६	३१	३६
जो कुणदि वच्छलत्तं	२५०	२३५	२३४
जो चत्तारिवि पाए	२४४	२२९	२३०
जो चेव कुणदि सो चेव	३५३	३४७	३१४
जो जह्मि गुणो दव्वे	११०	१०३	११०
जो धम्मं तु मुइत्ता	१३३	०	१३१
जोधेहिं कदे जुद्धे	११३	१०६	११३
जो ण करेदि दु कंखं	२४५	२३०	२३१
जो ण करेदि दु दुगुंछं	२४६	२३१	२३१
जो ण कुणदि अवराहे	३२५	३०२	२८७
जो ण मरदि ण य दुहिदो	२७०	२५८	२४८
जो पस्सदि अप्पाणं	१६	१४	२०
जो पस्सदि अप्पाणं	१७	१५	२१
जो पुण णिरवराहो	३३९	३०५	२९९
जो मण्णदि हिंसामिय	२६२	२४७	२४२
जो मरदि जो य दुहिदो	२६९	२५७	२४८
जो मोहं तु जिणित्ता	३७	३२	३७
जो मोहं तु मुइत्ता	१३२	०	१३०
जो वेदादि वेदिज्जदि	२१३	२१६	२०७
जो समयपाहुडमिणं	४३९	४१५	३७५
जो सव्वसंगमुक्को	१९५	१८८	१८८
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२४८	२३३	२३२
जो सुदणाणं सव्वं	१०	१०	११
जो सो दु णेहभावो	२५५	२४०	२३८
जो सो दु णेहभावो	२६०	२४५	२४०
जो संगं तु मुइत्ता	१३१	०	१३०
जो हवदि असंमूढो	२४७	२३२	२३२
जो हि सुदेणहिगच्छदि	९	९	११
जं कुणदि भावमादा	२४	०	२८
जं कुणदि भावमादा	९८	९१	९६
जं कुणदि भावमादा	१३४	१२६	१३२
जं भावं सुहमसुहं	१०९	१०२	१०९
जं सुहमसुहमुदिण्णं	३९९	३९५	३४३

झ

झाणं हवेइ अग्गी	२३३	०	२२३

ण

ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३३२	३१०	२९४
णत्थि मम कोवि मोहो	४१	३६	४२
णत्थि दु आसवबंधो	१७३	१६६	१६७
णत्थि मम धम्म आदी	४२	३७	४३
ण मुयदि पयडिमभव्वो	३४०	३१७	२९९
णयरम्मि वण्णिदे जह	३५	३०	३६
ण य होदि मोक्खमग्गो	४३३	४०९	३६६
ण रसो दु होदि णाणं	४१९	३९५	३५८
ण वि एस मोक्खमग्गो	४३४	४१०	३६७
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे	८७	८१	८५
ण वि कुव्वदि ण वि वेदादि	३४२	३१९	३०१
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	८२	७६	८०
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	८३	७७	८१

सद्दहदि य पत्तेदि य	२९३	२७५	२६५
सद्दो णाणं ण हवदि	४१५	३९१	३५७
सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६८	१६१	१६३
सम्मत्ता जदि पयडी	३५६	०	३१७
सम्मद्दंसणणाणं	१५१	१४४	१४६
सम्मादिट्ठी जीवा	२४३	२२८	२२८
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२६	२४	३१
सव्वे करेदि जीवो	२८५	२६८	२५७
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१८०	१७३	१७४
सामण्णपच्चया खलु	११६	१०९	११६
सुदपरिचिदाणुभूदा	४	४	६
सुद्धो सुद्धादेसो	१४	१२	१५
सुद्धं तु वियाणंतो	१९३	१८६	१८७
सेवंतो वि ण सेवदि	२०६	१९७	२००
सोवण्णियं पि णियलं	१५३	१४६	१५०
सो सव्वणाणदरिसी	१६७	१६०	१६२
संताबि विरुवभोज्जा	१८१	१७४	१७५
संसिद्धिराधसिद्धी	३२७	३०४	२८८

ह

हेदु अभावे णियमा	२००	१९१	१९२
हेदू चदुवियप्पो	१८५	१७८	१७७
होदूण णिरुवभोज्जा	१८२	१७५	१७५

टिप्पणस्था-गाथा:

अहं सयमेव हि परिणमदि		११९	१२२
आउक्खयेण मरणं		२४९	२४३
आऊदयेण जीवदि		२५२	२४३
जइ जीवेण सहच्चिय		१३९	१४०
जो मण्णदि जीवेमिय		२५०	२४३
जो पुण णिरवराधो		३०५	२८९
णियमा कम्मपरिणदं		१००	१२२

उद्धरणावली

अक्खामक्खणिमित्तं	मूलाचार ८१७		२१८
अत्र स्याद्वाद	समयसारकलश २४७		३७९
अनन्तगुणिनं	ज्ञानार्णव २२११		३७७
अनेकान्तोप्यनेकान्त	स्वयंभूस्तोत्र १८/१०३		३८०
अप्पडिकमणं			२८९
आत्मोपादानसिद्धं	सिद्धभक्ति ७		३७५
आद्या सम्यक्त्वचारित्रे			१७९
इत्यतिदुर्लभरूपां			२३६
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	समयसारकलश ७०		१४४
कंखदि कलुसिदभूदो	मूलाचार ८१		२०९
गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा	गो. जी. ५३		६७
जइ जिणमइं पवज्जइ	अन. धर्मा. उ. १/१८		२३५
जय रिसि य पउमणंदी			३८२
जं संलीणा जीवा			३८२
ण बलाउसाहणट्ठं	मूलाचार ४८१		२१८
ण व कोडिकम्मसुद्धो			२६९
ण वि उप्पज्जइ ण वि[मरइ	परमात्मप्रकाश ६८		३०४
देसकुलजाइसुद्धा	आचार्यभक्ति १		३३
दौर्विध्यदग्धमनसो			२०९
द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ	लघुचैत्यभक्ति		३३
धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं			३८०
निष्क्रियः शुद्धपारिणामिक	पञ्चास्तिकाय		३०४
पडिकमणं पडिसरणं			२८९
पण णवदुअट्ठवीसा			३५६
पुग्गलपिण्डो दव्वं	गो. क. ६		१९२
बादरसुहुमेइंदिय	गो. जी. ७२		५८
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	समयसारकलश २३१		३६३
मोक्षं कुर्वन्ति	पञ्चास्तिकाय		३७४
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	समयसारकलश ६९		१४४
यद्देव मनुजा	ज्ञानार्णव २२०९		३७६
यश्चाभ्यस्यति			३८२
वधबन्धच्छेदादेः	रत्न. श्रा. ७८		२०८
वर्गः शक्तिसमूहो	पं. सं. १/४५		५७
विवक्षितो मुख्यः	स्वयंभूस्तोत्र ११/३		६८
सदेकनित्यवक्तव्या	,, १८/१६		३८०
संकल्पकल्पतरु			२०९
संखातीदवसप्पिणि			३१२
संवेगो णिव्वेओ	वसु. श्रा. ४९		१७८
समयाख्यानकाले			१४५
साहरणासाहरणे	मूलाचार ३१९		३७३
सर्वथा नियमत्यागो	स्वयंभूस्तोत्र १८/१७		३८०
सर्वेणातीतकालेण	ज्ञानार्णव २२९०		३७६

सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया	द्रव्यसंग्रह १०	११८	इदमेवात्र	समयसारकलश	१२२	१८२
सिद्धान्ते द्वादशाङ्गवगमः		१७६	जानाति यः स न करोति	,,	१६७	२४२
सोलसपणवीसणभं	गो. क. ९४	१६८	प्रच्युत्य शुद्धनयतः	,	१२१	१८०
हेयोपादेयतत्त्वे तु		१४५	वेद्यत्वं वेदकत्वं च	,,	१६१	२२२
			वेदवेदकविभावचलत्वात्	,,	१४७	२०८
			सग्रन्थारम्भहिंसानां	रत्न. श्रा.	२४	३६७
			सुविदिदपयत्थसुत्तो	प्रवचनसार	१४	१३६
			ज्ञानस्य संचेतनस्यैव	समयसार कलश	२२४	३४५
			ज्ञानी करोति न	,,	१९८	३०१

हिन्दी में उद्धृत पद

अज्जवितिरयणसुद्धो	मो. पा. ७७	२६३				
अध्यास्य शुद्धनय	समयसारकलश	१२०	१८०			